DHRAM DOOT 1954 G.K.V.

धर्म दूत

१९५४

धर्मदूत
महा बोधि सभा सारनाथ
का
मुख पत्र

विषय-सूची

चरथ भिक्खवे चारिकं बहुजनहिताय बहुजनसुखाय लोकानुकम्पाय अत्थाय हिताय सुखाय देवमनुस्सानं। देसेथ भिक्खवे धम्मं आदिकल्याणं मज्झे कल्याणं परियोसानकल्याणं सात्थं सब्यञ्जनं केवलपरिपुण्णं परिसुद्धं ब्रह्मचरियं पकासेथ। महावग्ग, (विनय-पिटक)

'भिक्षुओ! बहुजन के हित के लिये, बहुजन के सुख के लिए, लोक पर दया करने के लिये, देवताओं और मनुष्यों के प्रयोजन के लिये, हित के लिये, सुख के लिये विचरण करो। भिक्षुओ! आरम्भ, मध्य और अन्त—सभी अवस्था में कल्याणकारक धर्म का उसके शब्दों और भावों सहित उपदेश करके, सर्वांश में परिपूर्ण परिशुद्ध ब्रह्मचर्य का प्रकाश करो।'

सम्पादकः—त्रिपिटकाचार्य भिक्षु धर्मरक्षित

वर्ष १८ | सारनाथ, जनवरी | बु० सं० २४९७ / ई० सं० १९५४ | अङ्क ९

बुद्ध-वचनामृत

'ऊपरी रूप-रंग से जानना कठिन है'

"सन्ध्या समय ध्यान से उठ भगवान् बाहर निकल कर बैठे थे। तब कोशलराज प्रसेनजित् जहाँ भगवान् थे वहाँ आया और भगवान् का अभिवादन कर एक ओर बैठ गया। उस समय सात जटिल, सात निगण्ठ, सात नागे, सात एकशाटिक और सात परिव्राजक काँख के रोयें और नाखून बढ़ाये अपने विविध प्रकार के सामान लिये भगवान् के पास से ही गुजर रहे थे। तब प्रसेनजित् ने आसन से उठ एक कन्धे पर उपरनी को सम्हाल...हाथ जोड़कर तीन बार अपना नाम सुनाया 'भन्ते! राजा प्रसेनजित् हूँ'। और भगवान् से कहा—'भन्ते! लोक में जो अर्हत् हैं या अर्हत् मार्ग पर आरूढ़, उनमें ये एक हैं'। 'महाराज! आपने जो गृहस्थ, काम-भोगी, बाल-बच्चों में रहनेवाले, काशी के चन्दन को लगानेवाले, माला-गन्ध और उबटन का इस्तेमाल करनेवाले, रुपये-पैसे बटोरनेवाले हैं—यह गलत समझ लिया कि ये अर्हत् हैं। महाराज! साथ रहने से ही किसी का शील जाना जा सकता है, सो भी बहुत काल तक रह, ऐसे नहीं; सो भी सदा ध्यान में रखने से, ऐसे नहीं; सो भी प्रज्ञावान् पुरुष ही अप्रज्ञावान् से नहीं।' 'भन्ते! आश्चर्य है! अद्भुत है!! भगवान् ने ठीक बताया। भन्ते! ये मेरे चर हैं, भेदिया हैं, किसी जगह का भेद लेकर आते हैं। भन्ते! अब ये उस भस्म भभूत को धो, स्नान कर, उबटन लगा, बाल बनवा, उजले वस्त्र पहन पाँच कामगुणों का भोग करेंगे।' भगवान् ने कहा—'ऊपरी रंग-रूप से मनुष्य नहीं जाना जाता, केवल देखकर ही किसी में विश्वास मत करे। बड़े संयम का भड़क दिखाकर दुष्ट लोग भी विचरण किया करते हैं। नकली मिट्टी के बने भड़कदार कुण्डल के समान या लोहे के बने और सोने के पानी चढ़ाये के समान कितने वेष बनाकर विचरण करते हैं, जो भीतर से मैले होते, किन्तु बाहर से चमकते हैं।' —संयुक्त निकाय ३. २. १

भगवान् बुद्ध की मानवता

श्री भरतसिंह उपाध्याय

भगवान् बुद्ध देव और मनुष्यों के शास्ता थे, देवातिदेव थे। परन्तु सबसे पहले वे मनुष्य थे। मनुष्य बढ़कर देवता बनता है—यह प्राचीन मान्यता थी। आज भी हम मनुष्यत्व के ऊपर देवत्व की बात कहते हैं। परन्तु तथागत ने इस क्रम को उलट दिया। उन्होंने कहा, "यह जो मानुषत्व है वही देवताओं का सुगति प्राप्त करना कहलाता है।" "मनुस्सत्तं खो भिक्खवे देवानं सुगतिगमनसंखातं।" देवता जब सुगति प्राप्त करता है तब वह मनुष्य बनता है। देवताओं में विलास है। राग, द्वेष, ईर्ष्या और मोह भी वहाँ है। निर्वाण की साधना वहाँ नहीं हो सकती। इसके लिए देवताओं को मनुष्य बनना पड़ता है। मनुष्यों में ही बुद्ध-पुरुष का आविर्भाव होता है, जिसको देवता नमस्कार करते हैं। अतः मनुष्य-धर्म देवता-धर्म से उच्चतर है, जैसे कि विराग भोग से महत्तर है।

मानवता-धर्म का उपदेश देने वाले भगवान् तथागत स्वयं मानवता के मूर्तिमान रूप थे। यहाँ हम उनके जीवन से संबंधित कुछ प्रसंगों और घटनाओं का उल्लेख करेंगे ताकि उनके व्यक्तित्व में पैठी हुई गहरी मानवता के कुछ दर्शन हम कर सकें जो हमारे लिए कल्याणकारी हो।

भगवान् का परिनिर्वाण होनेवाला है। रात का पिछला पहर है। भिक्षु भगवान् की शय्या को घेरे हुए बैठे हैं। भिक्षु-संघ को भगवान् अन्तिम उपदेश दे रहे हैं। शास्ता कह रहे हैं, "भिक्षुओ! बुद्ध, धर्म और संघ के सम्बन्ध में यदि किसी भिक्षु को कुछ शंका हो तो पूछ लो। पीछे अफसोस मत करना—शास्ता हमारे सम्मुख थे, किन्तु हम भगवान् से कुछ पूछ न सके।" कोई शिष्य नहीं बोलता, सब मौन हैं। तीन बार भगवान् कहते हैं, किन्तु कोई भिक्षु पूछने को नहीं उठता। भगवान् को शंका हो जाती है कि कहीं शास्ता के गौरव का विचार कर तो शिष्य पूछने में संकोच नहीं कर रहे। अतः कारुणिक शास्ता फिर कहते हैं, "शायद भिक्षुओ! तुम शास्ता के गौरव के कारण नहीं पूछ रहे। तो भिक्षुओ! जैसे (सहायक) मित्र से पूछता है वैसे तुम मुझसे पूछो।" "सहायकोपि भिक्खवे सहायकस्स आरोचेतू ति※।" शास्ता शिष्यों की समान भूमि पर आ जाते हैं। उन्हें चिन्ता है कि उनका विशाल लोकोत्तर व्यक्तित्व शिष्यों के कल्याण में बाधक न बने। अतः वे उनके सखा बनते हैं ताकि शिष्य निःसंकोच भाव से उनसे पूछ सकें। धर्म-स्वामी की यह विनम्रता मनुष्य-धर्म की आधार-भूमि है। भगवान् बुद्ध ने अपने को भिक्षुओं का 'कल्याण-मित्र' (आध्यात्मिक मित्र) कहा है जो उनकी मानवीय सहृदयता और विनम्रता को सूचित करता है। वे अपने शिष्यों के शास्ता हैं और उससे बढ़कर वे उनके मित्र या 'कल्याण-मित्र' हैं।

एक दूसरा दृश्य भी भगवान् के परिनिर्वाण के समय का है। चुन्द कर्मार-पुत्र (सोनार) के यहाँ भगवान् ने अन्तिम भोजन किया था। उसके बाद ही भगवान् को खून गिरने की कड़ी बीमारी उत्पन्न हो गई थी, जो उनके शरीरान्त का कारण बनी। तथागत को चुन्द कर्मारपुत्र के हृदय का बड़ा ख्याल था। भक्त उपासक को यह अफसोस हो सकता था कि उसका भोजन करके ही भगवान् परिनिर्वाण को प्राप्त हुए। इसलिये शरीर छोड़ने से पूर्व भगवान् आनन्द को आदेश देते हैं, "आनन्द! चुन्द कर्मारपुत्र की इस चिन्ता को तू दूर करना और कहना, आयुष्मान्! लाभ है तुझे, तूने बड़ा लाभ कमाया कि तेरे भोजन को कर तथागत परिनिर्वाण को प्राप्त हुए। आनन्द! चुन्द कर्मार-पुत्र की चिन्ता को तू दूर करना।" जिसके हृदय में अगाध करुणा का अधिवास था, वह ऐसा क्यों न कहता?

कितना क्रियाशील था तथागत का जीवन! जिस रात को उनका परिनिर्वाण हुआ और जब कि वे रुग्ण और क्लान्त शय्या पर पड़े हुए थे, उन्होंने रात के पहले पहर में कुसीनारा (कुशीनगर) के मल्लों को

※ इसका अर्थ है—'भिक्षुओ! सहायक भी सहायक से कहे।' —सम्पादक

उपदेश दिया, बीच के पहर में सुभद्र को और पिछले पहर में भिक्षु-संघ को उपदेश देकर बहुत प्रातः ही महापरिनिर्वाण में प्रवेश किया। यह सुभद्र कौन था, जिसे मध्य रात्रि में उपदेश देने के लिए भगवान् ने उस अवस्था में समय निकाल लिया? सुभद्र एक परिव्राजक था जो अपनी शंकाओं को लिए हुए उस विषम घड़ी में भगवान् गौतम बुद्ध से मिलने आ निकला। आनन्द ने उसे यह कहकर ठीक ही रोक दिया, "सुभद्र तथागत को तकलीफ मत दो। भगवान् थके हुए हैं।" भगवान् ने आनन्द की बात सुन ली। उन्होंने आनन्द से कहा, "नहीं आनन्द! सुभद्र को मत मना करो। सुभद्र को तथागत का दर्शन पाने दो। वह परम ज्ञान की इच्छा से पूछना चाहता है, तकलीफ देने की उसकी इच्छा नहीं है। पूछने पर जो मैं उससे कहूँगा, उसे वह जल्दी ही जान लेगा।" मध्य रात्रि में उस अवस्था में, सुभद्र को भी तथागत से उपदेश सुनने का सौभाग्य मिला। अधिकारी शिष्य को उपदेश करने के लिए तथागत के पास कोई असमय न था।

वह एक बड़ी दुखियारी स्त्री थी। पति, पुत्र, परिवार सब उसका नष्ट हो गया था। शोकातिरेक में वह पागल हुई फिरती थी। कपड़े पहनने का होश उसे कहाँ था? वह नंगी ही फिरती थी। नाम उसका पटाचारा था। एक दिन घूमती हुई जेतवन आराम में ही आ निकली, जहाँ भगवान् ठहरे हुए थे। सीधी विहार की ओर आती हुई उस नग्न उन्मत्त स्त्री को देख पुरुषों ने कहा, "यह पागल है, इसे इधर मत आने दो।" परन्तु भगवान् ने उन्हें रोकते हुए कहा, "इसे मत रोको।" जैसे ही स्त्री समीप आई भगवान् ने कहा, "भगिनि! स्मृति लाभ कर।" स्त्री को कुछ होश आया, लोगों ने उस पर कपड़े डाल दिये जिन्हें उसने ओढ़ लिया। स्त्री फूट-फूट कर रोने लगी। भगवान् ने कहा, "पटाचारे! चिन्ता मत कर। शरण देने में समर्थ व्यक्ति के पास ही तू आ गई है।"
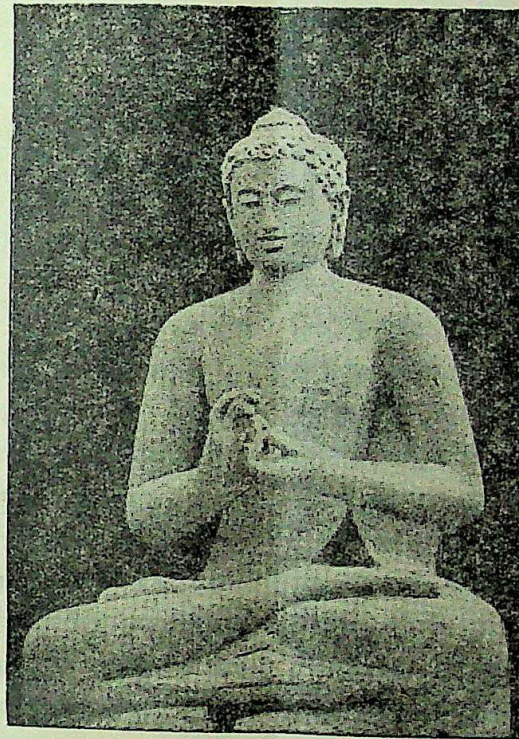
तक्षशिला से प्राप्त गान्धार शैली की बुद्धमूर्ति

भगवान् ने अपने उपदेशामृत से उसके शोक को दूर किया और वह एक प्रमुख साधिका हुई। करुणा, विशेषतः स्त्री जाति के प्रति करुणा, जिसके जीवन को भगवान् पुरुष के जीवन से अधिक दुःखमय मानते थे, तथागत के स्वभाव की एक प्रमुख विशेषता थी।

तथागत ने अपने व्यक्तित्व को धर्मके रूप में खो दिया था। यदि प्रसेनजित् तथागत के प्रति अपूर्व सत्कार प्रदर्शित करता था, यदि अनेक देश और विदेश के लोग तथागत की पूजा करते थे तो इसका कारण स्वयं भगवान् बुद्ध की मान्यता के अनुसार धर्म ही था। तथागत उत्पन्न हों या न हों, धर्म-नियामता फिर भी रहती है, ऐसा उनका कहना था। इसलिए अपने बाद धर्म की शरण में ही उन्होंने भिक्षु-संघ को छोड़ा था। परिनिर्वाण प्राप्त करते समय उन्होंने भावनापूर्ण शब्दों में आनन्द से कहा था "आनन्द! शायद तुमको ऐसा हो कि हमारे शास्ता तो चले गये। अब हमारे शास्ता नहीं हैं। आनन्द! ऐसा मत समझना। मैंने जो धर्म और उपदेश किये हैं वही मेरे बाद तुम्हारे शास्ता होंगे।" भगवान् नहीं चाहते थे कि उनके शिष्य उनसे चिपटे रहें। उनको 'आत्मद्वीप', 'आत्मशरण' बनने का उपदेश था। इसलिए जब आनन्द ने भगवान् के परिनिर्वाण के समय उनसे पूछा कि 'तथागत के शरीर के प्रति हम क्या करेंगे' तो उन्होंने यही उत्तर दिया, 'आनन्द! तथागत की शरीर पूजा से तुम बेपर्वाह रहो।' 'अब्यावटा तुम्हे आनन्द होथ तथागतस्स सरीरपूजाय'। तथागत अपनी शरीर-पूजा नहीं चाहते। वे चाहते हैं कि हम सच्चे अर्थ में लगें। तथागत ने अपने व्यक्तित्व को धर्म में खो दिया। यह उनकी अनासक्ति थी। परन्तु जब उन्होंने धर्म को बेड़े के समान तरने के लिए, न कि पकड़ रखने के लिए बतलाया तब तो उन्होंने धर्म से भी आसक्ति छोड़ देने का उपदेश दिया। संघ धर्म की शरण में छोड़ा गया और धर्म से बुद्ध एकाकार किये गये। बाद में प्रयोजन पूरा हो जाने के बाद धर्म को भी छोड़ देने का आदेश देकर भगवान् ने उस अनासक्ति योग का उपदेश दिया है जो इस लोक की सीमा के पार ही देखा जा सकता है।

महापुरुषों के जीवन-काल में ही उनके दैवीकरण की प्रवृत्ति प्रायः दिखाई पड़ने लगती है। भगवान् इसके प्रति बड़े सचेत थे। वे नहीं चाहते थे कि लोकोत्तर दैवी पुरुष की तरह उनकी पूजा हो या गुरुवाद उनके धर्म में फैले। इसलिए जब एक बार उनके महाप्रज्ञ शिष्य धर्मसेनापति ने उनसे कहा, "भन्ते! मेरा ऐसा विश्वास है कि संबोधि में भगवान् से बढ़कर कोई दूसरा श्रमण या ब्राह्मण न हुआ, न होगा, न इस समय है।" तो भगवान् ने उल्टे हाथ लेते हुए सारिपुत्र से कहा, "सारिपुत्र! तूने बहुत उदार वाणी कही। बिलकुल सिंहनाद ही किया। सारिपुत्र! अतीतकाल में जो सब ज्ञानी पुरुष हुए हैं क्या तूने उन सबको अपने चित्त से जान लिया है?" धीमे स्वर में सारिपुत्र ने उत्तर दिया, "नहीं भन्ते।" इसी प्रकार वर्तमान और भविष्य के ज्ञानियों के सम्बन्ध में पूछे जाने पर भी सारिपुत्र को 'नहीं भन्ते' कहना पड़ा। "तो सारिपुत्र जब तेरा अतीत, वर्तमान और भविष्य के ज्ञानियों के सम्बन्ध में ज्ञान नहीं है, तो तूने यह उदार वाणी क्यों कही?"

तथागत अपनी शरीर-पूजा नहीं चाहते थे। वे नहीं चाहते थे कि इष्टदेव की तरह लोग उनकी पूजा करें। इसके सम्बन्ध में एक महत्त्वपूर्ण प्रसंग और है। वक्कलि नामक उनका एक अनुरक्त भिक्षु-शिष्य था। एक बार वक्कलि बीमार पड़ा। उसने अपने एक साथी भिक्षु द्वारा इच्छा प्रकट की कि वह भगवान् के दर्शन करना चाहता है। भगवान् उसकी इच्छा को पूरी करने के लिये उसके पास गये। दूर से ही भगवान् को आता देखकर वक्कलि उनके सम्मानार्थ एवं उनके लिए आसन देने के लिए चारपाई पर इधर-उधर होने लगा। भगवान् ने करुणापूर्वक उसे रोकते हुए कहा कि अलग आसन तैयार है, उसे हिलने-डुलने की आवश्यकता नहीं है। भगवान् बिछे आसन पर बैठ गये। वक्कलि ने भगवान् की वन्दना करते हुए उनसे निवेदन किया कि उसे उनके दर्शन की बड़ी इच्छा थी जिसे कृपापूर्वक उन्होंने पूरा कर दिया है। भगवान् ने कोमल शब्दों में वक्कलि से कहा, 'शान्त वक्कलि! जैसी तेरी गन्दी काया है वैसी ही मेरी काया है। वक्कलि! इस गन्दी काया को देखने से क्या लाभ? वक्कलि! जो धर्म को देखता है वह मुझे देखता है, जो मुझे देखता है वह धर्म

को देखता है।" भगवान् बुद्ध का अपने शरीर के संबंध में अपने शिष्य से यह कहना कि 'इस गन्दी काया के देखने से क्या लाभ ?' (किंमिना पूतिकायेन दिट्ठेन), एक ऐसी साहसिक वाणी है, जिसे कोई धर्मशास्ता गुरु शिष्य या शिष्यों से आज तक नहीं कह सका है। रूप की आसक्ति तथागत की बिलकुल नष्ट हो गई थी। और उसे दूर किये बिना कोई बुद्ध-शिष्य नहीं बन सकता।

भगवान् बुद्ध श्रमण थे, परन्तु गृहस्थों के प्रति सहानुभूति से रहित नहीं थे। कोलिय-दुहिता सुप्रवासा ने, जो गर्भ की असह्य वेदना से पीड़ित थी, जब अपने पति के द्वारा भगवान् के चरणों में अपना प्रणाम् अर्पित करवाया था, तो भगवान् ने उसे आशीर्वाद देते हुए कहा था, "कोलिय-पुत्री सुप्रवासा सुखी हो जाय, चंगी हो जाय। सुखी और चंगी होकर वह बिना किसी कष्ट के पुत्र प्रसव करे।" इसी प्रकार ब्राह्मणों के साथ भी जैसे कि विश्व के सब प्राणियों के साथ भी, भगवान् की पूरी सहानुभूति थी। बावरि ब्राह्मण के शिष्य ने जब अपने गुरु की ओर से भगवान् के चरणों में प्रणाम् अर्पित किया तो भगवान् ने आशीर्वाद देते हुए कहा—"शिष्य सहित बावरि ब्राह्मण सुखी हो। माणवक! तुम भी सुखी हो, चिरंजीवी हो।" इन आशीर्वचनों में झाँकती हुई तथागत की करुणा के मानवीय स्वरूप को हम स्पष्टतः देख सकते हैं।

तथागत स्वागतवादी थे। छोटा हो या बड़ा, सबसे उनका कहना होता था 'एहि सागत'। आओ स्वागत। उनकी वाणी में लोकोत्तर श्लक्ष्णता थी। क्रोधपूर्ण शब्द कभी उनके मुख से नहीं निकला था। संकल्प उनके वश में थे। वे मनुष्य थे, परन्तु मनुष्य की दुर्बलताओं और असंगतियों से ऊपर उठ चुके थे। इसीलिए वे पूर्ण पुरुष थे। न हम उन्हें अन्ततः 'मनुष्य' कह सकते हैं (क्योंकि मनुष्य में स्वाभाविक दुर्बलताओं का रहना अनिवार्य है, जो तथागत में नष्ट हो चुकी थीं) और न देवता। बुद्ध केवल बुद्ध हैं, जिनके जीवन और व्यक्तित्व में मानवता की शुभ्र ज्योत्स्ना, धर्म की स्थिति बन कर चमकी है।

अशुभ-भावना

श्री लालजीराम शुक्ल

मनुष्य के मन में अनेक प्रकार के विचार ऐसे आते रहते हैं जिनसे अपने आपकी और दूसरों की क्षति होती है। जब तक मनुष्य इस प्रकार के विचारों की बुराई को नहीं समझता तब तक उनसे मुक्त होना संभव नहीं। बहुत से लोग अपने शत्रुओं को ही अपना मित्र समझते रहते हैं, वे उन्हीं के साथ रमण करते और बार बार कष्ट पाने पर भी अनेक वास्तविक रूप को नहीं पहचान पाते। हमारे बुरे विचार ही हमारे शत्रु हैं। ये भौतिक शत्रुओं का निर्माण कर डालते हैं, किसी भी बुरी भावना के संस्कार हमारे स्वभाव का अंग बन जाते हैं। अभ्यासवश यह होता है। जब किसी प्रकार के विचार मनुष्य के अंग बन जाते हैं तो उन्हें मन से निकालना अत्यन्त कठिन होता है। पर प्रयत्न करने पर मनुष्य सब काम कर सकता है। वह अपने को भी बदल सकता है। अपना लक्ष्य निश्चित होने पर लगे रहने से सभी प्रकार की सफलता प्राप्त हो जाती है।

पहले तो यही पुण्य की बात है कि हम अपने वास्तविक शत्रुओं को जान लें। अपने शत्रुओं को जान लेने पर उन पर विजय प्राप्त करना सरल होता है। कभी कभी छिपे शत्रु जब प्रगट हो जाते हैं तो वे शत्रु ही नहीं रहते। वे देखते हैं कि अब धोखा देने से काम नहीं चलेगा। अतएव वे मित्र का व्यवहार करने लगते हैं। विचाररूपी शत्रुओं के विषय में यही सत्य है पर यह हमें न सोचना चाहिए कि हमारे चरित्र की किसी प्रकार की बुराई उसकी चर्चा करने मात्र से छूट जाती है। यदि ऐसा होता तो संसार के सभी विद्वान् लोग भले मनुष्य होते। पर देखते हैं कि विद्वान् लोगों में जितनी नैतिक कमजोरियाँ हैं उतनी प्रायः भोलेभाले साधारण लोगों में नहीं

रहती। जो मनुष्य सदा दूसरे की शिक्षा के कार्य में लगा रहता है उसे अपने आपको समझने और शिक्षा देने का समय ही नहीं मिलता। फिर मनुष्य की विद्वत्ता उसे यश प्राप्त करा देती है। जिससे उसका अभिमान बढ़ जाता है। फिर यदि कोई व्यक्ति उसके चरित्र की आलोचना करे अथवा उसे किसी प्रकार का सुधार के लिए सुझाव दे तो वह उसे ग्रहण नहीं करता। वह उससे चिढ़ जाता है। अपने आपको महान माननेवाला व्यक्ति अपने आस-पास अनेक शत्रु पैदा कर लेता है। इस प्रकार उसका कल्याण चाहने वालों की संख्या भी घट जाती है। पण्डित को कोई बात नहीं दिखाई देती। यदि कोई आध्यात्मिक चर्चा किसी ने की तो वह उसे पहले से ही जानता है। वह उस वक्ता से और अच्छी तरह से कह सकता है। इस प्रकार विद्वान् पुरुष किसी से भी सन्निर्देश ग्रहण नहीं करता।

विद्वान् को यह जानना आवश्यक है कि किसी बात का बुद्धिगम होना एक बात है और उसका हृदय-ग्राह्य होना दूसरी बात। मनुष्य का चरित्र, उसका सुख दुःख, उसकी बुद्धि पर उतना निर्भर नहीं करता जितना उसके हृदय की स्थिति पर निर्भर करता है। क्रिया की शक्ति बुद्धि से नहीं वरन् हृदय से आती है। जब तक मनुष्य के भाव पवित्र नहीं होते, केवल विचार ऊँचे हो जाने से उसे आध्यात्मिक लाभ नहीं होता। कोई मनुष्य बुद्धि में महान होकर हृदय से बच्चा ही रह सकता है। इसी प्रकार बुद्धि में सामान्य रह कर भी कोई मनुष्य महात्मा हो सकता है।

हृदय की पवित्रता अभ्यास के ऊपर निर्भर करती है। यह अभ्यास सद्भावना का अभ्यास है। मनुष्य जिस बुरी भावना की प्रबलता अपने आप में पावे उसकी विरोधी भावना के ऊपर उसे नित्यप्रति विचार करना चाहिए। उसे अपने अनुभव को बार-बार देखना चाहिए कि उच्च भावना के दुष्परिणाम क्या हैं? और उसके जीवन के विकास में उसने कैसे रुकावट डाली। कुछ अपने मित्रों के जीवन को भी देखना चाहिए। इस प्रकार का अभ्यास बार-बार करते रहने से मनुष्य के हृदय तक उसके विचार पहुँच जाते हैं। वे उसकी भावनाओं को प्रभावित करने लगते हैं। किसी प्रकार का बार-बार किया गया अभ्यास आत्मनिर्देश का रूप धारण कर लेता है और जब कोई भला विचार आत्मनिर्देश बन जाता है तो वह मनुष्य को बिना प्रयत्न किए ही सन्मार्ग पर चलाते रहता है। मनुष्य सदा अपने आप को जैसा बनाने का आत्मनिर्देश देते रहता है वह अपने आप ही वैसा बन जाता है। उससे भले काम उसी प्रकार सहज भाव में हो जाते हैं जिस प्रकार साधारण लोगों से बुरे काम सहज भाव से होते हैं। प्रत्येक व्यक्ति के मन में काम, क्रोध और लोभजनित अनेक प्रकार की दुर्भावनाएँ चला करती हैं। इन तीन प्रमुख भावों का विरोध उनके प्रति भावों से किया जा सकता है। काम का विरोधी-भाव अशुभ-भावना है, क्रोध का मैत्री-भावना है, और लोभ का अनित्य-भावना है। काम-वासना के विनाश के लिए संसार के सभी सन्तों ने शरीर की अशुभता पर विचार करना बताया है। भगवान् बुद्ध अपनी युवावस्था में ही संसार को छोड़कर चले गये थे। वे बहुत ही रूपवान थे। उनकी स्त्री भी बहुत सुन्दर थीं। फिर वे जहाँ जाते थे, राजा लोग अपनी कन्याओं को उन्हें देने के लिए तैयार रहते थे। जब बुद्ध भगवान् राजगृह गये थे तब राजा बिम्बिसार ने उन्हें अपने तपस्या करने के विचार से विरत करने के लिए अपनी पुत्री से शादी कर देने का प्रस्ताव किया था। वे दृढ़ व्यक्ति थे। अतएव अपने पथ से विचलित न हुए। उन्होंने अपने आत्मनिरीक्षण से जान लिया कि उनमें काम-वासना की प्रबलता है। उनके पार-दर्शन का यही रहस्य है। अतएव बुद्ध भगवान् ने जो काम-वासना को जीतने का उपाय बताया है वह सभी साधकों के के लिए उपादेय है।

काम-वासना पर विजय शरीर की अशुभता पर विचार करने से होती है। हम अपने आप को रूपवान समझते हैं। यह पहली भूल है, दूसरी भूल किसी दूसरे व्यक्ति को रूपवान समझना है। शरीर का सौन्दर्य एक प्रकार का मोह है। अज्ञान के कारण ही असुन्दर वस्तु सुन्दर दिखाई देने लगती है। अपने शरीर की रचना पर बार बार विचार करने से रूप-सौन्दर्य का गर्व मिट जाता है। इस शरीर में मल-मूत्र, मांस-पेशियाँ, हड्डियाँ,

रक्त, केश, नख, कफ, लार, कीचड़ आदि अनेक प्रकार के अशुभ पदार्थ भरे हुए हैं। यह वास्तव में कितना अशुभ है ? इसकी कल्पना कौन कर सकता है, जब इनमें से कोई भी पदार्थ शरीर के बाहर हो जाता है तो हम उसे छूते नहीं। पर जब तक ये शरीर में रहते हैं तब तक वे हमारे मित्र बने हुए हैं। यह कितना बड़ा अज्ञान है ! कितने ही लोग तो घण्टे-घण्टे पर अपना चेहरा शीशे में देखते रहते हैं और सदा शरीर का श्रृंगार करते रहते हैं। शरीर के विषय में इतना समय देते हैं कि उन्हें कोई दूसरा भला काम करने की फुरसत ही नहीं रहती। शरीर के विषय में उसकी वास्तविकता पर विचार करने से काम-वासना निर्बल होती है। जो व्यक्ति जितना ही अधिक अपने आपको रूपवान समझता है वह उतना ही कामुक होता है। इस कामना को विनाश करने के लिए शरीर के दोषों पर नित्य विचार करना आवश्यक है।

जिस प्रकार अपने शरीर के दोषों पर विचार करने से काम-वासना का विनाश होता है उसी प्रकार किसी रूपवान् पुरुष अथवा स्त्री के शरीर पर विचार करने से काम-वासना का विनाश होता है। पुरुष को स्त्री की कुरूपता और स्त्री को पुरुष की कुरूपता पर विचार करना चाहिए। जिस सौन्दर्य के पीछे मनुष्य पागल हो जाता है वह कैसे धोखे की टट्टी है। जब शरीर से प्राण निकल जाता है तो उसे कोई छूता तक नहीं। मुर्दा को पड़े हुए देख कर ही मन घबड़ाने लगता है, अतएव बुद्ध भगवान् ने मुर्दा की कल्पना को बार बार मनमें लाना काम-वासना से मुक्त होने का सर्वोत्तम उपाय बतलाया है। पुराने समय के बौद्ध भिक्षु श्मशान पर जा कर जलते मुर्दे को देखते थे। रूपवती स्त्री का मुर्दा देखने से शरीर के प्रति घृणा उत्पन्न हो जाती थी। यह अपनी कल्पना में भी सदा चित्रण करते रहना चाहिए। ब्रह्मचारी साधुओं का तो हमें नित्य का अभ्यास होना चाहिए। बार बार इस प्रकार की भावना मनमें लाने से सौन्दर्य के प्रति सहज विरक्ति हो जाती है।

प्राचीन भारत के गणराज्यों की संसदीय-प्रणाली

श्री प्रभातकुमार 'साहित्याचार्य'

जिस समय महाभारत के शान्तिपर्व का निर्माण हुआ—ईसा से लगभग डेढ़ हजार वर्ष पहले, बल्कि इससे भी पहले से भारत में गणतन्त्र-प्रणाली का प्रयोग प्रारम्भ हुआ और मौर्य चन्द्रगुप्त के समय तक (१००० वर्षों से अधिक समय तक) यह प्रयोग सफलता से चला। इस लम्बी अवधि में गंगा और यमुना के मध्य भाग को छोड़कर प्रायः समस्त उत्तर पश्चिम भारत में छोटे बड़े गणराज्य थे।

आज के गणतन्त्र राज्यों से इनमें परिस्थितिजन्य भेद था अवश्य, यह स्वाभाविक भी है, पर बहुत कुछ बातों में इनमें आश्चर्यजनक समानता है। उदाहरण स्वरूप प्राचीन गणराज्यों की संसदीय प्रणाली को ही लें।

संसद् का पुराना नाम है संस्थागार। इनके सदस्य कहीं कहीं केवल सामन्त ही होते थे, कहीं कहीं समस्त जनता का भी प्रतिनिधित्व लिया जाता था। व्यास (पंजाब) के तटवर्ती यौधेय-गण के संस्थागार की सदस्यता तो एक हाथी राज्य को देने से मिल जाती थी। अधिकतर जातिविशेष को आधार मानकर किसी को सदस्य नहीं बनाया जाता था।[१]

संसदीय कार्यप्रणाली

संस्थागारों की अवान्तर कार्यप्रणाली की जानकारी के लिये हमें जातकों तथा अन्य बौद्ध साहित्य से सामग्री मिलती है। यह निर्विवाद है कि भगवान् तथागत ने, जो स्वयं एक गणराज्य के नागरिक थे, बौद्ध-संगठन कुछ हेर-फेर के साथ तत्कालीन प्रचलित गणराज्यों के

१ अष्टाध्यायी, ४-३-१२७;

आधार पर ही किया था[१]। भिक्षु-संघ की बैठकों में जिस ढंग से कार्य होते थे, उन सबके लिये विशेष शब्द थे और चूँकि उन पारिभाषिक शब्दों के अर्थ कहीं भी नहीं समझाए गए थे, अतः यह मान लेना चाहिये कि ये शब्द उस समय जनता में साधारण रूप से प्रसिद्ध थे। इन शब्दों के अर्थ को समझाने की इसीलिये जरूरत नहीं समझी गयी। इसी बौद्ध-संगठन प्रणाली को आधार मानकर तत्कालीन संसदीय प्रणाली प्रस्तुत की जाती है।

अधिवेशन और कोरम

संस्थागार के प्रत्येक सदस्य के लिये आसन नियत रहता था। इस काम के लिये एक अलग से अधिकारी नियुक्त रहता था। यह समय समय पर अधिवेशनों के लिये स्थान चुनता और अन्य प्रबन्ध करता था।

किसी भी प्रस्ताव की स्वीकृति के लिये आवश्यक था कि उस पर कम से कम इतने सदस्य सहमत हों अन्यथा वह प्रस्ताव अवैधानिक माना जाता था और वह कार्य रूप में परिणत नहीं किया जा सकता था। इसे आजकल 'कोरम' कहते हैं और उस समय का नाम था गणपूर्ति। गणपूर्ति हो गयी या नहीं इसकी जाँच के लिये जो अधिकारी नियुक्त रहता था[२] उसे गणपूरक कहा जाता था। गणपूरक, आवश्यकता पड़ने पर सदस्यों को एकत्र भी करता था।

प्रस्ताव

प्रस्ताव इस तरह उपस्थित किया जाता था। प्रस्तोता उठकर कहता था—"आदरणीय संघ मेरी सुने। यदि संघ के पास समय हो तो वह यह करे।" इस सूचना को ज्ञप्ति कहा जाता था। इसके बाद प्रस्ताव का "अनुश्रावण" होता था। प्रस्ताव तीन बार दोहराया जाता था। दूसरी बार के दोहराने को ज्ञप्तिद्वितीया और तीसरी बार के दोहराने को ज्ञप्तिचतुर्थी कहा जाता था। प्रस्ताव प्रस्तुत करते समय कहा जाता था—"जो सहमत हों वे मौन रहें, जो असहमत हों वे बोलें।" यदि कोई असहमत नहीं होता तो प्रस्ताव स्वीकृति की "धारणा" कर ली जाती।

इन नियमों का पालन बड़ी कड़ाई के साथ होता था। बिना ज्ञप्ति के प्रस्ताव प्रस्तुत नहीं किया जा सकता था। आवश्यकता पड़ने पर ज्ञप्तिद्वितीया और ज्ञप्तिचतुर्थी अवश्य करनी पड़ती थी। ऐसा न होने पर प्रस्ताव अवैध माना जाता था[३]।

वोट

वोट का पुराना नाम है छन्द। संस्कृत साहित्य में छन्द शब्द का अर्थ होता है—अभिप्राय[४]। इसी से ध्वनित होता है कि मतदान स्वतन्त्रता पूर्वक-स्वछन्दता पूर्वक होता था। यदि किसी प्रस्ताव पर सदस्यों में मतभेद होता था तो बहुमत के आधार पर उसका निर्णय किया जाता था। बहुमत-प्रणाली को "यद्भूयसिका" कहा जाता था। यद्भूयसिका जानने का उपाय बड़ा मनोरंजक है। प्रत्येक सदस्य को प्रत्येक पक्ष के चिह्नस्वरूप अलग अलग रंग वाली शलाकाएँ दी जाती थीं। सदस्य को जो पक्ष जँचता उस पक्ष की शलाका शलाकाग्राहक (मतदान-अधिकारी) को दे देता। इस तरह शलाकाग्रहण से यद्भूयसिका का ज्ञान हो जाता।

आवश्यकता पड़ने पर गुप्त मतदान भी होता था जिसे "गूढ़शलाका ग्राह" कहा जाता था।

स्वीकृत प्रस्ताव विधान के रूप में अनुसरणीय होता था और निर्णीत विषय पर पुनर्विचार के लिये प्रस्ताव रखना अपराध माना जाता था।

उपसमिति

संसदों में कभी कभी व्यर्थ-विवाद उठ खड़े होते हैं। इनसे समय बचाने के लिये निर्णय का अधिकार उपसमिति (Select Commitee) को दिया जाता था[५]। उपसमिति को "उद्वाहिका" कहा जाता था।

यदि "उद्वाहिका" के सदस्यों में भी मतभेद हो जाता तो "यद्भूयसिका" (बहुमत) के आधार पर अन्तिम निर्णय का अधिकार संघ को ही होता था[६]।

१ विनयपिटक; महावग्ग ३; भगवान् "गणमार्ग" से भिक्षुओं की गणना करने की आज्ञा देते हैं।

२ विनयपिटक; महावग्ग ९. ३ अधम्मेन च भिक्खवे वग्गकम्मं न च करणीयं।

३ विनयपिटक, राहुल जी द्वारा सम्पादित; पृष्ठ ३०२

४ छन्दोऽभिप्राय आशयः।

५ विनयपिटक, चुल्लवग्ग ४.३

६ विनय. चुल्लवग्ग ४. ३. ५.

विवरण लेखा

संसद् में प्रत्येक कार्य-ज्ञप्ति, अनुश्रावण आदि समस्त कार्यों का विवरण लिखा जाता था। इसके लिये लिपिक रक्खे जाते थे, जिन्हें जबतक अधिवेशन चलता तबतक संसद् में उपस्थित रहना पड़ता था।

उल्लिखित विवरण से मालूम होता है कि प्राचीन भारतीय प्रजातन्त्र-प्रणाली के कितने अभ्यस्त थे, जिसकी छाप सांस्कृतिक संगठनों पर भी पड़ी।

उर्वशी के तट पर

सुश्री कुमारी विद्या

कला और साहित्य के अक्षय भण्डार से पूर्ण बौद्ध काल के श्रद्धामय भव्य प्रतीक आज भी गर्व से अवस्थित स्वर्णिम युग के शान्तिमय स्वर्गिक सन्देश को प्रसारित कर मंगलमय पथ की ओर प्रेरित कर रहे हैं। एक समय था जब सम्राट देवानांप्रिय अशोक त्रिरत्न की शरण में जा शान्ति लाभ किये थे और पाये थे अपनी आकांक्षा से अधिक। वे चाहते थे विश्व विजयी बनें, मानव मात्र पर विजय प्राप्त कर, किन्तु भगवान् तथागत की कल्याणी वाणी को अपना कर उन्होंने प्राणिमात्र के हृदय में स्थान बना लिया था। इसी काल में उन्होंने अनेक स्तूप, विहार, स्तम्भ, शिलालेख और जन-हित की वस्तुओं का निर्माण कराया। उन्होंने उस महा मालव-प्रदेश में शासन का प्रथम पाठ पढ़ा था। जहाँ उनका वीर हृदय प्रणयिनी विदिशा कुमारी देवी के स्नेह से अनुरंजित हो गया था और उन्होंने अपने प्रिय पुत्र-पुत्री महेन्द्र एवं संघमित्रा को धर्म की शरण में अर्पित किया था। उन्हीं सम्राट के नाम पर बीना कोटा लाइन पर स्थित एक स्टेशन का नाम 'अशोक-नगर' रखा गया है।

इस अशोक-नगर नाम के साथ कितनी संस्कृतियों की स्मृतियाँ सजीव हो उठती हैं। कल्पना के स्वर्णरजत पंखों पर उड़कर अतीत साकार होने लगता है। इस अशोक-नगर से ६ मील दक्षिण की ओर तुम्बवन के ध्वंसावशेष तुमेन के नाम से अतीत के गौरव की याद, मूर्तिकला की सुषमा, कितने ही राजवंशों के उत्थान-पतन की कहानियों को, कितने ही हर्ष, उल्लास, कसक और श्रद्धा की निशानियों को अपने अंचल में समेटे मौन पड़ा है।

सम्राट देवानांप्रिय अशोक के शासन काल में, उस स्वर्णिम युग में यह नगर तुम्बवन मंजुल, धवल धौत हर्म्यों से पूर्ण अनुपम शोभामय था। उत्तराखंड से गौरवशालिनी उज्जयिनी के पथ पर व्यापार का एक उत्तम केन्द्र समृद्धि वृद्धि के साथ उस युग का यशोगान कर रहा था जब कि मालव प्रदेश सुख शान्ति का आगार था। चंचल उर्मिल उर्वशी नदी के पुलिन पर तीन मील के क्षेत्र में स्थित इस नगर के गृह-गृह में अर्चना, वंदना, संगीत-निगुंजन से उल्लास बिखरता था। कंकण-किंकिणियों की रणित-ध्वनित स्वर-लहरी के साथ वन्दना के हेतु जाती सुकुमारियों की श्रद्धा से तुम्बवन का कण-कण मधुरिमा से व्याप्त हो जाता था।

उस कंचन-महलों की नगरी में वैभव के साथ करुणा एवं मैत्री के प्रतीक भगवान् तथागत की कल्याणमयी उपदेश-सुधा भी मंगलमयी सरसता प्रदान करती थी। पूर्णिमा की रजत किरणों के बीच स्वर्ण-प्रदीपों की स्वर्णिम आभा से आलोकित विहार के प्रांगण में त्रिरत्न-वन्दना

के पावन स्वर, अर्चना के गीत गुंजित होते रहे होंगे। जहाँ आज भी एक ही शिला की कलामयी चतुष्पदी मनोरम चौकी पर बनी भगवान् तथागत की दस फीट ऊँची छः फीट चौड़ी विशाल एवं भव्य प्रतिमा ध्यान-मुद्रा में अवस्थित करुणा, मैत्री एवं शान्ति की पावन प्रेरणा दे रही है। कमल, पत्र-पुष्पों एवं मानव की विभिन्न मुद्राओं का अंकन पृष्ठभूमि-सज्जा के लिये बनाया जाकर शिल्प-सौंदर्य की उत्कृष्ट वस्तुएँ अर्पित की गई हैं। समीप ही महामाया विंध्यवासिनी देवी का मन्दिर प्राचीरों एवं स्तम्भों पर प्रणयकला के अनुपम चित्रण को लिये खड़ा है। यह मन्दिर भी अति प्राचीन है। देवी की मूर्ति भी सौम्य एवं बहुत समय पूर्व की है।

इस तीन मील के क्षेत्र में कुँआ, बावड़ी, भव्य-भवनों के अवशेष एवं भावमयी मूर्तियाँ यत्र-तत्र बिखरी अतीत के वैभव गौरव के आख्यान को दुहरा रही हैं।

अब वहाँ की हरित मंजुल धरणी पर प्रासाद, राज-पथ, वीणा, मृदंग-निनाद, उल्लास-हास-कल-कूजन नहीं हैं किन्तु आज भी शरद चंद्र की मृदुल चाँदनी अपनी मधुरिमा बिखेर कर उर्वशी के तट पर स्थित विश्व-देवता (भगवान् तथागत) की अर्चना में आलोकित रहती है। अरुण उषा की चम्पक-द्युति में समीर-लहरी मृदुल-मृदुल शत-शत सुरभित सुमनों को उनकी भव्य प्रतिमा के चरणों में बिखेर कर धन्य हो जाती है। प्रकृति वनबाला सी शोभित हो वन्दना करती है। और कोकिला कूक पड़ती है। आषाढ़-श्रावण के सजल मेघ जब झुक जाते हैं तब उर्वशी जल से उन्हें अर्घ्य देती है। और भावुक मन कल्पना के पंखों में उड़कर अतीत की स्मृतियों को साकार पा नीरव, शान्त वातावरण में श्रद्धा से नत हो जाता है। हृदय किसी कविता की इन पंक्तियों के साथ मानो गुन-गुना उठता है—

"विभा विहंगम के स्वर भरते, प्रातः महिमा कूजित।
भग्न खँडहरों की रानी! तुम अब भी लगती पुञ्जित॥"

वसंत की माधवी ऋतु में होनेवाला मेला प्रति वर्ष आकर उर्वशी तट के उस स्वर्णिम युग की याद दिला जाता है।

महाबोधि सभा के संस्थापक अनागारिक धर्मपाल

———

बौद्धयोगी के पत्र—७

कसिण-भावना के ही सम्बन्ध में

प्रिय जिज्ञासु,

मैं आज ही चारिका से वापस आया हूँ। एक साधक के विशेष आग्रह पर मुझे उक्काचेल तक जाना पड़ा था। वहाँ तीन दिन रहकर उपदेश भी देना पड़ा। यद्यपि मैं आग्रह से दूर रहने का बहुत प्रयत्न करता हूँ किन्तु साधक-गण भला कहाँ वैसा करने देते। कभी-कभी सोचता हूँ कि सदा आरण्य में ही विचरण करूँ, किन्तु भगवान् के "भासये जोतये धम्मं" वचन का स्मरण कर जनपद में विचरण करता हूँ। मैं संघ के विशेष आग्रह पर श्रावस्ती से ऋषिपतन मृगदाय आया था, किन्तु यहाँ भी अवकाश नहीं मिलता है। सदा उपासक-उपासिकाओं की जमघट लगी रहती है। कोई धर्मोपदेश के लिए आग्रह करता है, तो कोई कर्मस्थान माँगता है; कोई दान के लिये निमन्त्रित करता है, तो कोई मतकवत्थ* ग्रहण करने की प्रार्थना करता है; कोई अपना धर्म-सन्देह मिटाना चाहता है, तो कोई दर्शन-मात्र से तृप्त हो जाता है। तुम जानते ही हो कि योगियों के लिये ये सब बातें विघ्नकारक हैं। ऐसे स्थान को तो छोड़कर शीघ्र चला जाना चाहिये, किन्तु एक उत्साही साधक आजकल पृथ्वी-कसिण के परिकर्म में जुटा है, उसके उपकार की दृष्टि से ही मैं यहाँ रुका हूँ। फिर भी यह समझ लो कि मैं अब अधिक दिन यहाँ नहीं रहूँगा। कोसम्बी (=कौशाम्बी) की ओर चारिका करने का विचार है।

मैंने अपने पिछले पत्र में लिखा था कि शेष कसिणों के सम्बन्ध में अगले पत्र में लिख भेजूँगा। पृथ्वी-कसिण को भली प्रकार जान लेने के पश्चात् तुम्हें अन्य कसिणों को समझने में बड़ी आसानी होगी। मैं यहाँ संक्षेप में ही वर्णन करूँगा, क्योंकि उतने से ही तुम्हारा काम निकल जायेगा।

आप् (=जल) कसिण की भावना करनेवाले योगी को चाहिए कि वह आप्-कसिण का निमित्त ग्रहण करने के लिए नीले, पीले, श्वेत आदि रंगीन जल को न लेकर आकाश से गिरते हुए शुद्ध जल को ग्रहण कर किसी बर्तन में बराबर मुँह तक भरकर एकान्त स्थान में जाकर पृथ्वी-कसिण-भावना में बतलाये गये नियम के अनुसार सुख-पूर्वक बैठकर अम्बु, जल, वारि, सलिल आदि आप् (=जल) के नामों में से किसी एक के अनुसार भावना करे। प्राचीन काल से आज तक योगियों ने 'आप' को ही ग्रहण किया है। अतः 'आप, आप' कहकर आप-कसिण की भावना में लग जाय। इस प्रकार भावना करते हुए क्रमशः उग्गह और पटिभाग निमित्त उत्पन्न होते हैं। इस भावना में उग्गह निमित्त चलता हुआ जान पड़ता है, किन्तु पटिभाग निमित्त चंचलतारहित जान पड़ता है। पटिभाग-निमित्त के उपरान्त ही उपचार-समाधि और ध्यान प्राप्त होते हैं।

तेज (=अग्नि)-कसिण की भावना करनेवाले योगी को चाहिए कि वह सूखी लकड़ियों को एकत्र कर किसी एकान्त स्थान में जा बर्तन पकाने के समान ढेर लगाकर उसमें आग लगा दे और चटाई या कपड़े में एक बालिश्त चार अंगुल के बराबर छेद कर दे। उसे ही सामने करके सुखपूर्वक बैठकर तृण, लकड़ी या ऊपर की ओर धुँआ, लपट को मन में न कर मध्य में घनी लपट का निमित्त ग्रहण करे। नीला, पीला आदि रंग को मन में न कर गर्मी आदि का भी ख्याल न कर पावक, जातवेद, हुतासन कण्हवत्तनी (=कृष्णवर्त्मा) आदि अग्नि के नामों में से

* जब मृतक श्मशान में अन्त्येष्टि संस्कार के निमित्त ले जाया जाता है, तब मृत-व्यक्ति के घरवाले भिक्षुओं को एक थान वस्त्र दान करके उपदेश सुनते हैं, तदुपरान्त अन्त्येष्टि संस्कार होता है। अन्त्येष्टि संस्कार से पूर्व भिक्षु-संघ को दिये गये वस्त्र को ही मतकवत्थ कहते हैं।

किसी एक के अनुसार भावना करे। प्रायः योगी "तेज, तेज" कह कर ही भावना करते हैं। इस भावना में पटिभाग निमित्त निश्चल आकाश में रखे लाल कम्बल के टुकड़े के समान, सुवर्णमय ताड़ के पंखे के समान और सोने के खम्भे के समान जान पड़ता है। पटिभाग-निमित्त के बाद ही उपचार समाधि प्राप्त होती है और तदुपरान्त प्रथम, द्वितीय आदि ध्यान।

वायु-कसिण की भावना करने वाले योगी को वायु में निमित्त ग्रहण करना चाहिए। प्राचीन काल के योगियों का कहना है—"वायु-कसिण का अभ्यास करते हुए वायु में निमित्त ग्रहण करना चाहिए। हिलते-डोलते हुए ऊख के सिरे को, हिलते-डोलते हुए बाँस के सिरे को, पेड़ के सिरे को या केश के सिरे को उपलक्ष्य करके देखना चाहिए। शरीर पर स्पर्श करनेवाली वायु में भी निमित्त ग्रहण किया जा सकता है।" इसलिये वायु से हिलते हुए किसी भी एक को देख 'यह वायु इस जगह प्रहार कर रही है' सोच, वात, मारुत, अनिल आदि वायु के नामों में से स्पष्टता के अनुसार "वात, वात" कहकर भावना करनी चाहिए। इस भावना में उग्गह-निमित्त चंचल होता है, किन्तु पटिभाग निमित्त स्थिर और निश्चल।

नील-कसिण की भावना करने वाले योगी को चाहिये कि नीले रंग के फूल, वस्त्र या नीले रंग की धातु में निमित्त ग्रहण करे। नीले रंग के फूलों को लेकर एक डलरी या पिटारी में ऐसे रखे कि उनके केसर या डंठल न दीखें। फूलों को ऊपर तक भरकर कसिण-मण्डल तैयार कर लेना चाहिए। तदुपरान्त एकान्त में जाकर सुखपूर्वक बैठ "नीला नीला" कहकर मन में करना चाहिए। पीत-कसिण, लोहित-कसिण और अवदात-कसिण में भी यही नियम है। अतः इनके सम्बन्ध में लिखने की आवश्यकता नहीं है। हाँ, इतना जानना चाहिए कि नील-कसिण में नीला-कमल, गिरिकर्णिक; पीत-कसिण में गेंदा, कनइल; लोहित-कसिण में जयसुमन, अड़हुल (=बन्धुजीवक), लाल कोरण्डक; और अवदात-कसिण में

परम योगी कल्याणी तिस्स तेल के कड़ाह में खड़े हुए उपदेश दे रहे हैं

जूही, चमेली, कुमुद, पद्म, शीशा, चाँदी तथा चन्द्र-मण्डल आदि में निमित्त आसानी से ग्रहण हो जाते हैं अथवा इनसे कसिण-मण्डल सरलता से दोष-रहित बनता है।

आलोक-कसिण की भावना करनेवाले योगी को चाहिए कि जहाँ कहीं भीत के या किसी भी गोल छेद के भीतर से होकर सूर्य या चन्द्रमा का प्रकाश भूमि पर गोलाकार पड़े या घनी शाखाओं वाले वृक्ष के नीचे सूर्य का गोलाकार प्रकाश पड़े, उसे देखकर निमित्त-ग्रहण करे। जो ऐसा न कर सके उसे चाहिए कि एक घड़े में चिराग जलाकर उसके मुँह को बन्द करके घड़े में छेद कर भीत की ओर करके रख दे। घड़े के छेद से जो प्रकाश निकल कर भीत पर गोलाकार पड़े, उसे देख-कर "आलोक, आलोक" कहकर भावना करे।

आकाश-कसिण की भावना करने के लिए अच्छी तरह छाये हुए मण्डप में या चटाई आदि में से किसी एक में एक बालिश्त चार अंगुल का छेद करके या उसी भीत के छेद आदि को "आकाश, आकाश" कहकर भावना करनी चाहिए। इस भावना में उग्गह-निमित्त भीत में बने हुए छेद के समान ही होता है। वह बढ़ाने पर भी नहीं बढ़ता है। पटिभाग-निमित्त आकाश-मण्डल ही होकर जान पड़ता है और बढ़ाने पर भी बढ़ता है।

कसिणों की भावना में योगी को यह भली प्रकार स्मरण रखना चाहिए कि पृथ्वी-कसिण से योगी 'एक भी होकर बहुत हो सकता है', आकाश या जल में पृथ्वी बना कर चलना, खड़ा होना, बैठना आदि कर सकता है। आप-कसिण से पृथ्वी में डूबना, उतिराना, पानी की वर्षा करना-नदी, समुद्र आदि बनाना, पृथ्वी, पर्वत, प्रासाद आदि को हिलाना ऐसे अद्‌भुत कार्य कर सकता है। तेज-कसिण से धुँआना, प्रज्वलित होना, अग्नि-वर्षा करना, आग से आग को बुझा देना, जिसे ही वह चाहे उसे जलाने की सामर्थ्य होना, दिव्य-चक्षु से रूप को देखने के लिए प्रकाश करना, अन्त समय में अग्नि से अपने शरीर को जलाकर शान्त हो जाना आदि कार्य कर सकता है। वायु-कसिण से वायु की चाल से जाना, आँधी उत्पन्न करना आदि ऐसे कार्य कर सकता है। नील-कसिण से नीले रंग के रूप को बना सकता है, अन्धकार कर सकता है। पीत-कसिण से पीले रंग के रूप को बना सकता है। लोहित-कसिण से लाल रंग के रूप तथा अवदात-कसिण से श्वेत रंग के रूप को बना सकता है। आलोक-कसिण से अन्धकार को नाश कर सकता है। आकाश-कसिण से योगी ढँकी हुई चीजों को उघाड़ देता है। पृथ्वी, पर्वत आदि में भी आकाश बनाकर विचरण करता है। भीत के इस पार से उस पार बिना स्पर्श किये हुए चला जाता है।

कसिण-भावना बड़ी ही आसान एवं सरल हैं। जो भी साधक इनका अभ्यास नियमतः करेगा, वह अवश्य ही सफलता प्राप्त करेगा। किन्तु भगवान् ने कहा है— "जो सत्त्व कर्म के आवरण से युक्त हैं, क्लेश के आवरण से युक्त हैं या विपाक के आवरण से युक्त हैं, श्रद्धा, छन्द से रहित और दुष्प्रज्ञ हैं, वे कुशल-धर्मों में सफलता प्राप्त करने के लिये अयोग्य हैं।" इस प्रकार, जो साधक इन दोषों से युक्त होता है उसे किसी भी कसिण की भावना सिद्ध नहीं होती है।

आज प्रातःकाल से ही बड़ी ठंडी हवा चल रही है। आकाश-मण्डल बादलों से घिरा हुआ है। रह-रहकर बूँदें भी पड़ जाती हैं। तुम जानते हो कि हम योगियों के पास केवल तीन चीवर (उत्तरासंग, अन्तरवासक, संघाटी) होते हैं। भला इन चीवरों से इस जाड़े के दिनों में कहाँ से काम चलेगा! यदि योगियों को यौगिक-क्रियाओं अथवा योग-बल का भरोसा न हो तो बेचारे ठिठुर कर ही मर जायँ। मैं देखता हूँ आजकल के उपासक-उपासिकायें भी योगियों के केवल दोष ही देखते फिरती हैं, योगियों के प्रति उनका क्या कर्तव्य है, तनिक भी नहीं सोचतीं। आज अनाथपिण्डिक, विशाखा आदि भी तो नहीं कि योगियों को आवश्यक वस्तुयें प्रदान किया करें। हम योगीगण ऐसे उपासक-उपासिका चाहते हैं जो दानी हों, सदाचारी हों, धार्मिक और सत्यव्रती हों तथा जो समझें कि योगियों का सारा भार उनके ऊपर है और योगी उनके मार्ग-दर्शक हैं। यदि ऐसा नहीं तो हम योगियों को तो भगवान् का आदेश है ही—

"मिगो अरञ्ञम्हि यथा अबद्धो,
येनिच्छकं गच्छति गोचराय।

विञ्ञू नरो सेरितं पेक्खमानो,
एको चरे खग्गविसाणकप्पो ॥"

जैसे बन्धन-हीन पशु जंगल में जहाँ चाहता है चरने के लिए चला जाता है, वैसे ही विज्ञपुरुष स्वैर-विहार (=स्वाधीनता) को देखते हुए गैंडे की भाँति अकेला विचरण करे।

बस, आज इतना ही। अगले पत्र में 'अशुभ-भावना' की यौगिक-क्रियाओं के सम्बन्ध में लिखूँगा। इस पत्र की प्राप्ति-सूचना घोषिताराम महाविहार, कौशाम्बी के पते पर ही भेजना। योगिराज के आशीर्वाद।

इसिपतन मिगदाय — तुम्हारा—
९-१-५४ — योगी

श्रावस्ती : एक दिग्दर्शन

श्री भगवतीप्रसाद सिंह एम० ए०

[१]

भारत के प्राचीनतम राजवंश की राजधानी तथा संसार की एक सशक्त धार्मिक विचार-धारा के प्रवर्तक का प्रधान कार्यक्षेत्र होते हुये भी श्रावस्ती की वर्तमान अप्रसिद्धि ऐतिहासिक अवहेलना का एक ज्वलन्त उदाहरण है। इस देश के राजनीतिक तथा सांस्कृतिक उत्थान में अयोध्या, इन्द्रप्रस्थ तथा पाटलि-पुत्र इत्यादि ऐतिहासिक नगरों के समान ही श्रावस्ती का भी विशेष महत्त्व है। अनेक कारणों से भारतीय इतिहास के इस जागृति काल में भी इस ओर समुचित ध्यान नहीं दिया गया जिसके फलस्वरूप आज इसका गौरव ग्रन्थों में ही शेष रह गया है। इसके ध्वंसावशेषों को सुरक्षित रखनें तथा खुदाई द्वारा उसके गर्भ में निहित प्राचीन संस्कृति के अमूल्य स्मारकों को प्राप्त करने के लिये भी विशेष प्रयत्न न हुआ अतएव जितना कम ज्ञान हमें आज श्रावस्ती के इतिहास का है उतना सम्भवतः उसके समकालीन किसी अन्य राज्यकेन्द्र का नहीं। इसके पूर्व कि हम श्रावस्ती के महत्व का ऐतिहासिक विवेचन करें उसकी स्थिति तथा वर्तमान सहेट महेट से उसकी अभेद स्थापना के विषय में अँग्रेज तथा भारतीय विद्वानों की खोजों का एक संक्षिप्त विवरण दे देना आवश्यक है।

श्रावस्ती की शोध की ओर सबसे पहले जनरल कनिंघम का ध्यान गया जो उस समय पुरातत्व विभाग के अध्यक्ष थे। सन् १८६२ में उन्होंने उसके खंडहरों की खुदाई आरम्भ की। एक वर्ष कार्य करने के पश्चात् १८६३ ई० में उन्हें एक खंडहर में ७ फुट ४ इंच लंबी मूर्ति मिली जिस पर कुशाण लिपि में यह लिखा था कि यह मूर्ति श्रावस्ती में स्थापित की गई। इसके साथ ही कनिष्क तथा हविष्क के समय की कुछ और मूर्तियाँ भी मिलीं। कनिंघम महोदय ने अपनी खुदाई १८७५ ई० में फिर आरम्भ की परन्तु इस बार कुछ सिक्कों तथा मूर्तियों को छोड़कर अन्य कोई महत्त्वपूर्ण वस्तु न मिली। तीसरी बार इसकी खुदाई बहराइच के ज्वाइंट मजिस्ट्रेट डाक्टर हो ने १८८५ में कराई और उन्हें किसी पुराने विहार के खंडहर के नीचे एक शिलालेख मिला जो १२७६ विक्रमी में श्रीवास्तव्य कायस्थ विद्याधर के विहार की प्रशस्ति के रूप में स्थापित किया गया था।

"आत्मज्ञान कृतोदयेन विगलद्रागादि दोषाश्रय—
प्रोद्गच्छन्मनसा विचार्य बहुशोमध्यस्थता सौगते।
तेनाराधित सत्पथेन यमिनामानन्द मूलालयो—
निर्माप्योत्ससृजे विहार विधिना कीर्तेश्शिवैकाश्रयः॥"

इस स्थान की खुदाई सन् १९०८ में फिर हुई और यहाँ एक ताम्रपत्र मिला जिससे सहेट महेट का श्रावस्ती होना प्रमाणित हो गया। डाक्टर वोगल नामक एक अंग्रेज इतिहासज्ञ ने ११ मई सन् १९०८ ई० के पायनियर में 'श्रावस्ती और उसके खंडहर' शीर्षक लेख प्रकाशित किया। इसका प्रतिवाद जुलाई १९०८ के एशियाटिक सोसाइटी के जर्नल में डाक्टर स्मिथ ने किया और श्रावस्ती को नेपाल की तराई में बालापुर के निकट बतलाया जो राप्ती (अचिरवती) के उद्गम के समीप है।

परन्तु सर जान मार्शल ने १९०८ के रायल ए० सी० के जर्नल में अनेक अकाट्य प्रमाणों द्वारा श्रावस्ती और सहेट महेट का एकात्म्य स्थापित कर दिया जिससे उनके पूर्ववर्ती विद्वानों की श्रावस्ती की स्थिति विषयक अनेक भ्रान्त धारणाओं का आप ही निराकरण हो गया।

सन् १९०९ में सर जान मार्शल को जो ताम्रपत्र प्राप्त हुआ वह सं० ११८६ का दानपत्र है जिसको कान्यकुब्ज नरेश गोविन्द चन्द्रदेव की आज्ञा से सुरादित्य कायस्थ ने लिखवाया था। इस आज्ञापत्र में गोविन्द चन्द्रदेव ने जेतवन के विहार के लिये छः गाँव दिये थे जिनके नाम ये हैं—बाड़ा, चतुरासीति, पत्तलीय, विहार, पत्तण, उपलहड़ा, ववहाली, मेयी सम्बद्ध घोसाड़ी और पोठीवार सम्बद्ध पयासी। इनमें विहार, घोसाड़ी, पयासी, मेयी, बाड़ा और पोठीवार पास की बस्तियाँ थीं। पत्तड़, उपलड़हा और ववहली स्वतन्त्र ग्राम थे। इनमें से अधिकांश ग्राम परिवर्तित तथा अपभ्रंश नामों से आज भी वर्तमान हैं। बाड़ा को अब बानजीत कहते हैं, जो सहेट से दो मील पच्छिम है। घोसाड़ी का अब कोई चिह्न अवशेष नहीं रहा। मेयी गोंडा से इटियाथोक जानेवाली सड़क पर सोभागपुर के पास है। पयासी अब बयासी के नाम से प्रसिद्ध है और सहेट महेट से ४ मील उत्तर राप्ती के तट पर था अब राप्ती की धारा में आ गया है। अब शेष रहे पत्तण, ववहली और उपलहड़ा। इनमें पत्तण को अब पटना कहते हैं और सहेट महेट से तीन मील पच्छिम कोण पर कटरा से खरगूपुर की सड़क पर दो मील की दूरी पर है। ववहली के विषय में श्री दयाराम साहनी का अनुमान है कि कदाचित यह बेलहा हो जो पटना के पास है। उपलहड़ा की स्थिति संदिग्ध है। इस प्रकार गोविन्द चन्द्रदेव के दानपत्र में वर्णित छः गाँवों में बाड़ा, मेयी, पयासी और पत्तण का पता चल जाने तथा स्वयं ताम्रपत्र में "श्रीसज्जेतवन महाविहार वास्तव्य बुद्ध भट्टारक प्रमुख परमार्थ शाक्यभिक्षु संघाय।" इत्यादि वाक्यों के मिलने से अब इसमें संदेह नहीं रह गया है कि वास्तव में सहेट महेट ही श्रावस्ती है। चीनी यात्रियों ने भी जेतवन को श्रावस्ती से अनुमानतः एक मील (५, ६, ७ ली) की दूरी पर स्थित ही माना है और पुरातत्व विषयक खोजों में भी महेट से दक्षिण सहेट ही को जेतवन कहा गया है।

श्रावस्ती उत्तर कोशल देश के सूर्यवंशी राजाओं की बहुत समय तक राजधानी रही। हरिवंश पुराण के अनुसार सूर्यवंशी राजा यवनाश्व के पुत्र श्रावस्त ने इसे बसाया था, इसके अतिरिक्त विष्णु पुराण, महाभारत, भागवत तथा पाणिनि के अष्टाध्यायी में भी इसका उल्लेख मिलता है। त्रिकांड शेष में इसका नाम धर्मपत्तन है। रामायण में रामचंद्र के पुत्र लव द्वारा श्रावस्ती अथवा शरावती को बसाये जाने का उल्लेख है। श्रावस्ती के सूर्यवंशी राजाओं की यह परम्परा भगवान् बुद्ध के समकालीन प्रसेनजित् तक चलती रही और मौर्य, शुंग तथा गुप्तकाल में भी यही कोशल की राजधानी रही।

गुप्तकाल के पश्चात् इसकी अवनति आरम्भ हुई। चीनी यात्री फाहियान जब इस प्रसिद्ध नगर के दर्शन के लिये आया था तो यहाँ केवल २०० के लगभग घर अवशेष थे और हर्षवर्द्धन के शासन काल में (सन् ६४२ से ६४७ तक) जब ह्वेनसांग यहाँ आया तो यह बिल्कुल उजड़ चुकी थी। सम्राट् हर्षवर्द्धन के समय में श्रावस्ती कान्यकुब्ज साम्राज्य की एक प्रान्त (भुक्ति) थी। यह मधुवन आजमगढ़ में प्राप्त हर्षवर्द्धन के एक ताम्रपत्र से स्पष्ट हो जाती है। "परम माहेश्वरेन महेश्वर इव सर्व सत्वानुकम्पी परमभट्टारक महाराजाधिराज श्री हर्षः श्रावस्ती भुक्तौ कुड धानी वैषायिक सोम कुडिका ग्रामे।"

तीसरी शती में लंका के यात्रियों के आने के समय यहाँ क्षीणधार और उसके भतीजों का अधिकार था। ह्वेनसांग के समय में जेतवन भग्न प्राय हो चुका था। इसके बीच के एक खंडहर में बुद्धदेव की एक मूर्त्ति रह गई थी। दो स्तूप सुदत्त और अंगुलिमाल्य बच रहे थे। श्रावस्ती की स्थिति के विषय में ह्वेनसांग ने इसे अयोध्या के उत्तर लिखा और फाहियान ने इसे कोशल के अन्तर्गत माना। ह्वेनसांग ने यह भी लिखा है :—

'श्रावस्ती विक्रमादित्य के अधिकार में थी जो बुद्धधर्म का घोर शत्रु था।' इसके पश्चात् सातवीं से दसवीं शताब्दी तक भारत के अन्य भागों के इतिहास के समान ही इसका भी इतिहास अंधकारमय है। जनरल कनिंघम

ने राजा सुहेलदेव का समय १००० ईस्वी निश्चित करके २५ वर्ष की पीढ़ियाँ मान कर क्रमशः सुधन्वध्वज, मकरध्वज, हंसध्वज तथा मोरध्वज को उनका पूर्वज माना है। पौराणिक काल के राजाओं का समय ९०० से १००० के भीतर,केवल अनुमान के आधार पर नहीं माना जा सकता। आर्कियोलाजिकाल सर्वे रिपोर्ट में राजा सुहेलदेव को श्रावस्ती का अन्तिम जैन राजा लिखा गया है जिसने सालार मसऊद गाज़ी को बहराइच के प्रसिद्ध युद्ध में पराजित किया था। श्रावस्ती तथा लव के समय से लेकर सुहेलदेव के शासन काल तक अनेक राजनीतिक परिवर्तनों में अपनी आत्मा की रक्षा करती हुई यह विशाल नगरी कोशल के एक बड़े भूभाग के शासन का केन्द्र रही।

सुहेलदेव के पश्चात् सन् ११३४ ईस्वी तक उनके पोते हरसिंह देव राज्य करते रहे। बारहवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में कन्नौज के राजा गोविन्द चन्द्रदेव के पुत्र चन्द्रदेव ने श्रावस्ती पर आक्रमण कर तहस-नहस कर डाला। हरसिंह देव को पराजित होकर श्रावस्ती छोड़कर सुहेलवा वन में गढ़ी बनानी पड़ी और अन्त में नेपाल की शरण लेनी पड़ी वहाँ उनके वंशज पालिया भूखंड के राजा बनाये गये और इस वंश का इतिहास नेपाल के इतिहास से सम्बन्धित हो गया।

जैसा पहले कहा गया है श्रावस्ती अनेक शताब्दियों तक इक्ष्वाकु-वंश की राजधानी रही परन्तु उन्नति की चरम सीमा पर वह भगवान् बुद्ध के समकालीन तथा ब्रह्मदत्त के पुत्र सम्राट् प्रेसनजित् के समय में पहुँची। भगवान् बुद्ध का श्रावस्ती से सम्बन्ध किस प्रकार स्थापित हुआ इसका वर्णन विनय पिटक के चुल्लवग्ग में इस प्रकार मिलता है:—

श्रावस्ती का अनाथपिंडिक गृहपति राजगृह के श्रेष्ठी का बहनोई था। एक बार अनाथपिंडिक राजगृह गया। उस समय राजगृह श्रेष्ठी ने संघ सहित बुद्ध को निमन्त्रित किया था। अनाथपिंडिक को बुद्ध के दर्शन की इच्छा हुई वह अधिक रात्रि रहते ही घर से निकल पड़ा और सीवँद्वार से होते हुये शीतवन पहुँचा। उपासक बनने के बाद उसने सावत्थी (श्रावस्ती) में भिक्षु संघ सहित भगवान् बुद्ध को वर्षावास करने के लिये निमन्त्रित किया। अनाथपिंडिक ने श्रावस्ती जाकर चारों ओर देखा और विचार किया कि भगवान् उस स्थान में विहार करेंगे जो ग्राम से न बहुत दूर और न समीप हो। आने-जाने की आसानी हो आदमियों के पहुँचने योग्य हो। दिन में बहुत जमघट न हो रात्रि में एकान्त और ध्यान के अनुकूल हो।

अनाथपिंडिक ने राजकुमार जेत के उद्यान को देखा जो इन लक्षणों से युक्त था। उसने राजकुमार जेत से कहा कि आर्यपुत्र ! मुझे अपना उद्यान को आराम बनाने के लिये दो। राजकुमार ने कहा कि वह कहापड़ों (कार्षापणों, सुवर्ण मुद्राओं) को कोर लगाकर बिछाने से भी अदेय है। अनाथपिंडिक ने कहा आर्यपुत्र मैंने आराम ले लिया, बिका या नहीं बिका, इसके लिये उन्होंने कानून के मन्त्रियों से पूछा। महामात्यों ने कहा, आर्यपुत्र ! आराम बिक गया क्योंकि तुमने मोल किया, फिर अनाथपिंडिक ने जेतवन में कोर से कोर मिलाकर मोहरें बिछा दीं। एक बार लाया हुआ हिरण्य द्वार के कोठे के बराबर थोड़ी सी जगह के लिये भी पर्याप्त न हुआ। गृहपति ने और हिरण्य लाने के लिये मनुष्यों को आज्ञा दी। राजकुमार ने कहा, बस गृहपति इस जगह पर मत बिछाओ। यह जगह मुझे दो। यह मेरा दान होगा। गृहपति ने उस जगह को कुमार जेत को दे दिया। जेतकुमार ने वहाँ कोठा बनाया। अनाथपिण्डिक गृहपति ने जेतवन में विहार, परिवेण, कोठे, उपस्थान-शाला, कप्पियकुटी, चंक्रमणशाला, उदपान, उदपानशाला, जंताघरशाला, पुष्करिणियाँ और मंडप बनाये। भगवान् धीरे-धीरे चारिका करते हुए जेतवन पहुँचे। गृहपति ने खाद्य-भोज्य से अपने हाथों तृप्तकर जेतवन को आगत-अनागत चतुर्दिश संघ के लिये दान किया।

जेतवन बौद्धधर्म के अत्यन्त पवित्र स्थानों में है। दीघनिकाय की अट्ठकथा में उसे चार अविजहित स्थानों में गिनाया गया है :—

"चत्तारि अविजहितट्ठानानि नाम होन्ति—(१) सब्बबुद्धानंहि बोधिपल्लङ्को अविजहितो, एकस्मिञ्ञेव ठाने होति। (२) धम्मचक्कप्पवत्तन इसिपतने मिगदाये अवि-

जहितेव होति। (३) देवोरोहणकाले संकस्सनगर द्वारे पठमपादगण्ठी अविजहिताव होती (४) जेतवने गन्ध-कुटिया चत्तारि मञ्चपादट्ठानानि अविजहितानेव होन्ति।"

भगवान् बुद्ध के सबसे अधिक उपदेश जेतवन में हुए हैं। मज्झिम निकाय के १५० सुत्तों में ६५ जेतवन में ही कहे गये हैं। विनयपिटक के ३५० शिक्षापदों में २९४ श्रावस्ती में ही दिये गये हैं। अट्ठकथाओं के अनुसार इसका क्षेत्रफल ८ करीष (६४ एकड़), अनाथपिण्डिक के 'कोटि सन्थारेन' के विचार से १८ करोड़ कार्षापणों के बिछाने से १८३४८ एकड़ तथा पं० दयाराम साहनी के अनुसार उसका वर्त्तमान क्षेत्रफल २२,३४८ एकड़ है।

(शेष अगले अंक में)

कला-केन्द्र : धमनार की गुफायें

श्री कमलसिंह "सरोज" साहित्य-भूषण

परिवर्तन के श्याम घनों के बीच कभी मंजु रश्मियों सी अतीत की वैभवमयी कहानी नवयुग में चमक उठती है और कला की भव्य धूमिल कृतियाँ साकार हो उठती हैं। भूली कहानियाँ कल्पना के रजत-पंखों पर बैठ कर वरदान-सी श्रद्धामय हो, उल्लास, कसक, माधुर्य भर देती हैं। कलाकार की अभिलाषा, श्रद्धा, भावना, तूलिका पर अरुण, पीत, हरित आदि मनोरम रंगों और छेनी-हथौड़ी के सहारे चित्र-फलक एवं पाषाणों पर मूर्तिमंत हो जाती है। यही चित्रित भाषा जननी अमरत्व का अधिकार चाहती, आज भी गिरि निकुंज की नीरवता में मौन खड़ी हैं, चंचल चर्मण्यवती, शीतल शिप्रा, विमल वेत्रवती की मंजुल उर्मिल वारि-तरंगों से परिप्लावित महामालव प्रदेश में, नाग, असुर और बौद्धकाल के अनेक राजाओं की क्रीड़ा-भूमि में आज भी अतीत का गौरव झाँक रहा है। यहाँ के नर्मदा-तट के उत्खनन-कार्य में ८५ फीट व्यास के स्तूप के ध्वंसावशेष और मृत्तिका-पात्रों से हमें बौद्धकाल के उच्चतम कला-कौशल के दर्शन होते हैं। उसी तरह इस प्रदेश के मंदसौर जिले में पश्चिमी रेलवे के नागदा-मथुरा लाइन पर स्थित श्यामगढ़ स्टेशन से तेरह मील की दूरी पर नीरव कान्तार के मध्य तीन मील की परिधि में पहाड़ी के शान्त और एकान्त वातावरण में भावना की तरंगें, कलासाधना की रेखाओं में समेटे धमनार की साठ-सत्तर गुफाएँ रंगों की भाषा में अभिव्यंजित बौद्ध-युग के स्वर्णिम अतीत का यशोगान कर रही हैं। उस काल की डेढ़ सौ गुफाओं में अब केवल चौदह ही महत्वपूर्ण रह गई हैं। यहाँ के मुख्य गह्वर में करुणा एवं मैत्री के प्रतीक भगवान् तथागत की भव्य एवं विशाल प्रतिमा सिंहासन पर आसीन है। जिसकी उपदेशमयी मुद्रा आज भी प्राणि-मात्र को महान् शान्ति का सन्देश दे रही है। इस मंजुल मूर्ति के चारों ओर प्राचीरों पर अवतरण, महाभिनिष्क्रमण, मारविजय आदि की दिव्य कथाओं के मनोरम चित्र नील गगन के नक्षत्रों की भाँति अद्भुत आकर्षण लिए अतीत को प्रतिबिम्बित कर रहे हैं। इससे लगी हुई गुफाओं में चैत्य एवं विहारों की विचित्र एकता है। कितनी ही भाव-पूर्ण मूर्तियाँ भावनाओं को मुखरित करती कानन के अंचल में मौन पड़ी हैं।

श्रावण सन्ध्या की मनोरम चित्रमयी उस शोभा-स्थली में कभी प्रदीपों की झिलमिल आभा धूप की श्याम लहरियों के बीच वंदना के स्वर गुञ्जित होते रहे होंगे। मंगलमय उपदेशों में मानव की मधुरिमा निखर जाती रही होगी। आज भी वहाँ उस विश्व-वन्दित देवता की भव्य मूर्ति के चरणों में विजन वन की वनश्री सद्यःकुसुमित सुरभित प्रसूनों की अंजलि समर्पित कर धन्य हो जाती है। तब मानो जीवन को मंगलमय पथ की ओर प्रेरित करती समीर-लहरी गुनगुना उठती है।

बौद्ध-जगत

उड़ीसा में बौद्ध उपनिवेश

पाठकों को यह जानकर प्रसन्नता होगी कि भारतीय महाबोधि सभा ने उड़ीसा में एक प्राचीन बौद्ध उपनिवेश की खोज की है। यह उपनिवेश कटक जिले में रेल के स्टेशन से कुछ मील की दूरी पर चारों ओर से घिरी हुई पहाड़ियों के बीच स्थित है। यहाँ पर बौद्धों के घनी आबादी वाले आसपास बिखरे हुये गाँव स्थित हैं, जिनमें लगभग दस हजार बौद्ध निवास करते हैं। किन्तु, शिक्षा, ज्ञान, बौद्ध-जगत् से सम्बन्ध आदि के अभाव में अपने सभी सामाजिक, धार्मिक एवं सांघिक कार्यों को भूल गये हैं। इस समय केवल 'बौद्ध' नाममात्र ही अवशेष है। उन्होंने सदियों से हिन्दुओं के बीच रहने के कारण उन्हीं के रीति-रिवाज को अपना लिया है। अब उनमें कुछ जागृति पैदा हुई है, और वे अपने प्राचीन गौरव को स्मरण करने लगे हैं। भारतीय महाबोधि सभा ने वहाँ के नेता श्री सदाशिव पेत्रो के निमंत्रण को पाकर भिक्षु शीलभद्र को उस उपनिवेश एवं वहाँ के बौद्धों की आवश्यकताओं की जानकारी के निमित्त भेजा। भिक्षु शीलभद्र ने सभी स्थानों का भ्रमण किया तथा स्थानीय नेताओं से मुलाकात की। वहाँ चार बौद्ध मन्दिर हैं। भिक्षु शीलभद्र को यह देखकर बड़ा ही आश्चर्य हुआ कि जो बुद्ध प्रतिमायें मन्दिरों में हैं, उनके चार हाथ हैं और उनमें शंख, चक्र, गदा और पद्म हैं। उनकी बगल में कृष्ण, राधा, और लक्ष्मी की भी मूर्तियाँ बनी हुई हैं। प्रातः सायं उन मन्दिरों में आरती एवं कीर्तन होते हैं। जो गीत गाये जाते हैं वह जयदेव रचित गीतगोविन्द के हैं। वहाँ के बौद्ध हिन्दुओं के हाथ की छुई हुई चीजों को नहीं खाते हैं, चाहे वह ब्राह्मण द्वारा ही क्यों न दी गई हो। ये लोग मांस, मछली से परहेज नहीं रखते हैं।

इन बौद्धों ने अब एक संगठन बनाया है और उसका नाम "बौद्ध श्रावक संघ" रखा है। यह संगठन प्रयत्न कर रहा है कि उड़ीसा की बौद्ध जनता सच्चे बौद्धधर्म से पुनः परिचित हो जाय और उसका सम्बन्ध भी बौद्ध-जगत् से स्थापित हो जाय।

लद्दाख के प्रधान लामा उप-मंत्री नियुक्त—लद्दाख के प्रधान लामा श्री कुशोक बकुल कश्मीर-राज्य के उपमंत्री नियुक्त हुए हैं। लद्दाख की जनता बौद्ध है और वंश तथा भाषा से तिब्बती है। अठारहवीं शताब्दी तक लद्दाख वास्तव में पश्चिमी तिब्बत का एक भाग रहा। यह प्रदेश कश्मीर के राजा द्वारा विजित होने पर उसके राज्यान्तर्गत हो गया था। जब कश्मीर राज्य ने भारत में सम्मिलित होना स्वीकार किया, तब लद्दाख की जनता को बड़ी प्रसन्नता हुई थी, किन्तु पिछले वर्षों लद्दाख के बौद्धों की जो उपेक्षा की गई, उससे वहाँ की जनता बड़ी ही निराश थी। प्रसन्नता की बात है कि बख्शी गुलाम मुहम्मद ने कुशोक बकुल लामा को उपमन्त्री नियुक्त करके उक्त निराशा को दूर कर दिया है। हम आशा करते हैं कि अब लद्दाख की उन्नति की ओर कश्मीर सरकार का विशेष ध्यान जायेगा। लामा बकुल भारतीय महाबोधि-सभा के स्थायी सदस्य हैं। हम उनकी सफलता की कामना करते हैं।

अजमेर में बौद्ध पाणिग्रहण संस्कार—उत्तर प्रदेश के नैनीताल इलाके के मुक्तेश्वर स्थान में बौद्धों की एक छोटी आबादी है। वहाँ के बौद्धों की परम्परा चीन से सम्बन्ध रखती है, जो वहाँ चीन से लगभग दो सौ वर्ष पूर्व आये थे। परस्पर वैवाहिक सम्बन्ध होते-होते सब इतने निकट सम्बन्धी हो गये हैं कि विवाह करने की समस्या बड़ी कठिन हो गई है। हमें यह जानकर बड़ी प्रसन्नता हुई है कि अजमेर के कोलिय बौद्धों ने इस दिशा में अपना कदम आगे बढ़ाया है, जिनकी संख्या केवल अजमेर में २५,००० है। अभी हाल ही में अजमेर कोलिय

बुद्धिष्ट असोसियेशन के मंत्री श्री राहुल सुमन छावरा का पाणिग्रहण संस्कार मुक्तेश्वर बुद्धिष्ट असोसियेशन के मंत्री श्री अकौन थेन की सुपुत्री कुमारी सावित्री थेन के साथ बौद्ध-पद्धति से सम्पन्न हुआ है। 'धर्मदूत' के पाठक इन दोनों व्यक्तियों के नामों से परिचित हैं। श्री छावरा गत वर्ष बर्मा जाकर धर्म का अध्ययन कर लौटे हैं। कुमारी सावित्री के लेख समय-समय पर 'धर्मदूत' में प्रकाशित होते रहे हैं। हम आशा करते हैं कि भारत के बौद्धों की दृष्टि मुक्तेश्वर के बौद्धों की ओर जायेगी और वे उनकी वैवाहिक समस्या को दूर करने के लिए अपना ठोस कदम उठायेंगे। हम इस नवदम्पत्ति को भिक्षु-संघ की ओर से आशीर्वाद देते हैं और आशा करते हैं कि इनसे बुद्ध-शासन के प्रचार का बहुत बड़ा कार्य सिद्ध होगा।

मुसलमान द्वारा बौद्धधर्म ग्रहण—गत १२ नवम्बर को कलकत्ते के धर्मराजिक विहार में श्री अबुल हरीस अहमद ने बौद्धधर्म ग्रहण किया। आप एक अध्यापक हैं और बहुत दिनों से बौद्धधर्म का अध्ययन करते रहे हैं। धर्म-ग्रहणोत्सव बड़ी धूमधाम से मनाया गया। उत्सव में लंका से आये लगभग ५० बौद्ध यात्री भी सम्मिलित हुए थे। पंचशील ग्रहण करने के पश्चात् भिक्षुओं ने सूत्रपाठ किया और आशीर्वाद दिया।

श्री देवप्रिय वलिसिंह संरक्षक मनोनीत—भारतीय महाबोधि सभा के प्रधान मन्त्री श्री देवप्रिय वलिसिंह "दक्षिण भारत बौद्ध समिति" के संरक्षक मनोनीत हुए हैं। यह समिति दक्षिण भारत के बौद्धों द्वारा स्थापित हुई है और इसका उद्देश्य दक्षिण भारतीयों में बौद्धधर्म का प्रचार करना है। यह समिति पिछड़ी हुई जातियों को उठाने में विशेष योगदान देगी।

कलकत्ता में कठिनोत्सव—गत १५ नवम्बर को कलकत्ता के धर्मराजिक विहार में कठिनोत्सव मनाया गया। भिक्षुओं को बंगाल प्रदेशीय बुद्धिष्ट असोसियेशन तथा उपासिका धम्मावती द्वारा चीवर प्रदान किये गये। प्रातःकाल उन्होंने भिक्षुओं को भोजन-दान दिया। इस उत्सव में कम्बोडिया के भिक्षु वीरधर्मवर भी सम्मिलित हुए थे।

कार्तिकी पूर्णिमा—भारतीय महाबोधि सभा के प्रधान केन्द्र श्री धर्मराजिक विहार में २१ नवम्बर को कार्तिकी पूर्णिमा मनाई गई। इसमें श्रद्धालु उपासक-उपासिकायें काफी संख्या में सम्मिलित हुई थीं। धर्मोपदेश के उपरान्त ब्रिटिश सूचना विभाग की ओर से फिल्म-प्रदर्शन हुआ।

नये अध्यक्ष का स्वागत—२३ नवम्बर को भारतीय महाबोधि सभा की ओर से कलकत्ते के श्री धर्मराजिक विहार में महाबोधि सभा के नव-निर्वाचित अध्यक्ष महाराजकुमार सिक्किम तथा महाराजकुमारी सिक्किम का शानदार स्वागत किया गया। स्वागत के अवसर पर सभा के प्रबन्धकारिणी सदस्यों के साथ प्रीति-पेय दिया गया। सभा की ओर से उपाध्यक्ष श्री केशवचन्द्र गुप्त ने अध्यक्ष को बधाई दी और उनका हार्दिक स्वागत किया। अन्त में महाराजकुमार ने सभा के सदस्यों को अपने निर्वाचन के लिए धन्यवाद दिया तथा स्वागत के प्रति कृतज्ञता प्रगट की।

श्री शंकरानन्द का सारनाथ आगमन—भारत सरकार के श्रम-विभाग के उप-संचालक श्री शंकरानन्द एम० ए०, एल-एल० बी० २ जनवरी को सपत्नीक सारनाथ पधारे। भिक्षु संघरत्न ने आपका स्वागत किया। स्मरण रहे श्री शंकरानन्द ही डा० अम्बेडकर के ऐसे अभिन्न मित्र हैं जो सदा घोषणा करते हैं कि सभी परिगणित वर्ग को बौद्ध धर्म अपनाने में ही कल्याण है। आपने सन् १९५० में नई दिल्ली स्थित विहार में सैकड़ों परिगणित वर्ग के लोगों के साथ भिक्षु सद्धातिस्स से बौद्धधर्म ग्रहण किया था।

आपके स्वागत में मूलगन्ध कुटी विहार में एक सभा भी हुई, जिसमें महाबोधि कालेज एवं प्राइमरी स्कूल के छात्र तथा अध्यापक सम्मिलित हुए थे। भिक्षु सद्धातिस्स तथा श्री विश्वनाथ पाठक द्वारा परिचय देने के पश्चात् भाषण देते हुए आपने कहा—"हम लोगों का भगवान् बुद्ध का अनुयायी होना बड़े सौभाग्य एवं प्रसन्नता की बात है। उस भगवान् बुद्ध की शरण जाना परम कल्याणकर है जिन्होंने कि संसार में समता का उपदेश दिया

और भिक्षुओं को भी समता का प्रचार करने के लिए बतलाया। हमारे देश की स्वतन्त्रता तभी सुरक्षित रह सकेगी, जब कि हम भगवान् बुद्ध की शिक्षा का सच्चे अर्थ में पालन करेंगे।"

भारतीय महाबोधि सभा की ६१वीं वार्षिक बैठक—भारतीय महाबोधि सभा की ६१वीं वार्षिक बैठक २९ नवम्बर को महाराजकुमार सिक्किम की अध्यक्षता में सम्पन्न हुई। बैठक में निम्नलिखित सदस्य सम्मिलित हुए थे :—

श्री राजा हेवावितारण, श्री केशवचन्द्र गुप्त, श्री एन० सी० घोष, डा० माधवराम साप्ट, भिक्षु शीलभद्र, भदन्त जिनरत्न स्थविर, भिक्षु वाइ० धम्मालोक, भिक्षु पी० सोरत, भिक्षु ऊ० धर्मरत्न, भिक्षु जी० पञ्ञानन्द; श्री गनपति सरकार, श्री टी० डी० डेनसपा, श्री बी० एम० बरुआ, प्रो० निर्मलचन्द्र बरुआ, श्री के० जेम्स अप्पुहामी, साहु मणिहर्षजोति, श्री ज्योतिषचन्द्र घोष, पण्डित विश्वनाथ शास्त्री, श्री शैलेन्द्रनाथ घोषाल, श्री सुशीलकुमार घोष, डा० हेमेन्द्रनाथ चटर्जी, डा० स्नेहमयी दत्त, डा० जे० एन० मैत्र, श्री डी० वंगडी, श्री जे० एम० मजुमदार, डा० अरविन्द बरुआ, श्री ए० वी० कोलिन द सोइसा, श्री गौलिंग पो, श्री अमियकान्त गांगुली, श्री जगन्नाथ गांगोपाध्याय, श्री शम्भूबरण मुकर्जी, श्री गंगाचरण लाल, डा० अरुण गांगुली, और श्री डी० वलिसिंह।

इस बैठक में अध्यक्ष के भाषण के उपरान्त स्वर्गीय डा० श्यामाप्रसाद मुकर्जी एवं स्वर्गीय महाराज भूटान के लिए शोक प्रकट किया गया तथा दो मिनट मौन रहकर उनकी शान्ति की कामना की गई। बैठक की कार्यवाही के अन्त में सभापति ने नये सदस्यों को प्रमाण-पत्र प्रदान किये। प्रधान मन्त्री श्री देवप्रिय वलिसिंह के धन्यवाद-भाषण के बाद बैठक का कार्यक्रम समाप्त हुआ।

कुशीनगर अभयप्रदेश घोषित—कुशीनगर भिक्षु-संघ के इस प्रस्ताव को राज्य सरकार ने स्वीकार करके कानून का रूप दे दिया है कि कुशीनगर-प्रदेश को 'अभय प्रदेश' घोषित किया जाय। लखनऊ-फैजाबाद-गोरखपुर डिवीजन के कमिश्नर श्री के० वी० भाटिया ने अपने २० अगस्त १९५३ के आदेश-पत्र द्वारा जो नियमावली एवं 'अभय-प्रदेश' की सीमा तथा 'दण्ड-विधान' प्रेषित किया है उससे सभी लोग प्रसन्न हैं। कुशीनगर, कसया आदि के सभी प्राइमरी जूनियर हाईस्कूलों में इस आदेश का प्रचार कर दिया गया है। निकटवर्ती गाँवों में भी इसका खूब प्रचार हो गया है।

इस नियम के अनुसार अब कोई भी व्यक्ति कुशीनगर के चतुर्दिक १ मील के भीतर कहीं भी किसी प्रकार का शिकार नहीं कर सकता है। साँप, बिच्छू और पागल कुत्तों के अतिरिक्त अन्य किसी भी जीव की हिंसा निषिद्ध कर दी गई है। मांस-मछली को बेचना-बेचवाना भी निषिद्ध कर दिया गया है। जो व्यक्ति इस नियम का उल्लंघन करेगा, उसे १००) अर्थ-दण्ड लगेगा। यदि वह प्रतिदिन करता जायगा, तो प्रतिदिन ५) के हिसाब से अर्थ-दण्ड बढ़ता जायगा।

आदेश-पत्र में अभयप्रदेश की सीमा इस प्रकार दी गयी है—बिशुनपुर बिन्दवलिया ग्राम, झुंगवा ग्राम, अनिरुधवा ग्राम, भीमटोला ग्राम, रामाभार ताल, रकसहवा का चँवर, लमुही-लमुहा का चँवर, हिरण्यवती नदी और कोई भी स्थान जो कुशीनगर के चारों ओर १ मील के अन्तर्गत हो।

स्मरण रहे, कुशीनगर को 'अभय प्रदेश' घोषित करने की माँग सन् '५० में 'कुशीनगर भिक्षु संघ' ने की थी, जिसके लिये जिला बोर्ड देवरिया के अध्यक्ष पण्डित चन्द्रशेखर शास्त्री ने प्रयत्न करके कानून का रूप धारण कराया है। जिला बोर्ड देवरिया का यह कार्य बड़ा ही प्रशंसनीय है।

प्रधान लामा सारनाथ आयेंगे—लद्दाख के प्रधान लामा श्री कुशोक बकुल आगामी अप्रैल मास में सारनाथ आयेंगे और कुछ दिन यहाँ रहेंगे। आप बर्मा में होनेवाली छठीं धर्म-संगीति में सम्मिलित होने के लिए सारनाथ से मई मास में प्रस्थान करेंगे। बर्मा जाने से पूर्व कुछ दिन सारनाथ में रहने का आपका विचार है।

कुमारी बाइल्स का आगमन—आस्ट्रेलिया की बौद्ध उपासिका कुमारी एम. बी. बाइल्स बी. ए., एल-

एल. बी. जनवरी मास के प्रथम सप्ताह में सारनाथ आईं और यहाँ लगभग दो सप्ताह रहीं। आपने कुशीनगर, लुम्बिनी, श्रावस्ती आदि बौद्ध तीर्थों के दर्शन किये। आप एक सच्ची बौद्ध उपासिका हैं। बौद्धधर्म की पण्डिता एवं त्रिपिटक-विज्ञ हैं। आपने अपना सारा जीवन ब्रह्मचर्य-पालन तथा बौद्धधर्म के प्रचार में लगाया है। इस समय आपकी अवस्था लगभग ६० वर्ष है। आपने लंका, बर्मा आदि बौद्ध देशों की यात्रा के लिए यहाँ से प्रस्थान किया।

भिक्षु के० सीवली वापस लौटे—यह लिखते हुए हमें प्रसन्नता हो रही है कि भदन्त के० सीवलीजी अपनी मातृभूमि लंका में लगभग दो वर्ष विश्राम करके पुनः सारनाथ वापस लौट आये हैं। आप इस समय सारनाथ में रहकर 'धर्मदूत कार्यालय' एवं मूलगन्ध कुटी विहार पुस्तकालय की देखरेख कर रहे हैं। आशा है आप की देखरेख में उक्त कार्यों का सम्पादन सुचारु रूप से होगा।

नालन्दा बुद्ध विहार का उद्घाटन प्रधान मंत्री द्वारा—नालन्दा में बिहार सरकार की ओर से एक भव्य बुद्ध विहार का निर्माण हो रहा है। गत ७ दिसम्बर को पटना में हुई एक बैठक में निश्चय हुआ कि उक्त विहार का उद्घाटन भारत के प्रधान मंत्री श्री जवाहरलाल द्वारा कराया जाय। उक्त बैठक में नालन्दा पालि इन्स्टीट्यूट, मिथिला संस्कृत इन्स्टीट्यूट, जायसवाल इन्स्टीट्यूट तथा बिहार रिसर्च सोसाइटी के सभी सदस्य सम्मिलित हुए थे। बैठक बिहार प्रान्त के राज्यपाल श्री आर० आर० दिवाकर के सभापतित्व में हुई थी। भारतीय महाबोधि सभा की ओर से प्रधान मंत्री श्री देवप्रिय वलिसिंह ने बिहार सरकार को नालन्दा पालि इन्स्टीट्यूट के स्थापनार्थ धन्यवाद दिया और बतलाया कि आज सारे बौद्ध संसार की दृष्टि नालन्दा के इस नव-निर्मित विद्या-केन्द्र की ओर लगी है। बौद्ध-जनता बिहार सरकार के इस कार्य से बहुत सन्तुष्ट है।

उक्त बैठक में सारनाथ महाबोधि सभा के मंत्री भदन्त एम० संघरत्न एवं भदन्त एच० सद्धातिस्स भी सम्मिलित हुए थे।

श्री ठाकुर ताराचन्द का स्वर्गवास—हमें यह लिखते हुए अत्यन्त दुःख हो रहा है कि लाहुल के परम श्रद्धालु एवं भक्त उपासक जागीरदार श्री ठाकुर ताराचन्द अब इस संसार में नहीं रहे! आपकी मृत्यु से लाहुल के बौद्धों में शोक की लहर उमड़ पड़ी। आप लगभग तीन वर्ष तक रोगशय्या पर रहकर गत दिसम्बर मास में स्वर्गगामी हो गये। अनेक डाक्टर दवा करते रह गये। लामा लोगों द्वारा पूजा भी होती रही, किन्तु "कामं न चत्थि मनुजो मरणा पमुत्तो" मृत्यु से कौन नर बच पाया है? आप लाहुल में एक सच्चे बौद्ध उपासक थे। आप के घर में भगवान् बुद्ध की अनेक विशाल एवं भव्य प्रतिमायें, चैत्य तथा भित्ति-चित्र हैं, जो इस प्रदेश में दर्शनीय एवं अद्वितीय हैं। आपके घर की यह प्रथा चली आ रही है कि सदा कोई न कोई भिक्षु स्थायी रूप से रहता है। हम 'धर्मदूत परिवार' की ओर से आप के दुःखी परिवार के साथ समवेदना प्रगट करते हैं तथा भिक्षु-संघ की ओर से दिवंगत ताराचन्दजी की सुख-शान्ति के लिए आशीर्वाद करते हैं।

हिन्दी में बौद्धधर्म की पुस्तकें

प्रकाशक—भिक्षु एम० संघरत्न, महाबोधि सभा, सारनाथ, (बनारस)
मुद्रक—श्रोम् प्रकाश कपूर, ज्ञानमण्डल यन्त्रालय, कबीरचौरा, बनारस।

धर्मदूत
महाबोधि सभा सारनाथ
का
मुखपत्र
री, मार्च
१९५

विषय-सूची

चरथ भिक्खवे चारिकं बहुजनहिताय बहुजनसुखाय लोकानुकम्पाय अत्थाय हिताय सुखाय देवमनुस्सानं। देसेथ भिक्खवे धम्मं आदिकल्याणं मज्झे कल्याणं परियोसानकल्याणं सात्थं सब्यञ्जनं केवल-परिपुण्णं परिसुद्धं ब्रह्मचरियं पकासेथ। महावग्ग, (विनय-पिटक)

'भिक्षुओ ! बहुजन के हित के लिये, बहुजन के सुख के लिए, लोक पर दया करने के लिये, देवताओं और मनुष्यों के प्रयोजन के लिये, हित के लिये, सुख के लिये विचरण करो। भिक्षुओ ! आरम्भ, मध्य और अन्त—सभी अवस्था में कल्याणकारक धर्म का उसके शब्दों और भावों सहित उपदेश करके, सर्वांश में परिपूर्ण परिशुद्ध ब्रह्मचर्य का प्रकाश करो।'

सम्पादकः—त्रिपिटकाचार्य भिक्षु धर्मरक्षित

वर्ष १८ | सारनाथ, फरवरी : मार्च | बु० सं० २४९७ / ई० सं० १९५४ | अङ्क १०-११

बुद्ध-वचनामृत

'यौवन में वार्धक्य छिपा है !'

"एक समय भगवान् श्रावस्ती में मृगारमाता के प्रासाद पूर्वाराम में विहार करते थे। उस समय भगवान् साँझ को पच्छिम की ओर पीठ किये बैठे धूप ले रहे थे। तब आयुष्मान् आनन्द भगवान् को प्रणाम कर उनके शरीर को दबाते हुए बोले—'भन्ते ! कैसी बात है, भगवान् का शरीर अब वैसा चढ़ा और सुन्दर नहीं रहा, भगवान् के गात्र अब शिथिल हो गये हैं, चमड़े सिकुड़ गये हैं, शरीर आगे की ओर कुछ झुका मालूम होता है, चक्षु आदि इन्द्रियाँ भी कमजोर हो गयी हैं।' 'हाँ आनन्द ! ऐसी ही बात है। यौवन में वार्धक्य छिपा है, आरोग्य में व्याधि छिपी है, जीवन में मृत्यु छिपी है। शरीर वैसा ही चढ़ा और सुन्दर नहीं रहता है, गात्र शिथिल हो जाते हैं, चमड़े सिकुड़ जाते हैं, शरीर आगे की ओर झुक जाता है और चक्षु आदि इन्द्रियाँ भी कमजोर हो जाती हैं।' भगवान् ने यह कहा। यह कर बुद्ध फिर भी बोले :—

'रे वृद्धावस्था ! तुम्हें धिक्कार है,
तुम सुन्दरता को नष्ट कर देती हो।
वैसे सुन्दर शरीर को भी,
तुमने मसल डाला है॥
जो सौ वर्ष तक जीता है,
वह भी एक दिन अवश्य मरता है।
मृत्यु किसी को भी नहीं छोड़ती है,
सभी को पीस देती है॥

—संयुत्त निकाय ४६. ५. १

बौद्धधर्म में कर्म

भिक्षु सद्धातिस्स

कर्म का अर्थ है करना, तथापि 'चेतनाहं भिक्खवे ! कम्मं वदामि' भिक्षुओ ! चेतना को मैं कर्म कहता हूँ इस बुद्ध-वचन से चेतना ही कर्म है। केवल चेतना ही नहीं, इसके साथ उत्पन्न सब चैतसिकों को कर्म जानना चाहिए, किन्तु सभी कार्यों में चेतना के प्रधान होने से उसी को प्रधान रूप से कर्म कहा गया है। इस प्रकार चेतना को प्रधान मानते हुए कर्म का विचार करने पर यदि चेतना नहीं है तो उसे कर्म नहीं जानना चाहिए। कुछ धर्मों में स-चेतन एवं अ-चेतन दो प्रकार का कर्म होता है, किन्तु बौद्धधर्म में अ-चेतन कर्म के लिये कोई स्थान नहीं। स-चेतन कर्म को ही यहाँ कर्म कहा जाता है। मार्ग में चलते समय हमारे न जानने पर भी पैर के नीचे दबकर अनेक प्राणी मर जाते हैं, किन्तु उन प्राणियों को मारने की चेतना न होने के कारण अकुशल-कर्म (=पाप) नहीं होता। बिना चेतना के किया गया कोई भी कार्य कर्म में नहीं गिना जाता।

तथापि, एक बात कहनी है, अकुशल न समझ कर अज्ञान-पूर्वक जिस किसी अपराध को व्यक्ति करता है, वह अकुशल है। 'झूठ बोलना पाप है' ऐसा न समझ कर जो कोई बालक झूठ बोले, तो अकुशल ही होगा। क्योंकि उसमें झूठ बोलने की चेतना है। इसलिए कर्म-विभाग में अज्ञान क्षम्य नहीं है। विष पीने से मृत्यु होने को न जान कर भी यदि पिये तो मर ही जायगा।

संसार में विद्यमान अधिकांश प्रवृत्तियों की भाँति कर्म का आरम्भ नहीं कहा जा सकता है। उन-उन द्रव्यों को अपनी ओर खींचनेवाली आकर्षण शक्ति के आरम्भ को नहीं बतलाया जा सकता। विद्युत-शक्ति भी ऐसी ही है। ऐसे ही कर्म का आरम्भ कब हुआ—यह नहीं कहा जा सकता। प्राणियों द्वारा कर्म-संचय किया जाता है, तथापि अमुक समय से प्राणियों द्वारा कर्म संचय किया जा रहा है यह नहीं कहा जा सकता। "ऐसा नहीं हो सकता, सबका कोई न कोई आरम्भ होना ही चाहिये, कर्म संचय करनेवाले प्राणी का भी आरम्भ होना चाहिये।" इस प्रकार कोई प्रश्न कर सकता है। यदि ऐसी बात है तो यह भी प्रश्न किया जा सकता है कि आरम्भ का भी कोई आरम्भ होना चाहिए। इस प्रकार तर्क करके आरम्भ से आरम्भ को ढूँढ़ने पर कभी भी आरम्भ को नहीं जाना जा सकता। संसार में विद्यमान सभी चीजें चार भागों में विभक्त की जाती हैं। (१) कुछ चीजों का आदि है, किन्तु अन्त नहीं। यदि आम की गुठली को नष्ट कर दिया जाय तो उसका अन्त देखा जा सकता है। उससे फिर वृक्ष उपलब्ध नहीं हो सकता। तथापि उसके आदि को नहीं बतलाया जा सकता। इसी प्रकार अविद्या, तृष्णा, और संसार के आदि को भी नहीं जाना जा सकता। (२) कुछ चीजों का अन्त नहीं है, किन्तु आदि है। गिनने का अन्त नहीं है। एक, दो, तीन से प्रारम्भ कर गिनने पर अन्त नहीं हो सकता। सत्त्व, लोक, बुद्ध और कर्म के सम्बन्ध में विचार करके अन्त नहीं पाया जा सकता, इसीलिये ये अचिन्तनीय कहलाते हैं। (३) कुछ चीजों के आदि-अन्त दोनों नहीं हैं। जैसे कि आकाश और निर्वाण। (४) कुछ चीजों के आदि-अन्त दोनों हैं। संसार में विद्यमान अधिकांश चीजें ऐसी हैं। इस लेख का भी आदि और अन्त है। इसके लिए अनेक उदाहरण हैं।

इस प्रकार अविद्या और तृष्णा के कारण किये जाने वाले कर्म के आदि का पता नहीं। जब तक अविद्या तथा तृष्णा के बन्धन में बँधा रहेगा तब तक कर्म का अन्त नहीं होगा। तथापि जिस दिन अर्हत् होकर क्लेशों को नाश कर लेगा, उस दिन कर्म का अन्त हो जायेगा।

कार्य-कारण के सिद्धान्त में आदि कारण को ढूँढ़ना अपनी मूर्खता है क्योंकि कार्य कारण होता है और कारण ही कार्य होता है। कार्य-कारण के अन्तर्गत कर्म का आदि

कारण ढूँढ़ना भी मूर्खता है। नाम-रूप से युक्त यह प्राणी चार आर्य सत्यों को न जानने के कारण अविद्या में पड़ा हुआ पुण्य और पाप करता है। यही पुण्य-पाप प्राणी को संसार में बार-बार उत्पन्न कराते हैं। इसलिए अविद्या कर्म का कारण है, कहना चाहिए। प्राणी प्रज्ञप्ति (=व्यवहार) मात्र है। परमार्थतः वह केवल नाम-रूप का एक पुञ्ज है। जैसे धातुओं (= पृथ्वी, अग्नि, जल, वायु) द्वारा निर्मित वृक्ष फलते समय 'वृक्ष फलता है' ऐसी प्रज्ञप्ति होती है। ऐसे ही नाम-रूप से युक्त व्यक्ति के सुख-दुःख भोगते समय 'व्यक्ति सुख-दुःख भोग रहा है' कहा जाता है। परमार्थतः चेतना और वेदना के बिना कोई न तो कर्म करनेवाला है और न कोई फल भोगनेवाला। फिर प्रश्न हो सकता है कि कर्म कहाँ रहता है? मिलिन्द राजा ने इसी सम्बन्ध में भदन्त नागसेन से पूछा था—

"भन्ते! जब एक नाम-रूप से अच्छे या बुरे कर्म किये जाते हैं तो वे कर्म कहाँ ठहरते हैं?"

"महाराज! कभी भी पीछा नहीं छोड़नेवाली छाया की भाँति वे कर्म उसका पीछा करते हैं।"

"भन्ते! क्या वे कर्म दिखाये जा सकते हैं—यहाँ वे ठहरे हैं?"

"महाराज! वे इस तरह दिखाये नहीं जा सकते।"

"कृपया उपमा देकर समझावें।"

"महाराज! क्या कोई वृक्ष के उन फलों को दिखा सकता है जो अभी लगे ही नहीं—वे यहाँ हैं, वे वहाँ हैं?"

"नहीं भन्ते!"

"महाराज! इसी तरह कर्मों के इस लगातार कभी नहीं टूटनेवाले प्रवाह में वे नहीं दिखाये जा सकते—ये यहाँ हैं।"

"भन्ते! आपने ठीक समझाया।"

कर्म को एकत्र होकर रहने का कोई स्थान अपने भीतर नहीं है? जैसा कि वायु के एकत्र होकर रहने का कोई स्थान नहीं है। कारण होने पर वायु चलती है। इसी प्रकार समयानुसार कर्म का विपाक जाना जा सकता है। वृक्ष में फल लगने की उपमा की भाँति प्राणियों द्वारा किये जानेवाले कर्म के एकत्र होकर रहने का स्थान न होने पर भी वह नाम-रूप के आश्रित होकर रहता है?

सप्त विमुक्ति मन्त्र

त्रिपिटकाचार्य भिक्षु कोंगल शीवली

स्रोतापत्ति, सकृदागामी, अनागामी और अर्हत्—इन चार मार्गों के ज्ञान को प्राप्त करने के लिये स्मृति, धर्म-विचय, वीर्य, प्रीति, प्रश्रब्धि, समाधि और उपेक्षा—इन सहायक धर्मों को 'सात बोध्यंग' कहते हैं। चार मार्गों के ज्ञान को प्राप्त करनेवाले आर्य-श्रावक अथवा योगी के अंग (=अवयव) या हेतु के रूप में उत्पन्न होनेवाले चैतसिक धर्म ही बोध्यंग कहे जाते हैं। और, इन्हें ही भली प्रकार निर्वाण का साक्षात्कार करने तथा प्रशस्त, सुन्दर और श्रेष्ठ होने के अर्थ में सम्बोध्यंग भी कहते हैं।

रोग-निवारण मंत्र

ये सात बोध्यंग केवल क्लेश-प्रहाण करके निर्वाण का साक्षात्कार करने के लिये ही नहीं हैं, प्रत्युत रोगों की शान्ति के लिये अमोघ मंत्र अथवा आरक्षक मंत्र के समान हैं। इनके पाठ करने मात्र से ही भयानक रोग दूर हो जाते हैं और व्यक्ति स्वास्थ्य-लाभ कर लेता है। संयुत्त निकाय के बोज्झङ्ग संयुत्त में (४४-२-४) आयुष्मान् महाकाश्यप के स्वास्थ्य-लाभ करने का वर्णन इस प्रकार आया है—'एक समय भगवान् राजगृह में वेलुवन कलन्दक निवाप में विहार करते थे। उस समय आयुष्मान् महाकाश्यप पिप्फली गुहा में बड़े बीमार पड़े थे। तब, संध्या समय ध्यान से उठ भगवान् जहाँ आयुष्मान् काश्यप थे वहाँ गये और बिछे आसन पर बैठ गये। बैठकर भगवान् आयुष्मान् महाकाश्यप से बोले, "काश्यप! कहो, अच्छे तो हो, बीमारी घट तो रही है न?"

"नहीं भन्ते ! मेरी तबियत अच्छी नहीं है, बीमारी घट नहीं रही है, बल्कि बढ़ती ही मालूम होती है।"

"काश्यप, मैंने यह सात बोध्यंग बताये हैं जिनके भावित और अभ्यास होने से परम-ज्ञान और निर्वाण की प्राप्ति होती है। कौन से सात ? स्मृति सम्बोध्यंग, धर्म-विचय सम्बोध्यंग, वीर्य सम्बोध्यंग, प्रीति सम्बोध्यंग, प्रश्रब्धि सम्बोध्यंग, समाधि सम्बोध्यंग और उपेक्षा सम्बोध्यंग। काश्यप ! मैंने यही सात बोध्यंग बताये हैं, जिनके भावित और अभ्यस्त होने से परम-ज्ञान और निर्वाण की प्राप्ति होती है।"

भगवान् यह बोले। सन्तुष्ट हो आयुष्मान् महा-काश्यप ने भगवान् के कहे का अभिनन्दन और अनुमोदन किया। आयुष्मान् महा-काश्यप उस बीमारी से उठ खड़े हुए। आयुष्मान् महा-काश्यप की बीमारी तुरन्त दूर हो गई।

ऐसे ही जब आयुष्मान् महा-मोग्गलान गृद्धकूट पर्वत पर बड़े बीमार पड़े थे, तब भगवान् ने सात बोध्यंग को सुना कर उन्हें स्वास्थ्य-लाभ कराया था। स्वयं भगवान् भी जब राजगृह के वेलुवन विहार में बीमार पड़े थे, तब आयुष्मान् महाचुन्द से उन्होंने बोध्यंग-सूत्र का पाठ सुना था और तत्काल चंगे हो गये थे।

इस समय भी लंका, बर्मा, कम्बोडिया, स्याम, लोअस आदि बौद्ध देशों में सात बोध्यङ्गों का पाठ रोग-निवारण के निमित्त किया जाता है और रोगी स्वास्थ्य-लाभ कर लेते हैं। 'बोध्यंग सुत्त' रोग-निवारण हेतु परम परित्राण माना जाता है।

आजमगढ़ से प्राप्त बुद्धमूर्त्ति का शीर्षभाग

भावना-क्रम

सैंतिस बोधि-पाक्षिक धर्मों के अभ्यास के बिना चार आर्यसत्यों का ज्ञान नहीं प्राप्त हो सकता, और चूँकि सैंतिस बोधिपाक्षिक धर्मों में सात बोध्यङ्ग भी सम्मिलित हैं, अतः सात बोध्यङ्गों की भावना परम आवश्यक है। जो व्यक्ति निर्वाण का साक्षात्कार करना चाहते हैं अथवा सम्यक् सम्बोधि, प्रत्येक बोधि और श्रावक बोधि में से किसी एक को प्राप्त करने की इच्छा करते हैं; उन्हें चाहिये कि सात बोध्यङ्गों की भावना करें, इन्हें बढ़ायें और इनका अभ्यास करें।

योगी जब शील-विशुद्धि कर नामरूप के अनित्य स्वभाव का मनन करने में लगता है, तब उसके कुशल-चित्त की जो स्मृति होती है वह संसार-वृद्धि का कारण न होकर संसार-विमुक्ति का हेतु होती है, इस प्रकार वह लौकिक होती है, किन्तु जब लोकोत्तर कुशल-चित्त के साथ रहती है, तब लोकोत्तर बोध्यङ्ग कही जाती है। ऐसे ही अन्य बोध्यङ्गों के सम्बन्ध में भी जानना चाहिये। ये बोध्यङ्ग ज्ञान-प्राप्ति की अवस्था में अपने सभी विरोधी धर्मों को दबाकर ऊपर उठ जाते हैं।

चित्त की लीन (= सुस्त) अवस्था, चञ्चल होने की औद्धत्य अवस्था, काम-भोग में लगना, आत्म-पीड़न में लगना, उच्छेद दृष्टि और शाश्वत दृष्टि—ये ऐसी अवस्थायें हैं जो समय-समय पर बोध्यंगों द्वारा दबाई जाती हैं। भगवान् ने 'सात बोध्यंग' ही क्यों कहा? प्राणियों के चित्त की विभिन्न अवस्थाओं का विचार कर। चूँकि चित्त प्रधानतः दो अवस्थाओं में भावना करने योग्य नहीं होता है लीन-अवस्था तथा औद्धत्य अवस्था में। लीन अवस्था कहते हैं सोते हुए की तरह आलस्य में पड़ क्रिया न कर चित्त के छिपकर रहने को और औद्धत्य कहते हैं राख में पत्थर फेंकने से जिस प्रकार राख उड़ती है, वैसे चित्त का संयम-रहित होना। जिस समय चित्त इन दोनों अयोग्य अवस्थाओं में से लीन-अवस्था को प्राप्त होकर अकर्मण्य हो गया हो, उस समय धर्म-विचय सम्बोध्यंग, वीर्य सम्बोध्यंग और प्रीति सम्बोध्यंग की भावना करनी चाहिये। ऐसा करने से चित्त का लीन-भाव दूर हो जाता है। और जिस समय चित्त संयम-रहित, चंचल हो, उस समय प्रश्रब्धि सम्बोध्यंग, समाधि सम्बोध्यंग और उपेक्षा सम्बोध्यंग की भावना करनी चाहिये। इस प्रकार असंयम दूर होगा और संयम आयेगा। चूँकि स्मृति सर्वत्र अपेक्षित है, बिना स्मृति के कुछ भी भावना-कर्म नहीं हो सकता, अतः स्मृति सम्बोध्यंग भी सर्वसाधारण है। जिस प्रकार सब तरकारी में नमक की आवश्यकता होती है, उसी प्रकार स्मृति सर्वत्र होनी चाहिये। स्मृति के साथ रहने से शेष धर्मों का यथा-प्रयोग होता जाता है। स्मृति के बिना चित्त का प्रग्रह और निग्रह नहीं होता है। इसलिये योगी सभी कार्यों की देख-रेख करने वाले अमात्य की भाँति स्मृति से सभी धर्मों का विचार कर अहितकर को त्याग हितकर को ग्रहण करता है। इस प्रकार चित्त की लीन अवस्था के प्रतिपक्षी तीन, औद्धत्य के प्रतिपक्षी तीन और सर्वत्र रहनेवाली स्मृति—सब बोध्यंग सात ही होते हैं।

भावना-क्रम से योगी प्रबल स्मृति से युक्त हो प्रज्ञा से धर्म का चयन करता है, इसलिये सात बोध्यंगों में स्मृति बोध्यंग पहले और धर्म-विचय बोध्यंग बाद में कहा गया है। स्मृति-युक्त हो धर्म-चयन करनेवाला व्यक्ति वीर्य के लिये चित्त लगाता है, उत्साह करता है, इसलिये धर्म-विचय के उपरान्त वीर्य बोध्यंग कहा गया है। आरब्ध वीर्य व्यक्ति को निरामिष प्रीति उत्पन्न होती है, इसलिये वीर्य बोध्यंग के बाद प्रीति सम्बोध्यंग कहा गया है। प्रीति से शारीरिक एवं चैतसिक थकान के शान्त होने के कारण प्रीति के उपरान्त प्रश्रब्धि सम्बोध्यंग कहा गया है। शारीरिक एवं मानसिक थकान के शान्त होने पर चित्त समाधिस्थ अर्थात् एकाग्र होता है। अतः प्रश्रब्धि के बाद समाधि सम्बोध्यंग कहा गया है। चित्त के एकाग्र होने पर उन उन धर्मों में उपेक्षा अर्थात् मध्यस्थता उत्पन्न होती है। इसलिये समाधि के बाद उपेक्षा सम्बोध्यंग कहा गया है। इस प्रकार सातों बोध्यंग क्रमशः कहे गये हैं।

सभी बोध्यङ्ग—विवेक निश्रित, विराग निश्रित, निरोध निश्रित और वोसग्ग परिणाम—चार प्रकार के होते हैं। विवेक कहते हैं काय, चित्त, और उपधि; तथा तदंग, विष्कम्भन, समुच्छेद, पटिप्पस्सद्धि, निस्सरण—इन धर्मों से युक्त होने को। निष्कामता के विचार से संघ या समूह को त्याग कर एकान्त-वास करने से प्राप्त विवेक को काय-विवेक कहते हैं। कामच्छन्द आदि पाँच नीवरणों को दबाकर प्रथम, द्वितीय, तृतीय और चतुर्थ ध्यान तथा आकाशानन्त्यायतन, विज्ञानानन्त्यायतन, आकिञ्चन्यायतन और नैवसंज्ञानासंज्ञायतन—इन आठ समापत्तियों को प्राप्त करना चित्त-विवेक है। काम, क्लेश, स्कन्ध और अभिसंस्कार—इन चार प्रकार की उपधियों से मुक्त होना उपधि-विवेक है।

रूप, शब्द, गन्ध, रस, स्पर्श—इन पाँचों का काम-

क्लेश से युक्त सुख, सौमनस्य और दौर्मनस्य का आधार होना काम-उपधि है। चूँकि राग, द्वेष, मोह आदि अकुशल धर्म दुर्गति प्राप्त कराने के आधार होते हैं, अतः इन्हें क्लेश-उपधि कहते हैं। रूप, वेदना, संज्ञा, संस्कार, विज्ञान—यह पञ्चस्कन्ध जन्म, बुढ़ापा, मृत्यु, शोक, परिदेव, दुःख, दौर्मनस्य आदि का आधार होता है, अतः इसे स्कन्ध उपधि कहते हैं। पुण्य, पाप आदि सांसारिक दुःख के आधार हैं, अतः इन्हें अभिसंस्कार उपधि कहते हैं।

जब तक प्रदीप जलता रहता है, तब तक उसके आलोक से अन्धकार नहीं होता है, वैसे ही स्मृति के होने तक मूढ़ता नहीं होती। धर्म-विचय से धर्म न जानने की अविद्या, वीर्य से आलस्य, प्रीति से द्वेष, प्रश्रब्धि से शारीरिक तथा मानसिक थकान, समाधि से विक्षेप (=चंचलता), उपेक्षा से वैर-भाव और अनुकम्पा—इस प्रकार क्रमशः उन-उन अंगों का क्लेशों से मुक्त होना तदङ्ग विवेक कहलाता है। प्रथम ध्यान-से लेकर आठ समापत्तियों के बल से क्लेशों को दबाना, दूर करना, विष्कम्भन विवेक कहलाता है। स्रोतापत्ति आदि मार्ग-अवस्था में क्लेशों का अनुत्पाद या निरोध ही समुच्छेद विवेक है। मार्ग से क्लेशों को नष्ट करने की अवस्था में उत्पन्न गर्मी प्रहाण अथवा शान्त होने की अवस्था में बिल्कुल ही शान्त हो जाती है, उसे ही पटिप्पस्सद्धि विवेक कहते हैं। निर्वाण को आलम्बन करके सब क्लेशों से निकल जाना, निस्तार पा जाना अथवा छूट जाना ही निस्सरण विवेक है। इस प्रकार सभी बोध्यंग विवेक-निश्रित हैं।

क्लेशों से न चिपटना विराग निश्रित है। क्लेशों को फिर से न उत्पन्न होने देकर निरुद्ध कर देना निरोध निश्रित है। वोस्सग दो प्रकार का होता है परित्याग और पक्खन्दन। क्लेश को त्यागना परित्याग वोस्सग और निर्वाण की ओर दौड़ना पक्खन्दन वोस्सग कहा जाता है।

इस प्रकार बोध्यंग मार्ग-फल की भूमियों में विवेक, विराग और निरोध आश्रित हो उत्पन्न होते हैं और वोस्सग परिणाम को भी प्राप्त करते हैं।

सात फल

भगवान् ने कहा है :—

"भिक्षुओ! सात बोध्यंग को छोड़ मैं दूसरे किसी एक धर्म को भी नहीं देखता हूँ जिसकी भावना और अभ्यास से बन्धन में डालनेवाले धर्म प्रहीण हो जायँ।" (संयु० नि० ४४. ३. ९)

"भिक्षुओ! इस प्रकार सात बोध्यंगों के भावित और अभ्यास हो जाने पर उसके सात अच्छे परिणाम होते हैं। कौन से सात? (१) अपने देखते ही देखते परम ज्ञान को पैठ कर देख लेता है। (२) यदि नहीं, तो मरने के समय उसका लाभ करता है। (३) यदि वह भी नहीं, तो पाँच नीचे वाले संयोजनों के क्षीण हो जाने से अपने भीतर ही भीतर निर्वाण पा लेता है। (४) यदि वह भी नहीं, तो पाँच नीचे वाले संयोजनों के क्षीण हो जाने से आगे चलकर निर्वाण पा लेता है। (५) यदि वह भी नहीं, तो असंस्कार परिनिर्वाण को प्राप्त करता है। (६) यदि वह भी नहीं, तो ससंस्कार परिनिर्वाण को प्राप्त करता है। (७) यदि वह भी नहीं, तो ऊपर उठनेवाला, श्रेष्ठ मार्ग पर जाने वाला (ऊर्ध्व स्रोत अकनिष्ठगामी) होता है।" (संयुत्त नि० ४४. ३. १)

"भिक्षुओ! यह सात बोध्यंग चक्षु देनेवाले, ज्ञान देने वाले, प्रज्ञा की वृद्धि करने वाले, परेशानी से बचाने वाले और निर्वाण की ओर ले जाने वाले हैं। उनके भावित और अभ्यस्त होने से विद्या और विमुक्ति के फल का साक्षात्कार होता है।" (सं० नि० ४४. ४. १०)

देवता—पुत्रों वाला पुत्रों से आनन्द करता है,
वैसे ही गौवों वाला गौवों से आनन्द करता है,
सांसारिक वस्तुओं से ही मनुष्य को आराम होता है,
जिसे कोई वस्तु नहीं, उसे आनन्द भी नहीं।

बुद्ध—पुत्रों वाला पुत्रों की चिन्ता में रहता है,
वैसे ही गौवों वाला गौवों की चिन्ता में रहता है,
सांसारिक वस्तुओं से ही मनुष्य को चिन्ता होती है,
जिसे कोई वस्तु नहीं, उसे चिन्ता भी नहीं।

—संयुत्त-निकाय १. २. २

जापान के कुछ बौद्ध कवि और उनकी कवितायें

अनुवादक—श्री चन्द्रभाल

जहाँ जहाँ तक दृष्टि दौड़ती
मेरी कुटिया की सब ओर,
एक झोपड़ी तक न दिखाती;
निर्जन मेरा दिल झकझोर—

दबा रहा, जैसे पतझड़ की संध्या में उतरे तम घोर।

रीयो जेन] [११ वीं शताब्दी

–२–

यदि दुःखों से भरे जगत में रहना मुझे हताश
जहाँ सुखों के शवपर लहराता है करुण विनाश,
एक मात्र मेरा सहचर
चारु चन्द्र चमका नभ पर,
जब सब छोड़ चले, यह तब भी भरता नित मृदुहास।

सम्राट् संजो] [१०१२–१५

–३–

इस निर्झर की मधुर रागिनी कल-कल ध्वनि मृदु मादक
बहुत दूर तक थी प्रसिद्ध जैसे समीप, स्वर वादक !
आज यदपि यह मौन; रुका इसका प्रवाह, किस युग से ?
फिर भी स्मृति श्रवणों में इसका वही राग सुन पड़ता,
वही मधुर छल छल मंजुल ध्वनि हे निर्जन आराधक !

किन्तो स्टेट का मन्त्री] [मृत्यु १०४१

–४–

यह मेरा छोटा सा मन्दिर खड़ा अकेला मौन,
एक न कुटिया इसके पास
राही इधर न आते, रुकते, गाता गायन कौन ?
चढ़ी लताएँ कर स-त्रास
बता रहीं पतझड़ आया है, लगने लगा दिनान्त उदास।

ये केई] [१० वीं शताब्दी का अन्त

–५–

इस एकान्त विजन में रहता
कभी न मानव रूप देखता
अब तो सहानुभूति स्नेह का हममें मृदु व्यवहार—
होगा ओ पर्वत, झड़बेरी के नव विटप उदार,
कोई मेरा मित्र न संगी, तुम मेरे संसार।

ग्योसोन] [मृत्यु ११३५ ई०

एक प्राचीन जापानी कहानी

नागासाकी

श्री विश्वम्भरनाथ पांडे

यह सन् १५७६ ईसवी की बात है। बसन्त ऋतु ने शीत में ठिठुरे हुए जापान को गुदगुदाना प्रारम्भ कर दिया था। मादक समीर विह्वल होकर बह रहा था। चेरी वृक्ष यौवन का उपहार लेकर प्रकृति का अञ्चल भर रहे थे। मौसम सुहावना हो गया था। चारों ओर जीवन और हलचल दिखाई दे रही थी।

जापान में ऐसा ही मौसम तीर्थयात्रा के उपयुक्त समझा जाता है। ठीक इसी ऋतु में पूर्वोत्तर जापान के एक जिले से यात्रियों का एक दल विविध तीर्थ-स्थानों के दर्शनार्थ निकल पड़ा। उनका विचार इसे के महामन्दिर और शिकोकु के कोम्पिर मन्दिर के दर्शन का भी था। यात्री लगभग सभी ग्रामीण और मध्यम श्रेणी के थे। हां, एक १९ वर्ष का सुन्दर सामुराइ ※ नवयुवक भी उनके साथ हो लिया था।

यह यात्री-दल भ्रमण करता हुआ एक दिन इसे प्रान्त में मतसुजाका ग्राम में पहुँचा। इस गाँव के कारीगर व्यापारी अत्यन्त सुन्दर पंखे बनाकर बेचते थे। इनमें भी ओगिय नामक व्यापारी अपने सुन्दर पंखों के लिये चारों दिशाओं में मशहूर था। यात्री दल खोजता हुआ ओगिय की दूकान में पहुँचा। सभी ने अपने-अपने प्रियजनों को उपहार देने के लिये उस दूकान से पंखे खरीदे। दूकान में पंखों से भी अधिक जिस चीज ने यात्रियों का ध्यान आकर्षित किया वह पंखा बेचनेवाली ओगिय की षोडश वर्षीया पुत्री थी। उसके चेहरे से सौन्दर्य मानों बरस रहा था। उसके भोले चम्पई मुख पर खेलती हुई अलकावलि उसके रूप पर चार चाँद लगा रही थी। सामुराइ युवक तो सुध-बुध भूलकर उसे निहारने लगा। ओगिय-पुत्री भी सुन्दर सामुराइ युवक को देखकर प्रेमाकर्षण में डूब गई। उसने तरह-तरह के कलापूर्ण पंखे सामुराइ युवक को दिखाये और अन्त में बन्द आलमारी से एक अत्यन्त उत्कृष्ट कलापूर्ण पंखा निकाल कर उपहारस्वरूप सामुराइ युवक को देते हुए कहा—

"यह मेरा विनम्र उपहार स्वीकार करिये। ऐसा सुन्दर पंखा कठिनाई से कहीं प्राप्त होगा। इसे 'होयानो' के रूप में आप अपने निकट रखें।"

युवक सामुराइ को 'होयानो' का अर्थ नहीं मालूम था फिर भी ऐसा अनमोल पंखा, ऐसी अनुपम सुन्दरी द्वारा उपहार स्वरूप पाकर उसने अत्यन्त प्रसन्नता से उसे स्वीकार कर लिया। इस उपहार के देने में जो भावना थी उससे यद्यपि सामुराइ पूरी तरह अवगत नहीं था फिर भी उपहार दात्री उसे पूरी तरह समझ रही थी।

क्रय-विक्रय के बाद यात्री दल उस गाँव से ओशु के लिये रवाना हो गया। उस प्राचीन काल में ओशु और इसे दो अलग-अलग दुनिया की तरह थे। साधारण यात्री के लिये दोनों का फासला जीवन और मृत्यु की तरह था। दल में कई युवकों को सामुराइ के भाग्य पर ईर्षा हो रही थी। ओगिय की सुन्दरी कन्या के उपहार को लेकर वे सामुराइ से द्वेषपूर्ण विनोद करने लगे।

उनमें से सबसे अधिक दुष्ट प्रकृति के एक युवक ने चर्चा चलाते हुए कहा—

"इसमें ईर्षा की कोई बात नहीं। तुम लोगों को याद है कि सुन्दरी ने उपहार देते हुए यह कहा था कि इसे 'होयानो' की तरह रखना ?"

सभी ने एक साथ प्रश्न किया—

"तो तुम्हारी समझ से 'होयानो' का क्या अर्थ है ?"

उस दुष्ट युवक ने उत्तर दिया—

"क्यों, ओशु की भाषा में 'होयानो' का अर्थ भिख-

※ प्राचीन जापान का सामन्ती उच्च वर्ग भारत के क्षत्रिय राजकुल की तरह।

मंगा है। हमारे नवयुवक और कुलीन सामुराइ के लिये इससे अधिक अपमानजनक बात और क्या हो सकती है कि मध्यम-श्रेणी की एक गरीब लड़की उसे भिखमंगा कहने का साहस करे।''

यह सुनकर दल के सभी युवकों ने बनावटी सर्द आहें भरीं और इस बात पर जोर देना शुरू किया कि हमारे दल के सबसे कुलीन युवक का ऐसा फूहड़ अपमान किया गया। उन्होंने इसका भी संकेत किया कि यदि सामुराइ के पिता को इस अपमान का पता चलेगा तो उसे दारुण कष्ट होगा। इस घटना की इतनी चर्चा की गई कि सामुराई युवक ने अन्त में यह निश्चय किया कि वह वापस जाकर पंखे को लौटा देगा और उस षोडशी से अपने अपमान का बदला लेगा। दल के युवकों ने तुरन्त ही उसकी इस योजना से सहमति प्रकट की। एक दिन दल से कटकर युवक सामुराइ आगे शामिल होने का विश्वास दिलाकर मतसुज़ाका की ओर रवाना हो गया।

[२]

एक दिन अचानक दोपहरी में ओगिय-कन्या ने सहसा देखा कि उसकी कल्पनाओं और सपनों का प्रियतम, उसका मानस चोर उसके सामने खड़ा है। उसकी प्रसन्नता का वारपार न था। किन्तु उसे हैरानी थी कि वह इतने शीघ्र फिर कैसे लौट आया। षोडशी ने अत्यन्त प्रेम के साथ उसका स्वागत किया। युवक ने फिर पंखे देखने का आग्रह किया। सुन्दरी उसे दूकान के भीतर आलमारियों में सजे हुए तरह-तरह के पंखे दिखाने लगी। युवक ने उस एकान्त अवसर को उपयुक्त समझ कर तुरन्त अपनी तलवार निकाली और उस सुन्दरी का बध कर डाला। उसके बाद शीघ्रता से दूकान से निकल कर उसने वह गाँव पार किया और फिर भागता हुआ दो दिन की मंजिल तय करके यात्री दल में शामिल हो गया।

यात्री दल के युवक जब एकान्त में सामुराइ से मिले तो उसने माथे का पसीना पोंछते हुए अपने प्रतिशोध की बात सुनाई। उनमें से किसी को इतने भयङ्कर बदले की कल्पना न थी। हत्या की बात सुनकर उनके दुष्ट और कायर हृदय भय से काँपने लगे। उन्होंने मन में सोचा कि यदि सामुराइ उनके साथ यात्रा करता है तो वे सब के सब हत्या के आरोप में फँस सकते हैं। उन्होंने सामुराइ से कहा कि उसे दल से अलग यात्रा करनी चाहिये। सामुराइ ने जब म्यान से तलवार निकाल कर उन्हें उसमें लगा हुआ ओगिय-तनया का रक्त दिखाया तो वे परिणाम की आशंका में भय से थर-थर काँपने लगे। सामुराइ को भी धीरे-धीरे अनुभव होने लगा कि उसने भीषण नादानी का काम किया है। उसके मन में पश्चाताप का उदय हुआ किन्तु इस पश्चाताप का क्या मूल्य था। सामुराइ ने दल वालों से प्रार्थना की कि वह इस विदेश में एक अजनबी है। उसको वे लोग अभी साथ से अलग न करें। उसने यह प्रतिज्ञा की कि यदि हत्या के आरोप में वह पकड़ा जायगा तो वह सारा दोष अपने ऊपर ओढ़ लेगा। किसी और के ऊपर आँच न आने देगा। दल वाले अन्त में इस बात पर राजी हो गए।

[३]

गाँव की सर्वश्रेष्ठ सुन्दरी की हत्या से मतसुज़ाका में स्वभावतः भयङ्कर आतङ्क छा गया। ओगिय उस गाँव का सब से अधिक सम्माननीय व्यक्ति था और उसकी कन्या की गणना प्रान्त की सर्वश्रेष्ठ सुन्दरियों में की जाती थी। वह सुशिक्षित, सुसंस्कृत और देवी-देवताओं की भक्त थी, विशेष कर दया की देवी 'क्वानान' की वह अनन्य भक्त थी। अपनी इस छोटी-सी आयु में वह अनेक तीर्थ स्थानों में हो आई थी। धर्म में उसे इतना अगाध विश्वास था कि मृत्यु से उसे कोई भय न था। किन्तु उसके इस शोकजनक असामयिक अन्त से ग्रामवासी रोष से भर गए। पिछले कई महीने से ओगिय अपनी कन्या के लिये वर की तलाश में था और चूँकि वही उसकी सम्पत्ति की उत्तराधिकारिणी थी इसलिये वह उस दिन की प्रतीक्षा में था जब उसकी स्नेहशील कन्या उसका पारिवारिक नाम ग्रहण करेगी। माँ-बाप दोनों गम में डूबे हुए थे। दिन-रात उनकी आँखों से अश्रु धारा बहती रहती थी। कितना ही लोग उन्हें दिलासा देते थे किन्तु उन्हें शान्ति न प्राप्त होती थी। रह-रह कर उनकी बूढ़ी

आत्मा अपनी एक मात्र सन्तान के लिये चीत्कार कर उठती थी।

इधर सामुराई यात्री-दल के साथ अनेक तीर्थ-स्थानों का भ्रमण करता हुआ फिर रहा था। उसके पिता सदायु ने यात्री-दल के लोगों से प्रार्थना की थी कि वे उसके बेटे को और अनेक तीर्थ-स्थानों में ले जायँ। स्वयं अपनी सुरक्षा की दृष्टि से उन लोगों ने आपस में प्रतिज्ञा कर ली थी कि कभी हत्या की बात अपने मुँह से न निकालेंगे। हत्यारे को भी इससे सन्तोष था।

हत्यारे तत्सुजीरो के गुरु का नाम जित्सुगन था। जित्सुगन के पास ही उसने अनेक विद्याओं की शिक्षा पाई थी। यात्रा से लौटने के बाद तत्सुजीरो अपने गुरु को प्रणाम करने गया। वृद्ध गुरु स्वयं उन तीर्थ-स्थानों में भ्रमण कर आया था। गुरु शिष्य दोनों अपने-अपने अनुभवों की तुलना करने लगे। शिष्य अपने गुरु के लिये अनेक प्रकार का उपहार लाया था। गुरु उन्हें पाकर बहुत प्रसन्न हुआ। गुरु को शिष्य ने एक अत्यन्त कलापूर्ण पंखा भी भेंट किया। गुरु ने ऐसा चमत्कृत उपहार पाकर शिष्य को हार्दिक आशीर्वाद दिया। उसने यह स्वीकार किया कि ऐसा सुंदर पंखा उसने अपने जीवन में कभी नहीं देखा।

थोड़े दिनों के बाद गुरु के पास यात्री-दल के और अनेक लोग आए। गुरु का एक दूसरा शिष्य असातारो भी आया। वह यात्री-दल के साथ भ्रमण करने गया था। असातारो ने पंखा देखकर कहा कि यह तो तत्सुजीरो के पास था। गुरु ने कहा कि हाँ, उसी ने दिया है और यह भी कहा कि सुन्दरता और कला की दृष्टि से अपूर्व है। असातारो ने गुरु को बताया कि तत्सुजीरो ने उसे गुरु को उपहार देने के लिए नहीं खरीदा था वरन् एक सुन्दरी स्त्री ने उसे स्वयं उपहार में दिया था। सहसा युवक को याद आया कि उसने प्रतिज्ञा की थी कि इस सम्बन्ध में वह आजीवन एक शब्द भी मुँह से न निकालेगा। उसे मन ही मन बहुत पश्चाताप हुआ किन्तु तीर निकल चुका था। गुरु ने कुरेद-कुरेद कर पूछना शुरू किया और अन्त में हत्या की समस्त घटना उसे मालूम हो गई।

[४]

हत्या का विवरण जानने के बाद गुरु बड़ी द्विविधा में पड़ गया। यदि वह युवक के पिता को सूचना देता है तो वृद्ध न केवल अपने पुत्र को उत्तराधिकार से वंचित कर देगा वरन् भीषण दण्ड भी देगा। किन्तु यदि वह सत्य को छिपाता है तो धर्मराज बुशीदो इसके लिये उसे क्षमा न करेंगे। सब दृष्टियों से विचार करने के बाद उसने बूढ़े सदायु को बुलवा भेजा और जिन परिस्थितियों में यह हत्या हुई थी विस्तार के साथ वह सब बता दी। गुरु ने खूनी पंखा वृद्ध पिता की आश्चर्य-चकित आँखों के सामने फैला दिया। वृद्ध का हृदय सारी बातें सुनकर असीम दुख से भर गया। वह कातर होकर कहने लगा—

"हे मेरे बेटे! यह तुमने क्या किया? कौन सा पाप तुम्हारे सर पर सवार हुआ कि तुम मेरी सारी शिक्षाओं को भुला बैठे। तुमने मेरी जिन्दगी के अन्तिम दिनों को तलख बना दिया। तुमने मेरे सफेद बालों पर कालिमा पोत दी। हाय! बुद्ध और कन्फुत्सु की शिक्षाएँ भी तुम्हें सीधे मार्ग पर न रख सकीं। मेरे बेटे! तुमने सबसे बड़ा पाप यह किया कि इस पाप को मुझसे छिपा कर रखा। सामुराइ कभी अपराध छिपाने का दोषी नहीं होता। हाय मेरे बेटे! तुमने यह क्या किया।" यह कह कर वृद्ध दुःख से सिसकियाँ भरने लगा। फिर जरा शान्त होकर गुरु से पूछा—

"आप कहते हैं कि तत्सुजीरो ने इसलिये उसकी हत्या की क्योंकि उसने उसे 'होयानो' कहकर सम्बोधन किया था। आखिर इसका अर्थ क्या है?"

गुरु ने कहा—"इसका अर्थ है कि वह युवती तुम्हारे बेटे से प्रेम करती थी। 'होयानो' का अर्थ है—प्रेम का शिकार।"

वृद्ध ने शान्त होने पर अपने कर्तव्य का निश्चय किया। उसके पुत्र ने खानदान के यश पर बट्टा लगा ही दिया था। इस घृणित पुत्र को उत्तराधिकार से तो वंचित करना ही होगा। गम्भीरता से इस पर विचार करने के बाद उसने अपने पुत्र को तलब किया और उसे अपना निश्चय बता दिया। युवक ने खंजर निकाल कर तत्क्षण 'हरा

किरी' करके अपनी जान दे देनी चाही किन्तु गुरु ने रोका उसने युवक से कहा—

"जल्दबाजी से न यह लोक सुधरेगा और न परलोक। मृत्यु भी प्रायश्चित के लिये यथेष्ट नहीं। फिर भी तुम्हारा प्रायश्चित्त सच्चा है। तुम अपने अपराध के लिये आत्म-घात करने को तैयार हो किन्तु तुम्हारी मृत्यु से उस युवती के दुखी माता पिता को कोई शान्ति न मिलेगी। उससे उनकी मृत बालिका वापस न आ जायगी। न तुम्हारी मृत्यु से मृतात्मा को शान्ति मिलेगी। तुम सतसुजाका ग्राम में वापस जाओ। शुरू से आखीर तक सारी कहानी युवती के माँ-बाप को सुनाओ और तब जिस तरह वे चाहें मृत्यु का स्वागत करो।"

गुरु ने इसके पश्चात् हियेजान मन्दिर से प्राप्त सफेद वस्त्रों का एक जोड़ा और 'रञ्जताइ' नामक अप्राप्य और दुर्लभ धूप युवक को देकर कहा कि—"ये दोनों वस्तुएँ मैंने अपने निर्वाण के लिये पचास वर्षों से सहेज कर रखी थीं, यह मैं तुम्हें दे रहा हूँ। जाओ! मृत्यु से भयभीत न होना। मरने से पूर्व यह सफेद वस्त्रों का बाना 'किमोनो' पहन लेना। परिवार और अपने व्यक्तिगत सम्मान से मूल्यवान वस्तु संसार में दूसरी नहीं है। मेरे लिये यह कोई बहुत सुखद कार्य नहीं है कि मैं तुम्हें इस तरह मौत का आलिंगन करने भेज रहा हूँ किन्तु मुझे विश्वास है कि तुम हँसते हँसते मृत्यु का स्वागत करोगे।

(५)

ओगिय की कन्या की मृत्यु हुए आज पचासवाँ दिन था। तब से लगातार परिवार के सदस्य और मित्र आत्मा की शान्ति के लिये बौद्ध धर्म के अनुसार पूजा-पाठ कर रहे थे। दिन-रात प्रार्थना चल रही थी। तत्सुजीरो जब उस गाँव में पहुँचा तो ओगिय की दूकान बन्द पाई। वह उसके घर गया। घर खुला था। आवाज देने पर नौकर ने आकर कहा "दूकान बन्द है। हमें दुःख है हम आपको पंखे न बेच सकेंगे।" युवक ने कहा—"मैं पंखे लेने नहीं आया, मैं ओगिय से भेंट करना चाहता हूँ।" उसे एक निकट के कमरे में बैठा दिया गया। प्रतीक्षा करते हुए वह सोचने लगा कि कुछ समय के पश्चात् वह स्वर्णिम अवसर प्राप्त होगा कि जो सुन्दरी उसे हृदय से प्यार करती थी वह स्वयं उसके पास पहुँच जायगा और अपने कुकृत्य के लिये क्षमा-याचना करेगा। यह कह कर उसने सामने जलती हुई धूपदानी में थोड़ी से रञ्जताइ नामक अनमोल धूप डाल कर देवताओं की प्रार्थना की। धूप की मोहक सुगन्ध कमरे में भर गई और वायु में विलीन होकर देवताओं को आकर्षित करने लगी।

कुछ क्षणों के बाद ओगिय ने कमरे में प्रवेश किया। तत्सुजीरो ने अभिवादन के पश्चात् अपना परिचय देकर आदि से अन्त तक सारी दुःखजनक कहानी सुनाते हुए अपने आने का उद्देश्य बताया। दृढ़ निश्चय ने उसकी वाणी में गम्भीरता भर दी थी। उसकी आँखों में पश्चात्ताप की लहरें हिलोरें मार रही थीं। उसके मुख पर समर्पण की छाप थी और अपना कर्तव्य पूरा करने की आस्था के कारण सन्तोष का प्रतिबिम्ब था। गम्भीर किन्तु नपे तुले शब्दों में युवक ने कहा—

"मैं अपना जीवन आपको सौंपने आया हूँ। आप जिस प्रकार चाहें मुझसे प्रतिशोध लें। जहाँ तक मेरा सम्बन्ध है मैं यह दृढ़ निश्चय करके आया हूँ कि शीघ्र से शीघ्र मृतात्माओं के देश में पहुँच कर आपकी कन्या ओत्सुरु से क्षमा-याचना करूँ।"

वृद्ध ओगिय सारी कथा सुनकर स्तब्ध रह गया। थोड़ी देर गौर करने के बाद उसने कहा कि इस सम्बन्ध में कोई निर्णय करने से पूर्व वह अपने कुटुम्बियों और मित्रों से परामर्श करेगा। उसने सबको बुलाया और अलग कमरे में जाकर सारी कथा दोहराई। बहुत देर तक परामर्श करने के बाद उसने तत्सुजीरो के पास आकर कहा—

"मेरी कन्या ओत्सुरु तुमसे प्रेम करती थी और अपने प्रेम के चिन्ह-स्वरूप तुम्हें उसने अन्यतम उपहार भेंट किया और दुर्भाग्य से तुमने उसका अर्थ न समझा और तुम्हें गलतफहमी हुई। तुमने अपने सम्मान की रक्षा के लिये भ्रमवश ओत्सुरु की हत्या कर दी; किन्तु चूँकि तुम्हें अब दारुण पश्चात्ताप है और तुमने हमारे प्रतिशोध के लिये आत्म-समर्पण कर दिया है तो हम समझते हैं कि जहाँ तक न्याय का सम्बन्ध है वह पूरा हो चुका। सारी बातें सुनने के पश्चात् अब हमारे हृदय में तुम्हारे लिये

बजाय घृणा के सहानुभूति है। तुमने जिस निर्भीकता और कर्तव्य परायणता का परिचय दिया है उससे तुम्हारे दृढ़ चरित्र का पता लगता है। जब पक्षी शिकारी से बचने के लिये शिकारी की ही गोद में जा पड़े तो क्या कोई शिकारी इतना निर्दय होगा कि वह उसकी हत्या करे। यदि वह इनसान है तो ऐसा नहीं करेगा। इसी तरह न तो हम तुम्हारे प्राण लेना चाहेंगे और न तुम्हें अपने प्राण लेने देंगे। एक ऐसे व्यक्ति की हत्या करने से, जिसे हमारी अनुपम कन्या हृदय से प्यार करती थी, उसे स्वर्ग में भी दुःख पहुँचाना होगा। किन्तु हमारी तुमसे एक माँग है। और वह यह कि तुमने हमारे वंश की रक्षा करने वाली एक मात्र सन्तान को हमसे छीन लिया इसलिये हम तुमसे प्रार्थना करते हैं कि तुम दत्तक पुत्र बनकर हमारे वंश का नाम अंगीकार करो। इसमें तुम्हारे लिये बहुत सम्मान की बात न होगी क्योंकि तुम कुलीन सामुराइ हो और हम मध्य श्रेणी के लोग हैं। किन्तु तुम उस महिला के पति बनो जो तुम्हें हृदय से प्यार करती थी। यद्यपि अब वह इस असार संसार को छोड़कर चली गई है तब भी तुम उससे विवाह करोगे। तुम्हारा विवाह संस्कार ओत्सुरू की 'इहाइ' (समाधि के ऊपर का पत्थर जिसमें मृत व्यक्ति का नाम लिखा जाता है) के साथ सम्पन्न होगा।''

यद्यपि यह प्रार्थना नितान्त आश्चर्यजनक थी किन्तु तत्सुजीरो ने उसे स्वीकार कर लिया। इसके बाद विवाह समारम्भ उसी धूम-धाम से हुआ मानो 'इहाइ' की जगह जीवित ओत्सुरु ही है। जब लड़के के पिता सदायु ने यह समाचार सुना तो उसने सहर्ष तत्सुजीरो को ओगिय का दत्तक बनने की अनुमति दे दी। सदायु और वृद्ध गुरु जित्सुगन ने देवताओं को धन्यवाद दिया कि इस दुर्भाग्य-पूर्ण घटना का इस प्रकार सन्तोषजनक अन्त हुआ।

(६)

दामाद की हैसियत से तत्सुजीरो हर दृष्टि से एक आदर्श युवक साबित हुआ। शीघ्र ही उसकी उदारता और सच्चरित्रता की कीर्ति चारों ओर फैलने लगी। वह व्यापार-उद्योग देखने के अतिरिक्त बोधिसत्त्व की अनन्य उपासना में संलग्न रहा करता था। ओगिय इतना सज्जन दामाद पाकर बहुत प्रसन्न था किन्तु उसे यह भी चिन्ता थी कि उसका वंश कायम न रहेगा। जीवित पत्नी से उत्तराधिकारी की आशा की जा सकती है किन्तु मृतात्मा से जीवित सन्तान तो नहीं हो सकती। उसने तत्सुजीरो से याचना की कि वह एक दूसरी लड़की से विवाह करे और इसके लिए कातो नामक एक स्वस्थ सुन्दरी लड़की भी तलाश ली। तत्सुजीरो ने पहले तो जबर्दस्त आपत्ति की किन्तु फिर इस शर्त पर प्रस्ताव स्वीकार कर लिया कि जब तक वह ओत्सुरु की आत्मा की शान्ति के लिये एक हजार सूत्र पाठ न कर ले तब तक विवाह न करेगा। यूँ उसे इस आध्यात्मिक विवाह से ही पूर्ण सन्तोष है।

तत्सुजीरो नित्य रात्रि को नियम पूर्वक अलभ्य रञ्ज-ताइ धूप जलाकर ओत्सुरु की आत्मा का आह्वान कर के उससे अपने कृत्य के लिये क्षमा याचना करता। फिर बोधिसत्व के ध्यान में डूब जाता। ऐसा करते-करते उसे लगभग एक हजार रात्रि हो चुकी थी। एक रात को जब वह ओत्सुरु की आत्मा से क्षमा याचना कर रहा था सहसा उसने आँखें खोलीं और जो कुछ सामने देखा उससे हैरान रह गया।

उसने देखा कि ओत्सुरु साकार स्त्री रूप में उसके सामने खड़ी है। उसकी सुन्दरता और अधिक आकर्षक और कमनीयता और अधिक मोहक हो गई थी। वह देखने में स्वर्ग की अप्सरा-सी लगती थी। उसके शरीर पर दिव्य वस्त्राभूषण थे। उसने प्रेमपूर्ण वचनों से तत्सु-जीरो का कुशल-क्षेम पूछा फिर बताया कि उसकी प्रार्थ-नाओं से प्रभावित होकर यमराज ने उसे उसके पास आने की अनुमति दे दी है। ओत्सुरु ने याचना की कि वह इसी तरह नित्य रात्रि को अलभ्य धूप जलाकर उसका आवाहन किया करे ताकि धूप की कुण्डलियों में बैठकर वह उसके पास आ सके। प्रत्येक रात्रि वह उसके पास आती और दोनों का प्रेम सम्मिलन होता। एक दिन ओत्सुरु ने उससे कहा कि वह उसकी समाधि पर ६ रुपये और कोरे कपड़े का एक टुकड़ा चढ़ा आवे और अब १३ दिन तक वह न आएगी। तत्सुजीरो ने यही किया

और उसे थोड़ी देर में यह देखकर बड़ी हैरानी हुई कि यकायक रुपये और कपड़ा दोनों समाधि से अदृष्ट हो गये।

१३ दिन बीतने के उपरान्त तत्सुजीरो ने फिर उसका आवाहन किया। इस बार ओत्सुरु जब आई तो उसकी गोद में एक अत्यन्त सुन्दर शिशु था। ओत्सुरु ने शिशु को अपने पति को देते हुए कहा—

"प्रियतम! यह तुम्हारी थाती है। तुम इसे इस तरह पालना जिससे यह एक दिन बड़ा होकर हमारे नाम को अमर करे।"

"विदा! प्रियतम विदा! सदा के लिए विदा!" यह कहकर ओत्सुरु अदृश्य हो गई।

[७]

प्राचीन ऐतिहासिक ग्रन्थों में इस बात का उल्लेख है कि ओत्सुरु का शिशु 'नागासाकी' एक दिन बड़ा होकर सभी विद्याओं में पारंगत हुआ। उसकी प्रतिभा और उसके अपूर्व चरित्र के कारण सारे देश में उसका सम्मान बढ़ा। उसी के नाम से जापान का प्रसिद्ध नागासाकी नामक नगर आबाद हुआ। आज भी उसकी स्मृति में नागासाकी नगर में 'योया कुजी' नामक एक अत्यन्त भव्य और विशाल मन्दिर खड़ा हुआ है जहाँ लाखों यात्री प्रति वर्ष आकर महान् सन्त नागासाकी की स्मृति में अपनी श्रद्धा-भेंट चढ़ाते हैं।

× × ×

संसार के सभी वैज्ञानिकों को इस बात पर महान् आश्चर्य है कि द्वितीय विश्व-युद्ध में अमरीकियों द्वारा फेंके गए एटम बम से समस्त नागासाकी का शहर नष्ट हो गया किन्तु महान् सन्त की स्मृति में योयाकुजी के मन्दिर को जरा सी आँच तक न आई। केवल एक थोड़ा सा परिवर्तन उसमें हुआ और वह यह कि एटम बम के सम्पर्क से उसकी मटमैली दीवारें तप्त कुन्दन-सी चमकने लगी हैं। कई वर्ष हो गए, सैकड़ों वैज्ञानिक और लाखों यात्री नागासाकी जाकर मन्दिर की दीवारों का परीक्षण करते हैं किन्तु भेद की बात किसी की समझ में भी आज तक नहीं आ सकी।

———

निचिरेन् : जापानी बौद्ध सन्त

श्री भरतसिंह उपाध्याय

जापानी लोगों की परम्परागत धारणा है कि बौद्ध धर्म का विकास उसके तीन क्रमिक रूपों में हुआ है। पहला रूप है जिसे वे 'परिपूर्ण धर्म' कहते हैं। भगवान् बुद्ध के परिनिर्वाण के बाद एक हजार वर्ष तक उनके शिष्य-प्रशिष्यों की परम्परा ने धर्म के सर्वांगीण रूप का पालन किया। उनके जीवन में परिपूर्ण ब्रह्मचर्य का प्रकाश था। उसके बाद 'अनुकृत धर्म' का युग आया। इस युग में धर्म का आचरण न कर लोगों ने उसका अनुकरण मात्र किया। चैत्य और विहारों की स्थापना इसी युग में की गई। 'अनुकृत धर्म' का युग एक हजार वर्ष तक चला। इसके बाद 'परिवर्ती धर्म' का युग आया। यह युग की अवधि दस हजार वर्ष है, जो अब भी चल रही है। इस युग धर्म और नीति के आत्यन्तिक ह्रास का है। जापानी परम्परा के अनुसार भगवान् बुद्धदेव का परिनिर्वाण ९४९ ई० पू० हुआ। अतः उसमें दो हजार वर्ष जोड़ देने पर १०५२ ई० उनके मतानुसार 'परवर्ती धर्म' के आरम्भ होने का समय है। भारत में तो इस समय तक बौद्ध धर्म प्रायः लुप्त ही हो चुका था। जापानी इतिहास में भी यह तिथि एक भावी भय और आशंका की सूचना लेकर आई थी, यह उसके इतिहासकारों का सामान्य मत है।

जापान में छठीं शताब्दी ईसवी के मध्य-भाग में बौद्ध धर्म के साथ ही सभ्यता का प्रवेश हुआ। भारत, चीन, कोरिया, जापान, यही वहाँ सद्धर्म के पहुँचने का क्रम था। थोड़े ही समय में बौद्ध धर्म जापान का राज-धर्म हो गया और जनता के हृदय में उसने जड़ें

जमा लीं। ५०० ई० से ८०० ई० तक का समय जापान में बौद्ध धर्म के स्थापित होने का युग है। सन् ८०० ई० से लेकर १००० ई० तक बौद्ध धर्म का व्यवस्थित रूप से संघटन होने लगा और अनेक सम्प्रदायों की उत्पत्ति हुई। ग्यारहवीं और बारहवीं शताब्दियाँ साम्प्रदायिक वाद-विवाद के लिए प्रसिद्ध हैं। इस समय बौद्ध धर्म में नैतिक ह्रास के भी लक्षण प्रकट होने लगे। मुख्य बौद्ध सम्प्रदाय, जो इस समय तक जापान में उत्पन्न हो

भारतीय महाबोधि-सभा के नये अध्यक्ष महाराजकुमार सिक्किम

चुके थे, चार थे—(१) शिङ्-गोन् सम्प्रदाय, जो गुह्य मन्त्रवादी सम्प्रदाय था। इसकी तुलना भारतीय वज्रयानी बौद्ध धर्म से की जा सकती है। यह तान्त्रिक बौद्ध धर्म का ही एक रूप था। (२) जोदो सम्प्रदाय या सुखावती सम्प्रदाय, जो अमिताभ बुद्ध की उपासना करता था और अमिताभ बुद्ध (जापानी–अमित बुत्सु) के नाम के जप से मुक्ति सम्भव मानता था। 'सुखावती' नाम से इस सम्प्रदाय ने स्वर्ग-लोक की अपनी एक कल्पना कर रखी थी। (३) रित्सु सम्प्रदाय, जो विनय-सम्बन्धी नियमों के पालन पर जोर देता था, किन्तु जिसमें केवल एक बाहरी कर्मकाण्ड ही शेष रह गया था। (४) जेन्-सम्प्रदाय, जिसे जापान का ध्यानी बौद्ध सम्प्रदाय कहा जा सकता है। जापानी शब्द 'जेन' पाली 'झान' का ही विकृत रूप है, जिसका संस्कृत प्रतिरूप 'ध्यान' है। यह सम्प्रदाय ध्यान पर अधिक जोर देता था और 'लङ्कावतार सूत्र' इसका प्रधान ग्रन्थ था। सामाजिक परिस्थिति भी बहुत बिगड़ी हुई थी और राजनैतिक पतन अपनी चरम सीमा पर था। राज्यसत्ता कुछ गिने-चुने सैनिक अधिनायकों के हाथ में चली गई थी। उधर तेरहवीं शताब्दी के लगते-लगते भारत के समान जापान पर भी मंगोलों के आक्रमण होने लग गये थे। जापानी इतिहास की इस इतनी पृष्ठभूमि को हमें उसके तेरहवीं शताब्दी के प्रसिद्ध सन्त और सुधारक महात्मा निचिरेन् की जीवनी और कार्य को समझने के लिए जान लेना चाहिए।

महात्मा निचिरेन् का जन्म ३० मार्च सन् १२२२ को दक्षिण-पूर्वी जापान के एक द्वीप में हुआ। उनके

पिता एक निर्धन मछुए थे। ग्यारह वर्ष की अवस्था में निचिरेन् को शिक्षा के लिए पास के एक बौद्ध मठ में भेज दिया गया। पन्द्रह वर्ष की अवस्था में श्रामणेर (भिक्षु-पद के उम्मेदवार) के रूप में उनकी दीक्षा हुई। इसी समय से वास्तविक बुद्ध-मन्तव्य को जानने, प्रचलित मतों में सत्यासत्य का निर्णय करने एवं स्वयं बुद्धत्व का साक्षात्कार करने की गहरी लालसा उनमें जगी। इसके लिए अध्ययन, खोज और साधना की जितनी आवश्यकता थी, सब उन्होंने की। ध्यान भी किया, अमित बुद्ध का नाम भी जपा; किन्तु शान्ति नहीं मिली। अपनी इस समय की अवस्था का वर्णन करते हुए उन्होंने लिखा है, "मेरी सदा से यह इच्छा थी कि बुद्धत्व-प्राप्ति के लिए बीज बोऊँ तथा जन्म-मरण के बन्धन से मुक्ति प्राप्त करूँ। इस उद्देश्य की प्राप्ति के लिए मैंने अपने अनेक बौद्ध भाइयों की तरह अमित बुद्ध के नाम का श्रद्धापूर्वक जप किया; किन्तु थोड़े दिन बाद सन्देह मेरे अन्दर घुसने लगे और मैंने निश्चय किया कि जापान में बौद्ध धर्म की जितनी शाखाएँ प्रचलित हैं, उन सब का मैं अध्ययन करूँगा और उनके विभिन्न सिद्धान्तों को अच्छी तरह हृदयगंम करूँगा।" बुद्ध का अपना मत क्या था, यही निचिरेन् की समस्या थी, जिसे वे प्रचलित बौद्ध धर्म के विभिन्न रूपों में से निकालना चाहते थे।

बौद्ध धर्म का मौलिक सत्य क्या है? जिस सत्य को शाक्यमुनि ने सिखाया है, उसका मौलिक रूप क्या है? इसी की खोज के चारों ओर निचिरेन् की विचारधारा घूम रही थी। जैसे-जैसे उन्होंने ज्ञान की खोज की, उन्हें यह निश्चय होने लगा कि सत्य एक ही है और न केवल बौद्ध धर्म के, बल्कि मानव-जीवन के तत्त्व में भी विभिन्नता नहीं है। इसी को व्यक्त करते हुए उन्होंने लिखा है, "बौद्ध धर्म का सत्य क्या है, इसकी खोज में मैं बीस वर्ष तक बौद्ध धर्म के अनेक केन्द्रों में घूमता रहा। अन्त में मैं इसी निष्कर्ष पर पहुँचा कि मूलतः बौद्ध धर्म का सत्य एक ही होना चाहिए।" दस वर्ष इसी प्रकार खोज और चिन्तन में और बीत गये। तीस साल के गहरे चिन्तन के के बाद निचिरेन् को भान हुआ कि उन्हें सच्ची वस्तु हाथ लग गई है। एक दिन विहार के समीपस्थ पहाड़ की चोटी पर से प्रशान्त महासागर की ओर से उदय होते हुए बाल-रवि की ओर दृष्टि जमाये हुए, ध्यानस्थ भिक्षु ने पर्वत को अपनी वाणी से शब्दायमान करते हुए उच्चारण किया, "नमु-म्योहो-रेङ्गे-क्यो" अर्थात् "नमः सद्धर्मपुंडरीकाय।" यही महात्मा निचिरेन् का सन्देश था, जिसे उन्होंने सूर्य को साक्षी कर विश्व को दिया। उनके इस सन्देश का क्या अर्थ था, इसे हमें यहाँ कुछ समझ लेना चाहिए। उपर्युक्त मन्त्र में, जिसका उच्चारण और अभ्यास महात्मा निचिरेन् और उनके अनुयायियों के लिए एक महान् धार्मिक कृत्य था, 'सद्धर्मपुंडरीक' को नमस्कार किया गया। 'सद्धर्मपुंडरीक' (सद्धर्मरूपी कमल) एक संस्कृत ग्रन्थ का नाम है, जिसमें भगवान् बुद्ध के उन उपदेशों का संग्रह है, जो उन्होंने अपने जीवन के अन्तिम आठ वर्षों में गृद्धकूट* नामक पर्वत पर दिये थे। इस ग्रन्थ का चीनी भाषा में अनुवाद प्रसिद्ध भारतीय आचार्य कुमारजीव ने ४०७ ई० में किया था। कुमारजीव के अनुवाद के अतिरिक्त दो अनुवाद और भी प्रचलित थे। निचिरेन् ने इन सब अनुवादों को देखा था और उन्हें कुमारजीव का अनुवाद अधिक पसन्द आया था। इसी ग्रन्थ का अनुशीलन करते हुए निचिरेन् को अनुभव हुआ कि वास्तविक बुद्ध-मन्तव्य यही है, जिसकी घोषणा उन्होंने जापान और सारे विश्व के लिए निर्भीकतापूर्वक की। जिस 'सद्धर्मपुंडरीक' को निचिरेन् ने इतनी अधिक महत्ता दी, उसकी विषय-वस्तु और विचार-धारा क्या है, इसे जानने की बहुतों को इच्छा होगी। इस इच्छा की पूरी तृप्ति यहाँ असम्भव है, क्योंकि सारे ग्रन्थ में २८ अध्याय हैं और बौद्ध विश्लेषणात्मक दर्शन को संक्षेप में समझना-समझाना भी आसान नहीं है। फिर भी इतना कह देना आवश्यक है कि इस ग्रन्थ में भगवान् शाक्यमुनि के द्वारा उपदिष्ट उस एकायन (एकमात्र) मार्ग का वर्णन है, जिसके द्वारा भूतकाल में बुद्धों ने ज्ञान प्राप्त किया है और आगे भी प्राणी करेंगे। भगवान् शाक्यमुनि के ऐतिहासिक व्यक्तित्व को सार्वभौम धर्म का साकार रूप दे देना इस ग्रन्थ की एक बड़ी विशेषता है। भगवान् शाक्यमुनि सब

* राजगृह के समीप

देश और सब काल में विद्यमान् हैं, यह इस ग्रन्थ का आश्वासनकारी दर्शन है। जैसे भगवान् कृष्ण ने गीता में भक्तों के लिए आश्वासन दिये हैं, वैसे ही यहाँ भी भगवान् शाक्यमुनि देते दिखाये गये हैं। नैतिक उपदेशों से सारा ग्रन्थ भरा हुआ है। 'सद्धर्मपुंडरीक सूत्र' के मूल संस्कृत रूप का सम्पादन सेंट पिटर्सबर्ग से सन् १९१२ में हुआ था। 'सेक्रेड बुक्स ऑव दी ईस्ट' ग्रन्थमाला (संख्या २१) में उसका अंग्रेजी अनुवाद भी प्रकाशित हो चुका है। जिस ग्रन्थ के पुण्य नाम को कम-से-कम ३२ लाख जापानी (अकेले निचिरेन् के अनुयायियों की संख्या) प्रतिदिन नमस्कार करते हैं और जपते हैं, उसके (और उसके समान अन्य सैकड़ों ग्रन्थों के) सम्पादन या अनुवाद की आवश्यकता अभी भारत-भूमि में अनुभव नहीं की गई। हाँ, एशिया के देशों पर अपनी सांस्कृतिक विजय की बात करते-करते हम अवश्य थकते नहीं।

'सद्धर्मपुंडरीक' निचिरेन् के लिए केवल एक ग्रन्थ मात्र नहीं था। 'सद्धर्मपुंडरीक' को नमस्कार करने का तात्पर्य था उनके लिए उस परिपूर्ण सत्य को नमस्कार करना, जो वहाँ प्रकट हुआ है। इस विषय में अपनी भावना प्रकट करते हुए उन्होंने लिखा है, "इस धर्म-ग्रन्थ के सारे अक्षर भगवान् बुद्ध का जीवित शरीर हैं, जिसे उन्होंने परिपूर्ण ज्ञान की अवस्था में प्रकट किया है। यह तो हमारे चर्म-चक्षु हैं, जिन्हें यहाँ केवल अक्षर दिखाई पड़ते हैं। जैसे प्रेतों को गंगा के जल में भी आग दिखाई देती है, जब कि मनुष्य उसमें जल देखते हैं और देव देखते हैं अमृत। जल तो एक ही है, किन्तु प्रेत, मनुष्य और देवताओं के विभिन्न कर्मों के कारण उन्हें उसमें भिन्न-भिन्न वस्तुएँ दिखाई देती हैं। इसी प्रकार जो अन्धे हैं, वे इस धर्म-ग्रन्थ के अक्षरों में कुछ नहीं देखते। मनुष्य की चमड़े की आँखें इसमें केवल अक्षर देखती हैं। जो शून्यवाद से परितृप्त हैं, वे इसमें केवल शून्यवाद देखते हैं, जब कि बोधिसत्व प्राणी (बुद्धत्व को खोजनेवाला साधक) इसमें गम्भीर, अपरिमेय सत्यों को देखता है और जो ज्ञान को प्राप्त कर चुके हैं, वे इसके प्रत्येक अक्षर में देखते हैं भगवान् शाक्यमुनि के स्वर्णिम शरीर को।" इस गहरी श्रद्धा के साथ 'सद्धर्मपुण्डरीक' में निहित बुद्ध-मन्तव्य को प्रचार करने का निचिरेन् ने निश्चय किया। इसके लिए उन्हें विरोध भी काफी सहना पड़ा। जिस दिन प्रातःकाल निचिरेन् ने सूर्य को साक्षी कर 'नमः सद्धर्मपुण्डरीकाय' की घोषणा की, उसी के दोपहर को उन्होंने भिक्षुओं और गृहस्थों की एक भारी सभा में भाषण दिया और प्रचलित सम्प्रदायों की कड़ी आलोचना की। परिणाम यह हुआ कि उन्हें उसी सन्ध्या को मठ से बाहर निकाल दिया गया। बहिष्कृत साधु ने कामाकुरा को अपना कार्य-क्षेत्र बनाया। कामाकुरा उस समय के सैनिक शासकों की राजधानी थी। उस समय देश पर विपत्तियों का एक पहाड़ टूट पड़ा था। सैनिक शासन के मारे लोग तंग थे। उस पर तूफान, भूकम्प, बाढ़, अकाल, महामारी, एक के बाद एक, सब ने राष्ट्र के दुर्भाग्य में योग दिया। भूख और बीमारी से पीड़ित आदमी चारों ओर दिखाई पड़ते थे। सड़कें लाशों से भरी हुई थीं। शासकों की उदासीनता अक्षम्य थी। किन्तु जनता भी दुःख का वास्तविक त्राण न जानती हुई नाना प्रकार के देवों और पितरों को पूजने में मग्न थी। निचिरेन् की आत्मा को बहुत दुःख हो रहा था। उन्होंने जनता के दुःखों का विश्लेषण कर देखा कि धर्म की विकृति ही इस सबका मूल कारण है। जनता और शासकों को समझाते हुए उन्होंने "सत्य और देश-रक्षा की स्थापना" (रिश्शो-अनकोकु-रोन्) नाम की एक पुस्तिका लिखी। इसमें शासकों को उनका कर्तव्य सुझाया गया था और जनता से तन्त्र-मन्त्र आदि अन्धविश्वास को छोड़कर भगवान् शाक्यमुनि के वास्तविक उपदेश को, जो 'सद्धर्मपुंडरीक' में व्यक्त हुआ है, ग्रहण करने की प्रेरणा की गई थी। निचिरेन् ने राष्ट्र को चेतावनी देते हुए कहा था, "सम्पूर्ण विपत्तियों में से जिस एक का अनुभव अभी हमने नहीं किया है, वह है विदेशी आक्रमण की विपत्ति। जब मैं धर्म-ग्रन्थ में की हुई भविष्यवाणियों को पढ़ता हूँ और अपने चतुर्दिक् संसार को देखता हूँ तो मुझे यह मानना पड़ता है कि देवता और मनुष्यों के मस्तिष्क दोनों ही भ्रमित हो रहे हैं। अतीत में सभी भविष्यवाणियाँ पूरी हो चुकी हैं, क्या हम यह कहने का साहस कर सकते हैं

कि आगे भी शेष भविष्यवाणियाँ पूरी नहीं होंगी ?" शासक और सुखावती-वादी बौद्ध, जिनके निचिरेन् कट्टर समालोचक थे, इन स्वतन्त्र शब्दों को सुनने के लिए तैयार न थे। एक उत्तेजित भीड़ ने उनकी झोपड़ी में आग लगा दी। सरकार भी पीछे न रही। उसने निचिरेन् पर शांति-भंग का आरोप लगाकर उन्हें इज़ू नामक प्रायद्वीप में निर्वासित कर दिया। यहाँ उनका जीवन निरन्तर संकट में बीता और कई बार वे मृत्यु से बाल-बाल बचे। एक निर्धन मछुए और उसकी पत्नी ने यहाँ निचिरेन् की बड़ी सेवा की, जिसके लिए कृतज्ञता प्रकाशित करते हुए उन्होंने उन्हें अपने पूर्व जन्म के माँ-बाप कहा है। इज़ू प्रायद्वीप की भोली-भाली ग्रामीण जनता पर निचिरेन् के उपदेशों का बड़ा प्रभाव पड़ा और काफी संख्या उनके अनुयायियों की हो गई। धर्मोपदेश के लिए इधर-उधर घूमते हुए स्वतन्त्रचेता निचिरेन् को कभी-कभी रात आश्रयहीन अवस्था में बितानी पड़ती थी।

निचिरेन् को इज़ू प्रायद्वीप में निर्वासित हुए तीन वर्ष भी नहीं बीत पाये थे कि उन्हें सरकारी आज्ञा से मुक्त कर दिया गया। सरकार को आशा थी कि निचिरेन् का जोश ठंढा हो गया होगा, किन्तु बात ऐसी नहीं हुई। इसी समय एक और घटना घटी। १२६८ ई० में मंगोल सम्राट् कुब्ले खाँ का एक दूत जापानी तट पर उतरा और कर-दान या भावी आक्रमण की सूचना दी। निचिरेन् इस सम्बन्ध में आठ वर्ष पहले ही जापानी शासकों और जनता को चेतावनी दे चुके थे। अब कुब्ले खाँ के दूत के आने पर वे सीधे कामाकुरा गये और सरकार से साफ शब्दों में कहा, "आठ वर्ष पहले दी गई मेरी चेतावनी को स्मरण करो। क्या अब वह पूरी नहीं हो रही है? क्या निचिरेन् के सिवा और कोई दूसरा आदमी है, जो इस राष्ट्रीय आपदा को टाल सके? केवल वही जो वास्तविक कारण को जानता है, इस परिस्थिति को वश में कर सकता है।" सरकार को निचिरेन् की कहाँ सुननी थी? उल्टे उन्हें देश-द्रोह के अभियोग में पकड़ लिया गया और मृत्यु-दंड की आज्ञा हो गई। निचिरेन् के वध के लिए सब वस्तुएँ तैयार थीं। चारों ओर से सिपाही घेरा

लगाये हुए थे। साक्षी अफसर कुर्सी पर बैठा हुआ था। उसके पीछे वधिक खड़ा था। तिनकों की एक चटाई पर भिक्षु निचिरेन् बैठे हुए थे, उनके दोनों हाथ अंजलि-बद्ध थे और वे उच्चारण कर रहे थे, "नमः सद्धर्मपुंडरीकाय।" तलवार उनके सिरपर अभी गिरना ही चाहती थी कि "आग के गोले के समान एक प्रकाशवान् वस्तु पूर्व-दक्षिण से उत्तर-पश्चिम की ओर आकाश को देदीप्यमान् करती हुई चली गई। उसकी रोशनी में सबके चेहरे दिखाई देने लगे। अफसर और सिपाही डर गये और वधिक के हाथ से तलवार छूट गई। वह बेहोश होकर धरती पर गिर गया। कुछ सिपाही घोड़ों की पीठ पर ही भयभीत होकर दंडवत् पड़ गये और कुछ भाग गये।" उस संभ्रम में निचिरेन् का प्राण-वध असंभव हो गया और सरकार ने आशंकित होकर वध की आज्ञा वापस ले ली। उसके बजाय निचिरेन् को सोदो द्वीप में, जो जापान के उत्तरी समुद्र में है, निर्वासित कर दिया गया। यहाँ वे अन्ध-विश्वास के विरुद्ध आवाज उठाते और भगवान् बुद्ध के परिपूर्ण उपदेश 'सद्धर्मपुंडरीक-सूत्र' का प्रचार करते हुए ढाई वर्ष तक रहे। उसके बाद सरकार ने निर्वासन का दंड हटा लिया; किन्तु निचिरेन् की वृत्ति एकान्त-ध्यान की ओर अधिक थी और वे उसको अपने धर्म-प्रचार के लिए आवश्यक मानते थे। अतः वे फूजीयामा के पश्चिम मिनोबू की पहाड़ियों में एकान्त ध्यान के लिए चले गये और वहाँ आठ वर्ष तक रहे।

महात्मा निचिरेन् बड़े उत्कट साहस के पुरुष थे। मंगोल आक्रमण के समय निचिरेन् ने उनके लिए 'तुच्छ मंगोल' कहा था और जापान के भारी आशामय भविष्य में आस्था प्रकट की थी, फिर भी वे युद्धवादी न होकर शांतिवादी थे। उन्होंने अपने शिष्य को, जो मंगोलों के विरुद्ध युद्ध में लड़ रहा था, लिखा था, "...युद्ध चल रहा है। देश के सभी मनुष्य इस वर्त्तमान जीवन में असुर हो जायँगे और मरने के बाद अधम योनियों में पड़ेंगे। तुम भी युद्ध-क्षेत्र में मर सकते हो। फिर भी निश्चय रक्खो कि हम गृद्धकूट पर मिलेंगे। यद्यपि इस विपत्ति में तुम भी सम्मिलित हो, फिर भी मत भूलो कि तुम्हारी आत्मा भगवान् बुद्ध

की आत्मा के साथ है। इस जीवन में तुम असुरों के जीवन में भाग ले रहे हो, किन्तु मृत्यु के बाद तुम निश्चय ही बुद्ध के लोक में पैदा होगे।" मंगोलों का आक्रमण विफल हो गया और देश विनाश से बच गया। शिङ्-गोन् मतवादी देवताओं की इस कृपा के लिए अनेक रहस्यवादी कर्मकांड रचने लगे और जितना वेतन युद्ध-क्षेत्र पर लड़नेवाले सिपाहियों को नहीं मिला था, उससे अधिक दक्षिणाएँ पुरोहितों ने प्राप्त कीं। जापान में उस समय अन्धविश्वास का काफी बोल-बाला था। मंगोलों से बच जाने को निचिरेन् जापान का वास्तविक बच जाना नहीं मानते थे। सभी अन्धविश्वास से जापान को मुक्त होकर भगवान् शाक्यमुनि के मार्ग को पूर्णतः अपनाना चाहिए। जापान की पूर्ण विमुक्ति वे बौद्ध धर्म की पूर्ण स्वीकृति में मानते थे। "सबसे बड़ी बात जापान में इस सत्य-द्वार (बौद्ध धर्म) की पूर्ण स्थापना है। एक दिन या एक घंटे के लिए भी देश कैसे सुरक्षित रह सकता है जबतक कि भगवान् शाक्यमुनि, गृद्धकूट पर्वत के उपदेष्टा, अपनी दृश्य और अदृश्य सहायता और रक्षा इस देश को न दें।" उनका स्वप्न था कि जापान विश्व में बौद्ध धर्म के प्रचार का केन्द्र बने और बौद्ध धर्म की जन्म-भूमि भारत में भी वह वहाँ से जाय। चीन और जापान की एक परम्परा के अनुसार भारत 'इन्दु का देश' कहलाता था। उसको इसी नाम से पुकारते हुए महात्मा निचिरेन् कहते हैं, "भारत 'इन्दु देश' कहलाता है। यह इस देश में भगवान् बुद्ध के उदय होने सम्बन्धी भविष्यवाणी का सूचक है। हमारा द्वीप 'जापान' अर्थात् 'सूर्योदय का देश' कहलाता है। क्या यही वह देश नहीं है, जहाँ भगवान् आगे पैदा होंगे? चन्द्रमा पश्चिम से निकलकर पूर्व की ओर जाता है। इस प्रतीक का अर्थ है बौद्ध धर्म का पूर्व की ओर जाना। सूर्य पूर्व में उगकर पश्चिम में छिपता है। यह इस बात का लक्षण है कि बुद्ध का धर्म 'सूर्योदय के देश' (जापान) से फिर 'इन्दु के देश' (भारत) में वापस जायगा।"

महात्मा निचिरेन् ने १२७२ ई० में 'आँखों का खोलना' नामक एक निबन्ध लिखा था, जिसमें उन्होंने अपने देशवासियों से कन्फ्यूशियन धर्म, हिन्दूधर्म और बौद्ध धर्म का तुलनात्मक अध्ययन करने के लिए अनुरोध किया था। इस महत्त्वपूर्ण निबन्ध का पहला वाक्य है—"तीन वस्तुएँ मनुष्य के लिए सम्माननीय हैं—अपना स्वामी, अपना गुरु और अपने माता-पिता। इसी प्रकार तीन विषय उसके लिए अध्ययनीय हैं—कन्फ्यूशियन धर्म, हिन्दू धर्म और बौद्ध धर्म।" एक और जगह उन्होंने लिखा है, "यदि तुम इसी क्षण बुद्धत्व का साक्षात्कार करना चाहते हो तो अभिमान की ध्वजा को नीचे कर दो, क्रोध की गदा को फेंक दो और परम सत्य-रूपी बुद्ध-शासन में विश्वास करो। यश और लाभ इस जीवन की मृग-मरीचिका के अलावा और कुछ नहीं है। गर्व और अहंकार केवल भावी जीवन के बन्धन हैं। यदि तुम किसी गहरे गड्ढे में गिर पड़े हो और किसीने तुम्हें खींचने के लिए रस्सी डाली है तो क्या तुम केवल इसीलिए कि तुम्हें खींचने वाले की शक्ति में विश्वास नहीं है, उस रस्सी को नहीं पकड़ोगे। क्या बुद्ध ने यह घोषणा नहीं की है—"मैं ही अकेला रक्षक और त्राता हूँ?" यही शक्ति है। क्या यह उपदेश नहीं दिया गया है कि श्रद्धा ही (निर्वाण का) द्वार है? यही रस्सी है। जो इसे पकड़ने में हिचकता है और पवित्र सत्य (नमः सद्धर्मपुंडरीकाय) का उच्चारण नहीं करता, वह बोधि तक नहीं पहुँच सकेगा। क्या एक भी ऐसा महीना या दिन बीतना चाहिए जब कि उस उपदेश की, जो कहता है कि जगत् में ऐसा कोई नहीं है जो बुद्धत्व को प्राप्त न कर सके, पूजा न की जाय? 'सद्धर्मपुंडरीक' की श्रद्धा के साथ पूजा करो, उसका स्वयं उच्चारण करो और दूसरों से उच्चारण करने की प्रेरणा करो। यही इस मानव-जीवन में तुम्हारा कर्त्तव्य है।" स्वयं निचिरेन् का अनुभव किस उच्च भूमि तक पहुँच गया था, इसके दर्शन हम उनके एक उद्गार में करते हैं, जिसे उन्होंने सोदो द्वीप में गम्भीर एकांतवास करते हुए प्रकट किया था—"पहाड़ों के बीच में स्थित यह जगह सांसारिक जीवन से बिलकुल अलग है। पूर्व, पच्छिम, उत्तर, दक्षिण, पास-पड़ोस में मनुष्यों की कोई बस्ती नहीं है। इस समय में ऐसे ही एकान्त आश्रम में रह रहा हूँ; किन्तु मेरी छाती में,

निचिरेन् की मांस की काया में, वह रहस्य छिपा हुआ है, जिसे भगवान् शाक्यमुनि ने गृद्धकूट पर्वत पर प्रकट किया था और जिसका उत्तराधिकार मुझे मिला है। मैं जानता हूँ, मेरा हृदय वह जगह है, जहाँ असंख्य बुद्ध ध्यानस्थ बैठे हैं। वे मेरी जिह्वा पर धर्म-चक्र-प्रवर्तन करते हैं। मेरा कण्ठ उन्हें जन्म प्रदान कर रहा है। मेरे मुख में वे सम्यक् सम्बोधि प्राप्त कर रहे हैं। यह जगह (पहाड़ी स्थान) ऐसे पुरुष, निचिरेन् का निवास-स्थान है, जो रहस्यात्मक रूप से 'सद्धर्मपुंडरीक' को अपने जीवन में साक्षात्कार कर रहा है। अतः सचमुच यह स्थान भी गृद्धकूट पर्वत से कम पवित्र नहीं है। सत्य महान् है। जो सत्य का साक्षात्कार करता है, वह भी महान् है। जिस जगह सत्य का साक्षात्कार किया जाता है, वह जगह भी महान् है; क्योंकि इस प्रकार की जगह को ही वह स्थान मानना चाहिए, जहाँ सम्पूर्ण तथागतों ने परिपूर्ण ज्ञान प्राप्त किया है, उसी जगह पर सम्पूर्ण तथागतों ने धर्म-चक्र को प्रवर्तित किया है, उसी जगह पर सम्पूर्ण तथागतों ने महापरिनिर्वाण में प्रवेश किया है।" इसी भाव को व्यक्त करते हुए उन्होंने सूत्रात्मक रूप से एक और जगह कहा है, "भगवान् बुद्ध ने अपने जीवन-काल में जिन सत्यों को प्रकट किया, उन सबका अस्तित्व हमारे अन्दर है। यदि इसको जान लो तो तुम्हें आत्म-ज्ञान प्रकट हो गया।" इस तथा इस प्रकार के अन्य अनेक उद्गारों में महात्मा निचिरेन् ने ज्ञान की उस अद्वैत अवस्था की ओर संकेत किया है, जहाँ आत्मा, बुद्ध और सत्ता तीनों मिलकर एक हो जाते हैं, जिसके अलावा और कुछ अस्तित्व नहीं रहता—इस वेदान्तिक भावना को और भी अधिक स्पष्ट उन्होंने अपने एक पत्र में, जिसे उन्होंने अपनी एक शिष्या भिक्षुणी को लिखा था, किया है। पत्र के अन्त में वे लिखते हैं, "जब तुम निचिरेन् को देखने की इच्छा करो तो आदर के साथ उदय होते हुए सूर्य की ओर देखो या सन्ध्या समय उगते हुए चन्द्रमा को देखो। मेरा व्यक्तित्व सदा सूर्य और चन्द्र में प्रतिबिम्बित है। और फिर इसके बाद तो मैं तुम्हें गृद्धकूट पर्वत पर ही मिलूँगा।" "यह जो पुरुष सूर्य में है, वही मैं हूँ"—यह तो उपनिषद् के ऋषि ने कहा था। पर इस सच्चाई का सर्वोत्तम साक्ष्य जापानी सन्त निचिरेन् ने ही अपने उपर्युक्त उद्गार में दिया है। यहाँ केवल दो मौलिक आध्यात्मिक अनुभवों की एकता की ओर संकेत करना ही हमारा लक्ष्य है। महात्मा निचिरेन् के चरित्र की एक बड़ी विशेषता थी उनकी कृतज्ञता और पर-दुःख-कातरता। अपने एक सिपाही शिष्य को, जिसने उनके वध-स्थान को ले जाने के समय उनके साथ सहानुभूति दिखाई थी, पत्र में उन्होंने लिखा था, "मुझे स्मरण है कि जब मैं वध के लिए ले जाया जा रहा था, तुम मेरा अनुसरण करते हुए आ रहे थे। तुमने मेरे घोड़े की लगामें पकड़ ली थीं और विलाप कर रहे थे। जब तक मैं जीवित हूँ, इसे कैसे भूल सकता हूँ। यदि तुम अपने (पूर्व जन्मों के) गम्भीर पापों के कारण नरक में भी गिरो तो चाहे मेरे स्वामी भगवान् शाक्यमुनि मुझे बुद्धत्व के लिए कितना भी निमन्त्रण दें, मैं उनकी आज्ञा को नहीं मानूँगा, बल्कि मैं निश्चय ही नरक में, जहाँ तुम होगे, आ जाऊँगा। यदि मैं और तुम नरक में होंगे तो निश्चय ही शाक्य बुद्ध और 'सद्धर्मपुण्डरीक' भी हमारे साथ वहाँ होंगे।"

मिनोबू की पहाड़ियों में आठ वर्ष एकान्त ध्यान करने के पश्चात् निचिरेन् ने सोचा, "हमारे भगवान् शाक्यमुनि ने अपने जीवन के अन्तिम आठ वर्षों में गृद्धकूट पर 'सद्धर्मपुण्डरीक' का प्रकाश किया था और फिर महापरिनिर्वाण के लिए वह उत्तर-पश्चिम दिशा में कुशीनगर की ओर चले गये थे। मैं भी अपने आठ-वर्ष मिनोबू में बिता चुका, अब मुझे जीवन के अन्त के लिए तैयारी करनी चाहिए।" वह उत्तर की ओर चलते हुए इकेगामी नामक स्थान पर पहुँचे और वहीं उन्होंने ६१ वर्ष की अवस्था में 'सद्धर्मपुण्डरीक' में उद्धृत भगवान् तथागत के इन वचनों का अपने शिष्यों के साथ पाठ करते हुए निर्वाण में प्रवेश किया।

"जब से मैंने बुद्धत्व प्राप्त किया, असंख्य, अपरिमाण युग बीत चुके हैं। इस काल में मैं लगातार सत्य का

उपदेश करता रहा हूँ और असंख्य प्राणियों को मैंने बुद्धों के मार्ग पर लगाया है।

इस प्रकार असंख्य, अपरिमाण युग बीत चुके हैं। प्राणियों को जगाने के लिए मैं महापरिनिर्वाण का प्रकाश करता हूँ, उपाय-कौशल्य के द्वारा। वास्तव में मैं कभी तिरोहित नहीं होता, बल्कि शाश्वत काल तक रहकर सत्यों का प्रकाश करता हूँ। मैं संसार का पिता हूँ।

मनुष्यों को मोहाविष्ट देखकर मैं मरता-सा दिखाई देता हूँ, किन्तु वास्तव में मैं सदा जीवित हूँ।

मैं सदैव यह देखता रहता हूँ कि प्राणी सन्मार्ग के प्रति श्रद्धालु हैं कि नहीं।

और मैं सत्य के अनेक रूपों का उन्हें उपदेश करता हूँ, उनकी अलग-अलग शक्ति और धारणा के अनुसार, उनके निर्वाण के लिए।

अब मेरी केवल एक ही इच्छा है—

किस प्रकार सब प्राणी कल्याणकारी मार्ग पर लगें और शीघ्र ही निर्वाण का साक्षात्कार करें।''

अनजानी वधू

सुश्री कुमारी विद्या

विगत-युगों की स्वर्ण रेख-सी, उज्ज्वल मंजु निशानी।
शाक्य-कुमार-नंद की रानी, एक वधू अनजानी॥

बहुजनहिताय मंगल बेला में, कितनी नव कलिकायें।
भूलीं हँस कर कसक कहानी, आहों भरी व्याथायें॥
स्मिति की मृदु आभा लेकर, निज प्रिय किये समर्पित।
मृदुल ज्योत्स्ना-सी पावन वे, धूमिल मंजु कथायें॥

उन कलियों में कंजकली-सी, थी "सुन्दरिका रानी।"
शाक्य-कुमार-नंद की रानी, एक वधू अनजानी॥

उनकी करुणा आख्यानों से, गूँजा नील दिगन्तर।
हुआ शुभ्र कान्त आभामय, आलोकित भू प्रान्तर॥
यशोधरा के जीवन धन की, जन मंगल की गाथा।
श्याम घनों में चन्द्र किरण थी, जागृत ज्योति निरन्तर॥

श्रद्धानत थी समझ चुकी थी, वह उनकी मृदुवाणी।
शाक्य-कुमार-नंद की रानी, एक वधू अनजानी॥

नंदाग्रज पत्नी गोपा की, भीगी पलकों का इतिहास।
कपिलवस्तु के प्रजा जनों का, वह खोया-खोया उल्लास॥
मौन हृदय का कातर क्रन्दन, राजा रानी के आँसू।
वैभव, ममता, प्रणय, स्नेह का, नीरव-सा धीमा निश्वास॥

सुन कर सिहर गई सुकुमारी, मचल उठा हिय मानी।
शाक्य-कुमार-नंद की रानी, एक वधू अनजानी॥

आवें राजभवन में यदि, वे दिव्य, प्रव्रज्या धारी।
परिवर्तित हो अश्रु हर्ष में, जीवन की उजियारी॥
यह अनुरोध निहार सभी का, बोली वह सुकुमारी।
जावें प्रिय कर्तव्य श्रेष्ठ है, मेरी ममता हारी॥

कितना मूक समर्पण था वह, सुनो सभी ने जानी।
शाक्य-कुमार-नंद की रानी, एक वधू अनजानी॥

उन चरणों में जाकर प्राणी, पाते हैं अभिनव आह्लाद।
जान चुकी थी राजवधू वह, करुणा का अनुपम जयनाद॥
यौवन के ही प्रथम चरण में, वह वियोग लेकर साकार।
रोकी नहीं समझ कर भी वह, ले ली कातर मौन विषाद॥

जन-जन के सुख में निज सुख, थी समझी वह कल्याणी।
शाक्य-कुमार-नंद की रानी, एक वधू अनजानी॥

मार्ग के

करता
नुसार,

र लगें

आँसू।
श्वास॥
ानी।
नी॥
धारी।
यारी॥
मारी।
हारी॥
ानी।
नी॥
ाह्लाद।
यनाद॥
ाकार।
विषाद॥
ाणी।
नी॥

बौद्ध प्रदेश लाहुल

लामा अंगरूप लाहुली

भारतवर्ष ने कश्मीर को अपना स्वर्गस्थान मान लिया, यदि पंजाब लाहुल को अपना कश्मीर मान ले तो यह अत्युक्ति न होगी। लाहुल की सुन्दरता भी कश्मीर से कम नहीं है। यहाँ भी चारों ओर रजतमय ऊँचे-ऊँचे पर्वत सीना ताने खड़े हैं। क्षीरोदक नदियाँ और झरने हरी-भरी भूमि, नाना पुष्प, शीतल पवन, देवदारु और बेली के जंगल तथा पहाड़ की ढाल पर बने खेतों की पंक्ति मानो स्वर्ग में जाने की सीढ़ी हों। कश्मीर की ही नाईं यहाँ की प्राकृतिक सुन्दरता भी मार्च से सितम्बर तक ही रहती है क्योंकि इसके बाद जब बर्फ गिरने लगती है तो सुन्दरता दिन प्रतिदिन विकृत होती जाती है। हिमालय की कुक्षि में यह उद्यान भी यात्रियों को कम आकर्षित नहीं करता। कश्मीर ऊनी वस्त्र, सेब तथा केसर के लिये प्रसिद्ध है तो लाहुल भी ऊनी वस्त्र तथा कुठ (एक प्रकार की औषधि) के लिए प्रसिद्ध है। परन्तु खेद इस बात का है कि लाहुल के बने-बनाये ऊनी शाल इत्यादि भी भारत पहुँच कर कश्मीरी कह कर पुकारे जाने लगते हैं। कुठ एक प्रकार की औषधि है जो सब तरह की फोड़ा-फुंसी के लिये रामवाण दवा है। यह प्रत्येक वर्ष लाहुल से सहस्रों मन भारत होकर चीन इत्यादि बाहरी देशों को भेजी जाती है। इसके अतिरिक्त यहाँ के पहाड़ों पर प्रायः औषधि-बूटियाँ उगती हैं। यदि मैं लाहुल की लंका, बर्मा, स्याम, जापान तथा तिब्बत से तुलना करूँ तो हास्यपूर्ण होगा, क्योंकि यहाँ की जन-संख्या बहुत कम है, किन्तु उन भगवान् सम्यक् सम्बुद्ध की उपासना लंका, बर्मा इत्यादि देशों की भाँति यहाँ भी की जाती है। भिक्षु (लामा) मठ, विहार तथा लोगों की श्रद्धा वैसी ही देखने को मिलती है, जैसी कि भगवान् बुद्ध के समय में भिक्षुओं से भरे श्रावस्ती और राजगृह नगर देखने को मिलते थे। २७ करोड़ जनसंख्यावाले बर्मा और ७ करोड़ जनसंख्यावाले बौद्ध देश लंका के सामने लाहुल बहुत तुच्छ है। लाहुल में केवल बौद्ध ही नहीं हैं बल्कि एक चौथाई हिन्दू भी हैं। तिब्बत के निकट होने के कारण यहाँ महायान बौद्धधर्म का अधिक प्रचार है। महायानी लोग लाहुल में कुलुंत (गौशाल) नामक स्थानको उन २४ महा तीर्थों में गिनते हैं जिन्हें लोकेश्वर बोधिसत्व के अवतार लेने का पवित्र स्थान समझा जाता है। यों तो लाहुल में बौद्ध धर्म सम्राट् अशोक के समय में ही पहुँच गया था, तथा इसके बाद कई शताब्दियों तक स्थविरवाद का प्रचार रहा है। बाद में १५ वीं शताब्दी के उत्तरार्ध में तिब्बत से एक ऋद्धिप्राप्त तान्त्रिकलामा गेवाग्यछा (पुण्य-सागर) लद्दाख और जंसकर होकर लाहुल पहुँचे। उसके बाद यहाँ महायान बौद्ध धर्म का सूत्रपात हुआ। उस समय तक तिब्बत के रास्ते लद्दाख और जंसकर में महा-यान बौद्ध धर्म पूर्णतः फैल चुका था। धीरे धीरे लाहुल से लामा लोग भी लद्दाख और जंसकर में विद्याध्ययन करने जाने लगे और वहाँ से भी विद्वान् लोग यहाँ धर्म प्रचा-रार्थ आये। उन्होंने यहाँ दो विहारों का भी निर्माण कराया, जिनके नाम गन्धालय और ओथंग गोंपा रखे गये। ये दोनों विहार जंसकर करशाविहार की शाखा समझे जाते हैं। वर्तमान समय में भी इन दोनों विहारों के व्यवस्थापक जंसकर से ही नियुक्त होकर आते हैं। गन्धालय विहार लाहुल के उस स्थान पर स्थित है, जहाँ चन्द्रभागा और चनाब नदियाँ मिलती हैं। लोग इस स्थान को प्रयाग के त्रिवेणी संगम की भाँति पवित्र सम-झते हैं। लाहुल प्रदेश तीन तराई में विभाजित है। इस विहार से प्रायः सम्पूर्ण लाहुल दृष्टिगत होता है। इस प्रदेश में यह विहार सब से पुराना समझा जाता है तथा दूसरे यहाँ के सब विहार इसके आधीन हैं। यहाँ बहुत पुरानी प्रतिमाएँ भी हैं। लकड़ी के तख्तों में लोकेश्वर और अक्षोभ्य के खुदाँ मण्डल दर्शनीय हैं। इन तख्तों को किस सुन्दरता और चतुरता से जोड़ा और खोदा गया

है। यह लाहुल की प्राचीन कला का उत्कृष्ट प्रमाण है। आज इस विहार की व्यवस्था बहुत खराब है। इतने बड़े विहार में केवल एक पुजारी के अतिरिक्त दूसरा कोई नहीं रहता। बहुत वर्षों से इसकी मरम्मत भी नहीं हुई है। यदि लाहुल के बौद्ध इस विहार की ओर शीघ्र ध्यान न देंगे, तो अपने अनुपम और ऐतिहासिक वैभव को खो बैठेंगे।

यों तो लाहुल के बारे में कोई प्रामाणिक इतिहास नहीं मिलता, फिर भी ऐसा समझा जाता है कि १२ वीं शताब्दी में बिलोचिस्तान से आये हुए बिलोची और तुंगनों ने लाहुल पर आक्रमण किया था। उस समय यह प्रदेश महाराज कुल्लू के आधीन था। यह बिलोची कब तक रहे यह ठीक पता नहीं चलता। लेकिन इतना जरूर कह सकते हैं कि कुछ लोग तो यहीं स्थायी रूप से बस गये थे और धीरे-धीरे वे लोग भी बौद्ध हो गये। क्योंकि आजकल भी इधर उधर खोदाई करने पर बहुत सी कब्रें मिलती हैं जो उस समय समाधिस्थ मनुष्यों की कब्रें हैं।

लखनऊ के रिसालदार बाग स्थित बौद्ध विहार

शिक्षा

यह प्रदेश शिक्षा-क्षेत्र में आज उतना ही पिछड़ा हुआ है, जितना कि अंग्रेजी शासनकाल में भारत की ग्रामीण जनता पिछड़ी हुई थी। उस समय लाहुल में एक मिडिल स्कूल था, और आज भी वहाँ केवल दो ही मिडिल स्कूल हैं। यह भारत सरकार की पंचवर्षीय योजना और शिक्षाविस्तार की रूपरेखा है। मैं तो लाहुलवालों के भाग्य पर हजार हजार कोसता हूँ कि आज जगत् के कोने-कोने में शिक्षा के प्रति जागृति आ गई है परन्तु पंजाब सरकार लाहुल के नागरिकों को केवल मिडिल स्कूलीय शिक्षा देकर धोखा दे रही है। यदि लाहुलवाले इस समय चेतेंगे नहीं, तो उन्हें अपनी मानवता और नागरिकता के अधिकार को जानने में अभी कई पीढ़ियाँ लग जायेंगी। भारतवर्ष में यह एक ऐसा क्षेत्र है, जहाँ आज तक किसी प्रकार का अन्वेषण नहीं हुआ है। मैं दावे के साथ कह सकता हूँ कि यदि सरकार इस ओर कदम उठाये तो यहाँ अमूल्य रत्नों और धातुओं की खानें मिल सकती हैं।

रहन-सहन और वेष-भूषा

सीमाप्रान्त होने के कारण यहाँ भारतीय और तिब्बतीय दोनों प्रकार की संस्कृति पाई जाती है। लाहुली अपनी भाषा के अतिरिक्त इन दोनों भाषाओं को भी बोल

लेते हैं। यहाँ स्त्री-पुरुष जाड़े में तिब्बतियों की तरह चोंगा और पायजामा पहनते हैं और गर्मी में भारतीयों की तरह कोट, कमीज और स्त्रियाँ जम्फर पहनती हैं। लेकिन स्त्रियों के आभूषण न तो भारतीय ढंग के होते हैं और न तो तिब्बतीय ढंग के। यहाँ की स्त्रियाँ इतने आभूषण पहनती हैं कि शरीर के किसी भी अंग पर कुछ न कुछ लटका ही रहता है। एक-एक औरत दो-दो तीन-तीन सेर तक के आभूषण पहनती है। स्त्रियाँ पर्दे में नहीं रहतीं। खेती के काम में पुरुषों की अपेक्षा स्त्रियाँ कई गुना होशियार होती हैं। स्त्रियाँ स्वतन्त्र होती हैं। वे मन-चाहे पति को चुनकर विवाह कर सकती हैं। यहाँ न तो दहेज देने की प्रथा है और न कुछ अन्य प्रकार के ही दायज का रिवाज है। यूरोपियों की भाँति गान्धर्व-विवाह होता है। हाल ही में मुझे एक चिट्ठी लाहुल से मिली है। उसमें लिखा है कि "चाचाजी! मेरी बहन का विवाह हो गया, परन्तु न तो हम लोग उस आदमी को जानते हैं और न तो उसका नाम और रूप ही पहचानते हैं।" इसी प्रकार यहाँ विवाह करने की प्रथा है। ब्याह के लिए यहाँ खर्च नहीं के बराबर है। यहाँ बौद्ध और हिन्दू दो ही जाति के लोग हैं। इन दोनों में आपस में कोई भेद-भाव नहीं है। शादी-विवाह भी दोनों में प्रचलित है।

पूजा-पाठ

यहाँ पूजा-पाठ करना तो सबसे मुख्य काम है। कभी कभी तो सुबह से लेकर शाम तक पूजा होती रहती है। प्रत्येक मास की पूर्णमांसी और अमावस्या पुण्य तिथियाँ मानी जाती हैं। इस दिन जहाँ तक हो सके, पुण्य कमाने की कोशिश करते हैं। अक्सर स्त्रियाँ इस दिन विहारों में जाकर पूजा और भिक्षुओं के दर्शन करती हैं। दीपक जलाना सबसे बड़ी पूजा मानी जाती हैं। लंका, बर्मा के गृहस्थों की भाँति यहाँ बार-बार पंचशील ग्रहण करने का रिवाज नहीं है। कभी एक बार शील ले लिया, तो आजीवन पालन करते हैं। इस शील लेने को 'वङ' लेना कहते हैं। इसे किसी बड़े भिक्षु या अवतारी लामा से ही लिया जाता है। 'वङ' मिलना अक्सर दुर्लभ होता है, क्योंकि लाहुल में तो कोई अवतारी लामा है नहीं, इसलिये कभी सौभाग्यवश लद्दाख और तिब्बत से अवतारी लामा पधारते हैं तो 'वङ' मिलता है। उस समय सहस्रों लोग 'वङ' ग्रहण करने के लिए जुट जाते हैं।

श्रावस्ती : एक दिग्दर्शन

श्री भगवतीप्रसाद सिंह एम० ए०

[गतांक से आगे]

जेतवन के भीतर श्रावस्ती में कुछ और ऐसे स्थान हैं जहाँ भगवान् बुद्ध अथवा उनके संघ के भिक्षु और भिक्षुणियाँ रहा करती थीं। उनमें मुख्य हैं कोसंबकुटी, राजकाराम, गंधकुटी, बुद्धासनस्तूप, द्वारकोट्ठक, जेतवन पोक्खरिणी, उपस्थानशाला, करेरिकुटिका, अंगुलिमाल्यकुटी, जंताघर इत्यादि भवन और आनन्दबोधि, वडढ्मान वृक्ष तथा सुन्दरी परिव्राजिका की कथा। आगे इनका संक्षिप्त वृत्तान्त दिया जाता है।

राजकाराम—संयुत्त निकाय में लिखा है कि एक बार भगवान् श्रावस्ती के राजकाराम में विहार करते थे। उस समय १००० भिक्षुणियों का संघ भगवान् के पास आया। इस पर अट्ठकथा में लिखा है कि प्रसेनजित् द्वारा बनवाये जाने के कारण इसका नाम राजकाराम पड़ा था। इस विहार का जातकट्ठकथा में भी उल्लेख है—जिसमें उसे जेतवनपिट्ठि विहार अर्थात् जेतवन के पीछे वाला विहार कहा गया है।

गंधकुटी—यह जेतवन के पूर्व में स्थित थी। पहले बुद्ध जिस कोठरी में निवास करते थे उसे विहार कहते

थे। परन्तु कालान्तर में जब उस पर फूल तथा अन्य सुगन्धित वस्तुयें चढ़ाई जाने लगीं तब वह विहार गंधकुटी कहा जाने लगा। इस कुटी का द्वार पूर्वदिशा की ओर था। संयुत्त निकाय की अट्ठकथा में इस सुन्दर भवन को देव-विमान के समान कहा है।

गंधकुटी के बाहर एक चबूतरा था। भोजनोपरान्त वहाँ खड़े होकर तथागत भिक्षु-संघ को उपदेश किया करते थे। दोपहर को भोजनोपरान्त शास्ता यहीं खड़े हो जाते और सब भिक्षुओं को उपदेश देकर के गंधकुटी में चले जाते थे।

गंधकुटी परिवेण—गंधकुटी के समीप ही गंधकुटी परिवेण था जिसमें एक जगह बुद्धासन रहता था जहाँ पर बैठे तथागत की भिक्षुसंघ वन्दना करता था।

बुद्धासन स्तूप—वह गंधकुटी से कुछ दूर पर था। यह वह स्थान है जहाँ बैठकर तथागत उपदेश दिया करते थे और इसीलिये उसे बार-बार मरम्मत कराने का प्रयत्न किया गया है।

द्वारकोट्ठक—जेतवन के प्रसंग में पहले यह कहा जा चुका है कि अनाथपिण्डिक द्वारा पहली बार लाये हुये कार्षापणों से जेतवन का एक थोड़ा सा भाग बिना ढँका ही रह गया था जिसे कुमारजेत ने अपने लिये माँग लिया और अपने धन से उस पर एक कोठा बनवाया जिसका नाम जेतवन वहिद्वारकोट्ठक या केवल द्वारकोट्ठक कहा गया है। यह गंधकुटी के सामने था।

जेतवन पोक्खरिणी—यह जेतवन कोट्ठक के पास ही थी। जातकट्ठकथा में एक स्थान पर इसका इस प्रकार वर्णन आया है :—

एक समय कोशल राष्ट्र में वर्षा न होने के कारण सरोवर तथा फस्लें सूख गईं। जेतवन द्वारकोट्ठक के समीप पोक्खरिणी का जल भी सूख गया। कीचड़ में घुसकर मच्छ कच्छपों को चोंचों से मार-मार कर कौये और चील खाने लगे। उनके दुःख को देखकर महती करुणा से प्रेरित हो शास्ता ने निश्चय किया कि आज मुझे पानी बरसाना है। भोजन के बाद श्रावस्ती से विहार को जाते हुए जेतवन पोक्खरिणी के सोपान पर खड़े होकर आनन्द स्थविर से कहा 'आनन्द! नहाने का चीवर ला, जेतवन पोक्खरिणी में स्नान करेंगे। शास्ता एक छोर से नहाने के चीवर को पहनकर और दूसरे छोर से सिर को ढँककर सोपान पर खड़े हुए। पूर्व दिशा में एक छोटी सी घटा ने बरसते हुए सारे कोशल राष्ट्र को बाढ़ सा बना दिया। शास्ता ने पुष्करिणी में स्नान कर लाल डुपट्टा पहना। इसी पुष्करिणी के पास वह स्थान था जिसमें बुद्ध का प्रसिद्ध विद्वेषी देवदत्त जीवित ही पृथ्वी में समा गया था। फाहियान तथा ह्वेनसांग दोनों ही का कथन है कि देवदत्त जेतवन में तथागत को विष देने के लिए आया था। इनके पूर्व भी सिंहली अट्ठकथाओं में इसका उल्लेख है जिसके आधार पर फाहियान के समकालीन बुद्धघोष ने पालि अट्ठकथाओं में इसे लिखा। फाहियान के अनुसार देवदत्त जिस स्थान पर धँसा था वह जेतवन के पूर्वद्वार पर राजपथ से ७० पद पश्चिम ओर था। जहाँ चिंचा धरती में धँसी थी—

To the east of the convent about paces is a great chasm. This is where Devadatta went down alive into Hell after trying to poison Buddha···All these chasms are without any visible bottom.

(Beal. Life of Hient-Song p p.93,94)

जेतवन के भीतर की इमारतों में चुल्लवग्ग के सेनासनक्खंधक से निम्नगृहों का पता चलता है।

उपस्थान शाला—खुद्दक निकाय के अनुसार यह जेतवन में भिक्षुओं को एकत्र होकर बैठने की जगह थी जहाँ तथागत सायंकाल को उपदेश दिया करते थे। यह गंधकुटी के पास उत्तर ओर प्रतिवर्ष फूस से छाई जाने वाली इमारत थी।

स्नान कोट्ठक—अंगुत्तर निकाय अट्ठकथा में वर्णन आता है कि तीसरे पहर उपदेश इत्यादि के पश्चात् यदि नहाना चाहते थे तो बुद्धासन से उठकर स्नान कोट्ठक में शरीर को ऋतु ग्रहण कराते थे। यह स्थान गंधकुटी के पास था। गंधकुटी के पास का कुआँ भी इसके निकट था।

जंताघर—धम्मपद अट्ठकथा से यह पता चलता है कि जंताघर स्नान करने का एक स्थान था जो संघाराम के किनारे पर होता था। इसमें पानी गरम करने के लिये आग जलाई जाती थी इसीलिये इसे अग्निशाला भी कहते थे।

आसनशाला का अम्बलकोट्ठक—जेतवन में एक आसन शाला थी जिसके निकट ही अम्बलकोट्ठक नाम की एक कोठरी थी जिसमें पानी भरने वाले रहा करते थे। प्याऊ की उद्यानशाला भी पास ही थी।

जंताघर शाला—यह स्थान सम्भवतः गंधकुटी के पास ही था जहाँ प्रव्रज्या दी जाती थी।

आनन्द बोधि—जेतवन के बीच एक विशाल बोधि वृक्ष (पीपल) था जिसे आनन्द महास्थविर ने लगाया था। भरहुत की जेतवन पट्टिका में भी गंधकुटी के सामने कोसंब कुटी के पूर्वोत्तर कोण पर वेष्टनी से वेष्टित एक वृक्ष दिखाया गया है जो सम्भवतः आनन्द बोधि ही है।

वड्ढमान—धम्मपद अट्ठकथा में वड्ढमान नामक एक प्रसिद्ध वृक्ष का प्रसंग आता है। तथागत ने कहा "आनन्द आज वड्ढमान की छाया में चित्त गृहपति मुझे वन्दना करेगा।"

सुन्दरी परिव्राजिका—जेतवन के सम्बन्ध में सुन्दरी परिव्राजिका की हत्या एक प्रसिद्ध घटना है जिसका उल्लेख चीनी यात्रियों के विवरण और त्रिपिटक दोनों में मिलता है। उदान में लिखा है कि बुद्ध के बढ़ते हुए प्रभाव से ईर्ष्यालु तैर्थिकों ने उन्हें बदनाम करने के लिये सुन्दरी नामक परिव्राजिका को अपना अस्त्र बनाया और उसे नित्य जेतवन भेजकर एक दिन उसकी हत्या कर परिखा में डाल दिया। महाराज प्रसेनजित को जब इस षड्यंत्र का पता चला तो उन तैर्थिकों को मनुष्य-वध का दण्ड मिला।

परिखा—सुन्दरी की कथा से यह पता चलता है कि जेतवन के चारों ओर परिखा खुदी हुई थी जिसमें तैर्थिकों ने सुन्दरी का शव छिपा रखा था।

जेतवन का निर्माण-काल

विनयपिटक से इतना पता तो चलता है कि तथागत को राजगृह में अनाथ पिण्डिक ने वर्षावास के लिये श्रावस्ती में निमंत्रित किया था परन्तु उसका समय निश्चित करने के लिये हमें अंगुत्तर निकाय अट्ठकथा का सहारा लेना पड़ता है। भगवान् बुद्ध का जेतवन में प्रथम वर्षावास ई० पू० ५१४ में हुआ और उसके छः वर्ष बाद ई० पू० ५०७ से लेकर ई० पू० ४८४ तक निरन्तर २४ वर्षों तक वे चातुर्मास यहीं व्यतीत करते रहे। बोधि प्राप्ति के समय उनकी आयु ३५ वर्ष की थी। २९ वर्ष की अवस्था में उन्होंने गृह त्याग किया था और ६ वर्षों की तपस्या के उपरान्त उन्हें बोधिवृक्ष के नीचे ज्ञान की प्राप्ति हुई थी। संयुत्त निकाय में कोशल सम्राट् प्रसेनजित के बुद्ध से प्रथम परिचय और शिष्यत्व ग्रहण करने का जैसा वृत्तान्त मिलता है उससे पता चलता है कि वे उस समय तरुण थे।

"आप गौतम तो जन्म से दहर (तरुण) हैं प्रव्रज्या से भी नये हैं—भगवान् आज से मुझे अपना शरणागत उपासक धारण करें।" (महावग्ग ३९०–३९३)

पूर्वाराम—दीघ निकाय की अट्ठकथा में वर्णन आता है कि अनाथ पिण्डिक ने श्रावस्ती के दक्षिण भाग में सिंहल के अनुराधपुर के महाविहार सदृश स्थान पर जेतवन महाविहार बनवाया। उसी प्रकार विशाखा ने श्रावस्ती के पूर्व भाग में उत्तम देवी विहार के समान स्थान पर पूर्वाराम को बनवाया। श्रावस्ती में जेतवन के बाद बौद्ध धर्म की दृष्टि में पूर्वाराम एक महत्वपूर्ण स्थान था। इसे तथागत की प्रसिद्ध शिष्या भिक्षुणी विशाखा ने २० करोड़ स्वर्ण मुद्राओं से बनवाया था। यह दो-महला था और प्रत्येक तल्ले में ५०० कोठरियाँ थीं। इसके निर्माण में ९ मास लगे थे और मोग्गलान के तत्वावधान में बना था। इसके चारों ओर चार द्वार थे। सायंकाल को पश्चिम द्वार पर बैठकर तथागत धूप लिया करते थे। वहाँ राजा प्रसेनजित तथा दूसरे सम्भ्रान्त व्यक्ति भी उपस्थित होते थे।

तीर्थकाराम—या समयप्पवाद परिव्राजकाराम—श्रावस्ती जिस प्रकार बौद्धों के एक प्रसिद्ध तीर्थ के रूप में प्रतिष्ठित है उसी प्रकार जैनों के लिये भी एक पूज्य स्थान है। जैनियों के आठवें तीर्थंकर चन्द्रप्रभनाथ ने इसी पवित्र भूमि में जन्म ग्रहण किया था। बौद्ध साहित्य में

यहाँ के दिगम्बर जैनों का अनेक स्थान पर उल्लेख मिलता है। तीर्थंकरों और बौद्धों के संघर्ष तथा पारस्परिक विद्वेष की चिंचा और सुन्दरी सदृश कथायें मिलती हैं। इनके अतिरिक्त एक शाटक तथा परिव्राजक इत्यादि सभी मतों के साधुओं के आराम श्रावस्ती के बाहर दक्षिण-पूर्व में फैले हुये थे। इनमें समयप्पवादक तिंदुका चीर एक शाटक मल्लिका का आराम बहुत ही विशाल था। महापण्डित राहुल सांकृत्यायन जी ने इसको चिरेनाथ के मन्दिर की जगह पर निश्चित किया है। यहाँ ब्राह्मण निर्ग्रंथ, अचेलक परिव्राजक आदि प्रव्रजित एकत्र हो अपने-अपने सिद्धान्त की व्याख्या करते थे। इसीलिए यह आराम समयप्पवादक कहा जाता था।

जेतवन के पीछे आजीवकों का भी एक स्थान था। जातकट्ठकथा में कहा गया है "तब आजीवक जेतवन के पीछे नाना प्रकार का मिथ्या जप करते थे। उक्कुटि-प्रधान, वग्गुलि प्रधान, कंटकप्रश्रय, पंचताप-तपन।

सुतनुतीर—संयुत्त निकाय के अनुसार सुतनुतीर पर भी भिक्षुओं का कोई विहार था। सम्भवतः वर्तमान ओड़ाझार, खड़ाआझार सुतनुतीर को सूचित करते हैं। ऐसा मान लेने पर वर्तमान खजुहा ताल प्राचीन सुतनु है।

अन्धवन—श्रावस्ती के पास एक और प्रसिद्ध स्थान अन्धवन था जो श्रावस्ती से एक गव्यूति या प्रायः २ मील था। फाहियान ने लिखा है कि यहाँ ५०० अन्ध भिक्षु वास करते थे। एक दिन उनके मंगल के लिए बुद्धदेव ने धर्म-व्याख्या की। उसी समय उन्होंने दृष्टि-शक्ति प्राप्त किया। वर्तमान पुरैना का ध्वंस अंधवन मालूम पड़ता है। यह भींटी से श्रावस्ती आनेवाले रास्ते में है। जिसे सर जान मार्शल ने काश्यप स्तूप निश्चित किया है।

पांडुपुर—धम्मपद अट्ठकथा के अनुसार श्रावस्ती के अविदूर पांडुपुर नामक एक गाँव था वहाँ एक केवट वास करता था। इसके विषय में इससे अधिक कुछ ज्ञात नहीं।

यह पहले कहा जा चुका है कि १२ वीं सदी में चन्द्रदेव के आक्रमण के पश्चात् सुहेलदेव के पौत्र हरसिंह देव सुहेलवा वन श्रेणी में चले गये। कन्नौज के राजाओं का उद्देश्य केवल इस प्रदेश को आधीन करना था, यहाँ स्थित होकर कोई राजव्यवस्था स्थापित करना नहीं। अतएव १३ वीं सदी के आरम्भ से ही यह स्थान जनशून्य हो गया। कोई राजवंश यहाँ तब से न टिका और मुस्लिम काल में इल्तुतमिश के समय से ही बहरायच के एक उपप्रान्त (सरकार) बन जाने से यह उसी के अन्तर्गत आ गया और अकौना के राजवंश के आधीन मुगल सम्राट अकबर तक रहा। धीरे-धीरे इसके सभी प्राचीन स्मारक ध्वस्त होते गये। परन्तु इस विशाल नगर का इतना शीघ्र विनाश कैसे हुआ इसके संतोष-जनक प्रमाण अभी नहीं मिल सके हैं। जनश्रुतियों में इसके ध्वंस का कारण दैवी कोप बताया जाता है। जो सुहेलदेव के अपनी भातृवधू को देखने के कारण हुआ था। १२ वीं शती में निर्जन तथा इस पतनोन्मुख नगर का ध्वंस अचिरवती (राप्ती) की बाढ़ के कारण हुआ अथवा अन्य किसी राजनीतिक घटना से। इसके ज्ञान के साधन अब अवशेष नहीं रहे। सहेट महेट शब्द का स्थानीय बोली में सर्वनाश के अर्थ में लाक्षणिक-प्रयोग से इतना पता अवश्य चलता है कि इसके रहे सहे गौरव की समाप्ति किसी आकस्मिक घटना द्वारा हुई होगी।

यही इस महान् नगर का संक्षिप्त इतिहास है। पौराणिक बौद्ध तथा मध्यकालीन इतिहासों के आधार पर लव के समय से लेकर सुहेलदेव के पौत्र हरदेव के शासन-काल तक इसका जो इतिहास प्राप्त है वह विश्रृंखल होने पर भी आर्य संस्कृति के अध्ययन का प्रधान साधन है। भारत की धार्मिक तथा राजनीतिक विचार-क्रांतियों का अनेक शताब्दियों तक यह केन्द्र रहा है। और आर्य, बौद्ध तथा जैन तीनों की श्रद्धा समानरूप से आकर्षित करता रहा है। इस विचार से समन्वयवादी विचारधारा का यहीं से प्रवर्तन होना माना जा सकता है। श्रावस्ती का समयप्पवादक तिंदुकाचीर एक शाटक आराम इसी उद्देश्य से स्थापित किया गया था।

आज तक अपनी अज्ञानता, आलस्य अथवा परा-धीनता के कारण हम अपने अतीत के इस विराट् स्मारक की ओर यथोचित ध्यान न दे सके और यदि कनिंघम,

सरजान मार्शल, पं० दयाराम साहनी तथा महापण्डित राहुल सांकृत्यायन इसकी स्थिति तथा महत्व पर प्रकाश न डालते और भारत सरकार का पुरातत्व विभाग इसका संरक्षण न करता तो संभव था आज इसके ध्वंसावशेष खेतों में परिणत हो गये होते। परतन्त्रावस्था में इतना ही क्या कम हुआ कि इसके ईंट-पत्थर तो बच रहे। खुदाई में मिली हुई स्वर्णमुद्रायें तो ब्रिटिश म्यूजियम लन्दन में पहुँच गईं। अब एक स्वतन्त्र देश की स्थिति में भारत सरकार तथा जनता दोनों का कर्त्तव्य है कि इसकी खोदाई का यथोचित प्रबन्ध हो जिससे सम्भव है हमें अपने इतिहास की बिखरी शृंखलाओं को जोड़ने के लिये कुछ कड़ियाँ प्राप्त हों।

श्रावस्ती का प्राचीन गौरव आज भूमि के गर्भ में है, इसकी खोदाई अत्यन्त आवश्यक है। देश की शासन-व्यवस्था आज जिन लोगों के हाथ में है वे समझते हैं कि इस प्रकार के कार्य का भारतीय इतिहास तथा संस्कृति के लिये कितना महत्व है। इसके समकालीन कौशाम्बी नगर की खोदाई में सरकार प्रयाग विश्वविद्यालय को पूर्ण सहयोग दे रही है। श्रावस्ती के सांस्कृतिक महत्व की पुनर्स्थापना के लिये बाबा राघवदास जी की प्रेरणा से श्रावस्ती पुनरुद्धार समिति नाम से एक संस्था की स्थापना हुई है। हमें पूर्ण आशा है कि केन्द्रीय तथा उत्तरप्रदेशीय सरकार हमारी श्रावस्ती की इस पुनरुद्धार योजना में पूर्ण सहयोग देंगी। जिससे संभव है हमें श्रावस्ती से सम्बद्ध आर्य संस्कृति के विकास का एक प्रामाणिक तथा शृंखला-बद्ध इतिहास प्रस्तुत करने में सहायता मिले।

बौद्धयोगी के पत्र—८

अशुभ-भावना

प्रिय जिज्ञासु,

तुम्हारे दोनों पत्र एक ही साथ मिले। पढ़कर प्रसन्नता हुई कि तुम अगली पूर्णिमा को भिक्षु-संघ को भोजन-दान देना चाहते हो। मेरा आ सकना तो सम्भव नहीं। तुम वहाँ के भिक्षु-संघ को बड़े आदर, प्रेम एवं श्रद्धा से दान देना। भोजन-दान से बहुत पुण्य होता है। तुम तो ऊपर से चीवर भी देनेवाले हो। तुम्हारे इस संकल्प के लिये साधुवाद। हाँ, भूलना नहीं, दान के उपरान्त प्रसन्न-मन से अपने कुल के मरे हुए लोगों तथा आरक्षक देवताओं को भी उसका पुण्यांश देना। उन्हें पुण्यांश प्रदान करने से उनका तो उपकार होगा ही, तुम्हारा पुण्य दुगुना हो जायेगा। पुण्यांश देने से पुण्य घटता नहीं, प्रत्युत दान-चेतना के कारण बढ़ता ही है। उस दिन तुम सर्वप्रथम बुद्ध-पूजा करना, पञ्चशील लेना, दान देनेवाली वस्तुओं को भिक्षु-संघ को दान देना, भली प्रकार श्रद्धावनत हो भिक्षु लोगों को अपने हाथ से परस कर खिलाना, भोजनोपरान्त भिक्षु लोगों से उपदेश सुनना, जल देकर इन सभी पुण्यकर्मों का स्मरण करते हुए दिवंगत भाई-बन्धु, ज्ञाति-मित्र, माता-पिता आदि कुल के सभी लोगों को "इदं नो ञातीनं होतु, सुखिता होन्तु ञातयो" कहकर पुण्यांश देना तथा सभी देवी-देवताओं को भी पुण्यांश-प्रदान करना। भिक्षु लोगों को जाते समय पञ्चांग प्रणाम् करके ही विदा करना। यदि तुम्हें किसी प्रकार का धर्म-सन्देह हो तो अपने घर पर न पूछकर संध्या समय विहार में जाकर ही भिक्षु लोगों से विनम्र शब्दों में पूछना। शीलों का पालन करना, दान देना, भिक्षु-संघ का सम्मान करना, धर्म-पूर्वक आजीविका करना तथा समय निकाल कर कुछ भावना कर लेना—तुम्हारे जीवन के ये प्रधान कार्य होने चाहिये।

मैंने चौथे पत्र में साधक के लिए चालीस कर्मस्थानों को गिनाया था। उनमें दस कसिणों की यौगिक-क्रियाओं का वर्णन किया जा चुका है। इस पत्र में अशुभ-कर्मस्थान के सम्बन्ध में लिख रहा हूँ। तुम इन्हें भली प्रकार पढ़कर समझ लेना, तब अभ्यास करने में लगना, नहीं तो

'चटपट' करने से अनर्थ होने की सम्भावना रहती है। जो बात समझ में न आये, मुझसे पूछ लेना। प्रायः साधक बिना समझे ही अशुभ भावना में जुट जाते हैं। वे या तो पागल हो जाते हैं अथवा हिम्मत हार बैठते हैं।

मैंने लिखा था कि ऊर्ध्वमातक, विनीलक, विपुब्बक, विच्छिद्रक, विक्खायितक, विक्षिप्तक, हत-विक्षिप्तक, लोहितक, पुलुवक और अस्थिक—ये ही दस अशुभ हैं।

ऊर्ध्वमातक कहते हैं उस मृत-शरीर को जो वायु से भर कर भाथी के समान फूल गई हो। सफेद और लाल रंगों से मिश्रित रंग को विनील कहते हैं, जो मृत-शरीर फूलने के पश्चात् नीला हो गया हो, वही विनीलक है। मृत-शरीर के फूटे हुए स्थानों में बहती हुई पीब का नाम विपुब्बक है। कट कर दो हिस्सों में अलग हो गये मृत शरीर को विच्छिद्रक कहते हैं। कुत्ते-सियार आदि जानवरों से खाया गया मृत-शरीर विक्खायितक कहा जाता है। जिस शरीर को कुत्ते-सियार खाकर इधर-उधर बिखेर दिये हों वह विक्षिप्तक है। हथियार आदि से मारा गया और इधर-उधर बिखेरा हुआ मृत-शरीर हत-विक्षिप्तक कहा जाता है। बहे हुए लोहू से सना हुआ मृत-शरीर लोहितक है। जिस मृत-शरीर में कीड़े पड़कर बिखर रहे हों, वह पुलुवक कहा जाता है। हड्डी को ही अस्थिक कहते हैं, चाहे वह हड्डियों का समूह हो अथवा एक छोटी सी हड्डी हो।

जो योगी ऊर्ध्वमातक अशुभ की भावना करना चाहे, उसे सबसे पहले उपयुक्त आचार्य के पास जाना चाहिए। और सारे भावना-विधान को भली प्रकार समझ लेना चाहिए। उसके पश्चात् अपने आसपास के सभी लोगों को बतलाकर डण्डा ले स्मृति ठीक कर अकेले श्मशान की ओर जाना चाहिए। जाते समय दिशा, मार्ग, वृक्ष, लता आदि सभी चीजों को भली प्रकार मन में बैठाते हुए जाना चाहिये। मृतक के पास पहुँचने के पूर्व हिंसक जन्तुओं एवं हवा का विचार कर लेना चाहिए। मृत-शरीर की दुर्गन्धि से सदा बचना चाहिये, नहीं तो मन खराब हो जाता है, चित्त एकाग्र नहीं होता। उस समय कपड़े से नाक को बन्द भी कर सकते हैं।

मृत-शरीर के पास जाकर शरीर के बिचले भाग के सामने ऐसे स्थान पर खड़ा होना चाहिये, जहाँ से सारे शरीर को एक साथ देखकर भली प्रकार निमित्त ग्रहण कर सकें। उसके बिलकुल पास नहीं खड़ा होना चाहिए, नहीं तो भय उत्पन्न हो सकता है। बहुत दूर भी नहीं रहना चाहिए, नहीं तो निमित्त भली प्रकार नहीं ग्रहण हो सकेगा। अनुकूल स्थान पर खड़ा हो मृत-शरीर के अंग-प्रत्यंग की ओर ध्यान देना चाहिए और उसकी आकृति को मन में बैठाना चाहिए। उसके पास जो पेड़-पौधे तथा कंकड़-पत्थर हों उनका भी विचार कर लेना चाहिए। ऊर्ध्वमातक निमित्त को भली प्रकार मन में बैठाते हुए सारे शरीर में ज्ञान फैलाकर, जो स्थान स्पष्ट होकर जान पड़े वहाँ "ऊर्ध्वमातक, ऊर्ध्वमातक" सोचकर चित्त को स्थिर करना चाहिए। यदि ऐसे न हो सके तो पेट से लेकर ऊपर के फूले हुए भाग में "ऊर्ध्वमातक" सोचकर चित्त को स्थिर करना चाहिए। बार-बार अपनी आँखों को उघाड़कर देखना चाहिए और आँखों को मूँदकर उसका मन में विचार करना चाहिए। इस प्रकार बार-बार करने पर उग्गह-निमित्त ग्रहण हो जाता है। उग्गह-निमित्त उसी समय ग्रहण हुआ जानना चाहिए जब कि आँखों को मूँदकर विचार करने पर भी खुली हुई आँखों से देखने के समान निमित्त जान पड़ने लगे।

जब उग्गह-निमित्त ग्रहण हो जाय, तब पुनः मार्ग की सारी चीजों का विचार करते हुए अपने रहने के स्थान पर चला आना चाहिए और जिस दिशा में वह ऊर्ध्वमातक-निमित्त हो उसी ओर मुँह करके बार-बार उसका विचार करना चाहिये। उसे मन में बैठाना चाहिये और उसके प्रति तर्क-वितर्क करना चाहिये। ऐसा करने वाले योगी को प्रतिभाग निमित्त उत्पन्न होता है। उग्गह और प्रतिभाग निमित्तों में यह भेद होता है—उग्गह निमित्त विरूप, वीभत्स और भयानक होकर जान पड़ता है। किन्तु प्रतिभाग निमित्त इच्छा भर खाकर सोये हुए मोटे अंगवाले पुरुष के समान। प्रतिभाग-निमित्त प्राप्त होने के बाद ही उपचार-समाधि उत्पन्न होती है। तदुपरान्त प्रथम ध्यान की अर्पणा की प्राप्ति होती है।

शेष अशुभों की भावना भी ऊर्ध्वमातक के समान ही होती है। केवल उग्गह और प्रतिभाग निमित्त में ही

अन्तर पड़ता है। विनीलक में उग्गह निमित्त चितकबरे रंग का जान पड़ता है और प्रतिभाग निमित्त जिस रंग की अधिकता होती है, उस रंग के अनुसार जान पड़ता है। विपुब्बक में उग्गह निमित्त पघरते हुए के समान जान पड़ता है और प्रतिभाग निमित्त निश्चल तथा स्थिर होकर। विच्छिद्दक में उग्गह निमित्त बीच में छेद हुए के समान जान पड़ता है, किन्तु प्रतिभाग निमित्त परिपूर्ण होकर जान पड़ता है। विक्खायितक में उग्गह-निमित्त जगह-जगह पर खाये गये के समान जान पड़ता है, किन्तु प्रतिभाग-निमित्त परिपूर्ण होकर जान पड़ता है। विक्षिप्तक में उग्गह-निमित्त बीच-बीच में अन्तर पड़े हुए भाग को प्रगट करते हुए जान पड़ता है, किन्तु प्रतिभाग-निमित्त परिपूर्ण होकर जान पड़ता है। हतविक्षिप्तक में उग्गह-निमित्त मार खाये हुए स्थान को प्रगट करते हुए जान पड़ता है, किन्तु प्रतिभाग निमित्त परिपूर्ण होकर जान पड़ता है। लोहितक में उग्गह-निमित्त वायु से फहराती हुई लाल पताका के समान चंचल आकार में जान पड़ता है, किन्तु प्रतिभाग निमित्त स्थिर होकर जान पड़ता है। पुलुवक में उग्गह-निमित्त चंचल जान पड़ता है, किन्तु प्रतिभाग निमित्त भात के पिण्ड के समान स्थिर हुआ जान पड़ता है। अस्थिक में उग्गह और प्रतिभाग दोनों निमित्त एक समान होते हैं।

योगी को यह जानना आवश्यक है कि इन अशुभों से केवल प्रथम ध्यान की ही प्राप्ति होती है, द्वितीय, तृतीय और चतुर्थ ध्यान इनसे नहीं प्राप्त होते। जिस प्रकार तेज धार वाली नदी में लंगर के बल से ही नौका रुकती है, बिना लंगर के रोकी नहीं जा सकती, वैसे ही आलम्बन के दुर्बल होने से वितर्क के बल से चित्त एकाग्र होकर रुकता है, बिना वितर्क के रोका नहीं जा सकता, अतः वितर्क, विचार, प्रीति, सुख और चित्त की एकाग्रता से युक्त प्रथम ध्यान ही इनसे प्राप्त होता है।

योगी को चाहिए कि प्रथम ध्यान प्राप्त करके "अवश्य मैं इस मार्ग से जन्म-मरण से मुक्त हो जाऊँगा" संकल्प कर बार-बार शरीर के अशुभ-भाव का विचार करे। इस प्रकार चित्त राग, द्वेष और मोह से मुक्त हो जायेगा। योगी जन्म-जरा आदि सांसारिक दुःखों से मुक्ति पा लेगा। पुराने योगियों ने कहा है—

दुग्गन्धो असुचि कायो कुणपो उक्करूपमो।
निन्दितो चक्खुभूतेहि कायो बालाभिनन्दितो॥

काय दुर्गन्ध है, अपवित्र है, मुर्दा है, पाखाना-घर के समान है; काय चक्षुवाले लोगों से निन्दित है, किन्तु मूर्ख उसका अभिनन्दन करते हैं।

अल्लचम्मपटिच्छन्नो नवद्वारो महावणो।
समन्ततो पग्घरति असुचि पूतिगन्धियो॥

गीले चमड़े से ढँका हुआ, नव द्वारों से युक्त महाव्रण वाला यह काय चारों ओर से सड़ी-दुर्गन्धिवाली गन्दगी को बहा रहा है।

सचे इमस्स कायस्स अन्तो बाहिरतो सिया।
दण्डं नून गहेत्वान काके सोणे च वारये॥

यदि इस शरीर का भीतरी भाग बाहर हो तो अवश्य डण्डा लेकर कौवों और कुत्तों को रोकना पड़े।

अतः बुद्धिमान् योगी को चाहिये कि वह मृत-शरीर में अशुभ-निमित्त को ग्रहण कर कर्मस्थान को अर्पणा तक पहुँचाये और आगे की भावना करते हुए निर्वाण प्राप्त कर ले।

तुमने अपने पत्र में जो प्रश्न लिख भेजा था, उसका उत्तर मैंने इसी पत्र में लिख दिया है, अलग से लिखने की आवश्यकता नहीं जान पड़ी। आशा है इसे पढ़कर तुम्हारा सन्देह दूर हो जायेगा। बस, आज इतना ही। योगिराज के आशीर्वाद।

घोसिताराम — तुम्हारा—
६-२-५४ — योगी

सूचना

'धर्मदूत' का मई-अंक बुद्धजयन्ती विशेषांक होगा। इसमें बौद्धधर्म सम्बन्धी विभिन्न विषयों के गवेषणात्मक परिचय दिये जायेंगे। भारत तथा बाह्य देशों के कई दर्जन प्रसिद्ध बौद्ध लेखकों के लेख इस अंक में प्रकाशित होंगे।

लेखकों से निवेदन है कि वे अपने लेख इस मास के अन्तिम सप्ताह तक भेज देने की कृपा करें।

—सम्पादक

बौद्ध-जगत्

अजमेर में वैशाखी पूर्णिमा को सार्वजनिक अवकाश

मूलगन्धकुटी विहार सारनाथ के २२ वें वार्षिकोत्सव के अवसर पर सर्वसम्मति से स्वीकृत प्रस्ताव-संख्या ४ को अजमेर सरकार ने सहर्ष स्वीकार कर लिया है और अजमेर में वैशाखी पूर्णिमा को सार्वजनिक अवकाश का दिन घोषित कर दिया है। अजमेर सरकार के गृह तथा सेवा-विभाग के सहायक सचिव श्री बृजबहादुर ने इसकी सूचना देते हुए महाबोधि सभा सारनाथ के मंत्री को अपने ६ जनवरी ५४ के पत्र-संख्या जी० ए (५)।२४।५३ में लिखा है—"मुझे आदेश हुआ है कि मैं आपका ध्यान आपके पत्र-संख्या··· दिनांक ५-१२-५३ की ओर आकर्षित करूँ तथा आपको सूचित करूँ कि इस राज्य में वैशाखी पूर्णिमा (बुद्ध पूर्णिमा) दिनांक १७ मई सन् १९५४ स्थानीय सार्वजनिक अवकाश का दिन घोषित कर दिया गया है।"

हम अजमेर सरकार को इस कार्य के लिए बौद्ध जगत् की ओर से बधाई देते हैं और आशा करते हैं कि अजमेरवासी कोलिय राजपूत बौद्धों को सरकार से काफी सहायता मिलेगी और अजमेर सरकार सदा उनपर कृपा-दृष्टि बनाये रखेगी। वैशाखी पूर्णिमा को सार्वजनिक अवकाश का दिन घोषित करके अजमेर सरकार ने एक बहुत बड़ी आवश्यकता की पूर्ति की है। हम सब बौद्ध इसके लिए अजमेर सरकार के कृतज्ञ हैं।

सारनाथ में भिक्षुओं को प्रीति-भोज—१५ जनवरी को सारनाथ में कम्बोडिया संघराज के शिष्य भिक्षु फलाज्ञान ने अपने जन्म-दिवस के उपलक्ष में सारनाथ-बनारस स्थित १८ भिक्षुओं को प्रातः एवं दोपहर में प्रीति-भोज दिया, जिनमें बर्मा, अराकान, लंका, तिब्बत, लद्दाख, पूर्वी पाकिस्तान, नेपाल, भारत और चीन के भिक्षु सम्मिलित हुए थे।

दोपहर में भोजनोपरान्त भारतीय बौद्ध संघ के प्रधान मंत्री भिक्षु ऊ चन्दिमा महास्थविर के सभापतित्व में एक अभिनन्दन सभा हुई। भिक्षु अग्गसमाधि, भिक्षु धर्मरक्षित, भिक्षु संघरत्न और भिक्षु सद्धातिस्स के भाषण के उपरान्त सभापति का भाषण हुआ। भिक्षु धर्मरक्षित ने अपने भाषण में कम्बोडिया एवं भारत के सांस्कृतिक अटूट सम्बन्ध पर प्रकाश डाला। भिक्षु सद्धातिस्स ने भिक्षु फलाज्ञान को भिक्षुसंघ की ओर से आशीर्वाद देते हुए उनके गुणों का वर्णन किया। भिक्षु संघरत्न ने अपने भाषण के सिलसिले में कहा कि मैं इस सभा के भाषणों से इतना प्रभावित हूँ कि मैं भी शीघ्र ही भिक्षुसंघको प्रीति-भोज देने की व्यवस्था करूँगा।

सभापति ने भाषण करते हुए कहा कि कम्बोडिया का न केवल भारत से ही प्रत्युत सारे एशियायी बौद्ध देशों से सांस्कृतिक सम्बन्ध है। कम्बोडिया में आज भी बौद्धधर्म परिशुद्ध रूप से विद्यमान है।

अन्त में भिक्षुसंघ ने भिक्षु फलाज्ञान की मंगल कामना करते हुए सूत्रपाठ किया। भिक्षु फलाज्ञान ने भिक्षुसंघ को धन्यवाद दिया।

धर्मपाल स्मारक-स्तूप का उद्घाटन—२९ जनवरी को सारनाथ में नव-निर्मित धर्मपाल-स्मारक-स्तूप का समारोहपूर्वक उद्घाटन हुआ। यह स्तूप 'श्री लंका भारत वन्दना समिति' की सहायता से बनकर तैयार हुआ है। स्तूप उद्घाटन के पश्चात् श्री रेवत महास्थविर के सभापतित्व में एक सभा हुई, जिसमें भिक्षु बुद्धरक्षित, भिक्षु सद्धातिस्स, भिक्षु संघरत्न, भिक्षु शीवली, भिक्षु गुणरत्न, भिक्षु फलाज्ञान, भिक्षु अश्वघोष और लामा लोबजङ् के भाषण हुए। सब वक्ताओं ने इस स्तूप के महत्त्व पर प्रकाश डालते हुए स्वर्गीय अनागारिक धर्मपाल के जीवन एवं उनके महान् कार्यों का वर्णन किया।

चीनी बौद्ध विहार में नव-वर्षारम्भ-उत्सव—

३ फरवरी को सारनाथ स्थित चीनी बौद्ध विहार में चीन-देशीय नववर्षारम्भ-उत्सव मनाया गया। चीन, तिब्बत और जापान में माघ मास की अमावस्या से नये वर्ष का आरम्भ होता है। उक्त देशों में यह उत्सव बड़े समारोह के साथ मनाया जाता है।

नव वर्ष के उपलक्ष में सारनाथ के चीनी बौद्ध विहार की ओर से सभी भिक्षुओं, स्थानीय स्कूलों के अध्यापकों एवं कतिपय सम्भ्रान्त गृहस्थों को भोजन कराया गया तथा रात्रि में प्रदीप जलाये गये और पटाखे छोड़े गये।

जेल से मुक्त व्यक्तियों द्वारा बुद्धपूजा—२८ जनवरी को देवरिया जिलान्तर्गत तरया सुजान क्षेत्र के एक डकैती केस के १४ व्यक्तियों ने कसया के न्यायाधीश श्री मेहरा द्वारा निर्दोष पाकर मुक्त किये जाने पर जुलूस के साथ कुशीनगर आकर भगवान् बुद्ध की पूजा की तथा मिठाई बाँटी।

स्मरण रहे उन्होंने जेल में रहते समय भगवान् बुद्ध का स्मरण करके मनौती मानी थी कि जब हम लोग जेल से निर्दोष मुक्त हो जायेंगे, तब बुद्धपूजा करेंगे तथा मिठाई बाँटेंगे।

कुशीनगर में प्रव्रज्या—कुशीनगर के बौद्ध विहार में गत २५ जनवरी को पूज्य भदन्त श्री चन्द्रमणि महास्थविर के पास नेपाल के एक धनी सेठ ने प्रव्रज्या ग्रहण की। वे काठमांडू के दलबटोल के रहने वाले हैं। उनका गृहस्थ नाम वीरमान था। प्रव्रज्या के प्रश्चात् उनका नाम ज्ञानसागर रखा गया। इस समय उनकी अवस्था ५५ वर्ष है। उनके साथ काठमांडू की ही ५१ वर्षीया श्रीमती विष्णुकुमारी ने भी अनागारिका-दीक्षा ग्रहण की। दीक्षा के उपरान्त उनका नाम अनागारिका दानशीला रखा गया। दूसरे दिन ये लोग कुशीनगर से लुम्बिनी चले गये और आजकल वहीं हैं।

अजमेर में सिद्धार्थ विद्यालय—अजमेर में मायापुरी राबड़िया के पास 'सिद्धार्थ विद्यालय' नामक एक मिडिल स्कूल खोला गया है। इस स्कूल का विशेष उद्देश्य समाज में विद्या और बौद्ध साहित्य का प्रचार करना है। इसके संचालक श्री धर्मसिंह चौहान और प्रधनाध्यापक श्री अमरसिंह गहलोत हैं।

हिन्दू साधु ने भिक्षु-दीक्षा ली—बम्बई के वरली स्थित बौद्ध विहार में एक ४० वर्षीय हिन्दू साधु ने ११ जनवरी को भिक्षु-दीक्षा ग्रहण की। एक १४ वर्षीय बालक ने भी उसी के साथ प्रव्रज्या ग्रहण की। दीक्षोपरान्त दोनों का नाम क्रमशः संघानन्द और विमलानन्द रखा गया। दीक्षा-कार्य भिक्षु संघरक्षित द्वारा सम्पन्न हुआ।

बौद्धधर्म महान् है—लंका के प्रधान मंत्री श्री जान कोतलावल के स्वागत में नई दिल्ली में भाषण देते हुए गत १८ जनवरी को पं० जवाहरलाल नेहरू ने कहा कि बौद्ध-धर्म एक महान् धर्म है। इसके महत्त्व को जानने के लिये इतना ही पर्याप्त है कि सम्राट् अशोक ने आज से दो हजार वर्ष पूर्व इसी धर्म के प्रचारार्थ विभिन्न देशों में धर्मप्रचारक भिक्षुओं को भेजा था जिन्होंने उन देशों में भगवान् बुद्ध के सन्देश का प्रचार किया था और श्रद्धापूर्वक उसे ग्रहण किया था।

भूटान नरेश साँची में—गत २ फरवरी को भूटान के महाराजा और महारानी दिल्ली से साँची पहुँचे। स्टेशन पर भोपाल के मुख्य मंत्री ने आप लोगों का स्वागत किया। उस समय काफी संख्या में ग्रामीण "महाराज और महारानी भूटान जिन्दाबाद" के नारे लगा रहे थे। राजा-रानी ने साँची के सभी दर्शनीय स्थानों का दर्शन कर अग्रश्रावकों की अस्थियों की पूजा की और साँची के नव-निर्मित विहार के लिए राजा ने ३०००) दान दिये। रानी ने अपनी माता की ओर से एक बृहद् चाँदी का दीपक (छुकुम) और आधा दर्जन चाँदी के पात्र दान दिये।

छठीं धर्मसङ्गीति—आगामी वैशाख पूर्णिमा को बर्मा में छठीं धर्मसंगीति आरम्भ होगी। यह संगीति बुद्धाब्द २५०० में पूर्ण होगी। भगवान् बुद्ध के परि-निर्वाण के समय से अब तक पाँच धर्म संगीतियाँ हो चुकी हैं। यह छठीं धर्मसंगीति है। ऐसा समझा जाता है कि बुद्धाब्द २५०० के बाद एक बार पुनः बौद्धधर्म का बड़े वेग से प्रचार होगा।

जो संगीति बर्मा में होने जा रही है, उसका संचालन बर्मा की बुद्ध शासन कौंसिल नामक समिति कर रही

है। यह समिति पूर्ण रूप से बर्मा सरकार से सम्बन्धित है। समिति द्वारा संसार के सभी प्रधान महास्थविरों एवं प्रमुख बौद्ध विद्वानों को निमंत्रण भेजा जा चुका है। आमंत्रित लोग जब तक बर्मा में रहेंगे, उनके लिये सारा व्यय समिति करेगी।

भदन्त आनन्द कौसल्यायन स्याम को—स्याम-भारत सांस्कृतिक समिति की ओर से निमंत्रित होकर भदन्त आनन्द कौसल्यायन स्याम जा रहे हैं। वे वहाँ लगभग दो मास रहेंगे। उनका वहाँ बहुत व्यस्त रहने का कार्यक्रम है। हम आशा करते हैं कि उनके भाषणों से भारत और स्याम के सम्बन्धों पर गहरा प्रभाव पड़ेगा।

कलकत्ता में बौद्ध व्याख्यान-माला—भिक्षु संघरक्षित के कलकत्ता में रहने के कारण महाबोधि-सभा ने उनके व्याख्यान-माला का प्रबन्ध किया। प्रथम व्याख्यान २४ दिसम्बर को सभा-भवन में हुआ। विषय था 'बौद्ध-धर्म और ईश्वर'। दूसरा व्याख्यान ३१ दिसम्बर को हुआ। उसका विषय था 'प्रार्थना और ध्यान'। इन व्याख्यानों को सुनने के लिए बहुत काफी संख्या में लोग आए थे। अनेक श्रोताओं ने तर्क-वितर्क भी किया। इन व्याख्यानों से प्रसन्न होकर कई व्यक्तियों ने पञ्चशील लेकर बुद्धधर्म ग्रहण किया। इस व्याख्यान-माला के प्रबन्ध की सबने मुक्तकंठ से प्रशंसा की।

कल्याणी में धर्म-प्रचार—कलकत्ता से ३५ मील की दूरी पर स्थित कल्याणी में जो काँग्रेस अधिवेशन हुआ है, उसमें भारतीय महाबोधि सभा की ओर से धर्म-प्रचारार्थ सभा के कई सदस्य गये थे। प्रदर्शनी में सभा की ओर से एक बुक-स्टाल भी खोला गया था, जहाँ बौद्ध साहित्य का प्रदर्शन किया गया तथा महाबोधि सभा सम्बन्धी पुस्तिकायें वितरित की गई।

कालिंपोंग में धर्म-प्रचार—भिक्षु संघरक्षित ने कालिंपोंग में भारतीय महाबोधि सभा की स्थापना कर वहाँ बौद्ध-धर्म का प्रचार करने में संलग्न हैं। प्रति सप्ताह बौद्ध धर्म पर भाषण होते हैं, जिसे सुनने के लिए पर्याप्त संख्या में लोग एकत्र होते हैं। गत वर्ष दानस्वरूप कालिंपोंग स्थित बौद्ध विहार को ४४१) प्राप्त हुए।

दार्जिलिंग में बौद्ध सभा—गत मास में नेपाली तामंग बुद्धिष्ट असोसियेशन की ओर से जी० डी० एन० एस० हॉल में एक धार्मिक सभा हुई। पालि और तिब्बती सूत्रों के पाठ के उपरान्त फ्रांस देशीय अनागारिका धर्मरक्षिता (कुमारी डी० डेलनोय) का "मैं बौद्ध क्यों हुई?" शीर्षक पर भाषण हुआ। तदुपरान्त भिक्षु संघरक्षित का "बौद्धधर्म और अहिंसा" की समस्या पर भाषण हुआ। दो नेपाली वक्ताओं के पश्चात् सभा के अध्यक्ष रायबहादुर सन्याल का भाषण हुआ। यह सभा बड़ी सफल रही। इसमें सम्मिलित होने के लिए करसंग जैसे दूर-दूर के नगरों से लोग आये थे।

सन्ध्या समय गन्धमादन विहार में उत्सव मनाया गया। त्रिशरण और पंचशील देने के पश्चात् सूत्रपाठ हुआ तथा प्रदीप-पूजा की गई।

अजमेर में बौद्ध-उत्सव—गत १७ जनवरी को अजमेर में समारोहपूर्वक उपासक धन्नसिंह चौहान, संचालक सिद्धार्थ विद्यालय का जन्मोत्सव बौद्ध पद्धति से मनाया गया। उस दिन परित्राण पाठ, त्रिशरण-पंचशील-ग्रहण, बुद्ध-कीर्तन आदि का आयोजन किया गया था, जिसमें अजमेरवासी बौद्ध उपासक-उपासिकाएँ काफी संख्या में सम्मिलित हुई थीं। अजमेर के बौद्धों ने जन्मोत्सव के रूप में जो यह बौद्ध उत्सव करने की परिपाटी शुरू कर दी है, इससे वहाँ धर्म के प्रति लोगों में सुरुचि उत्पन्न हो रही है।

बुद्ध-जयन्ती महोत्सव—इस वर्ष वैशाखी पूर्णिमा १६ मई रविवार को पड़ी है। हमारा अपने सभी पाठकों से निवेदन है कि वे अपने-अपने यहाँ यथाशक्ति बुद्ध-जयन्ती मनावें और उसका समाचार धर्मदूत में प्रकाशनार्थ प्रेषित कर दें। इस वर्ष बुद्धगया, नई दिल्ली, बम्बई, अजमेर, कुशीनगर, लुम्बिनी आदि में बड़े समारोह के साथ बुद्धजयन्ती उत्सव मनाया जायेगा। कुशीनगर में आगामी १६ मई को जो अन्तर्राष्ट्रीय बौद्ध सम्मेलन एवं बुद्ध-जयन्ती महोत्सव होगा, उसकी अध्यक्षता भारत के गृहमन्त्री डा० कैलाशनाथ काटजू करेंगे। उनकी स्वीकृति-सूचना कुशीनगर भिक्षुसंघ के प्रधानमन्त्री को प्राप्त हो चुकी है।

हिन्दी में बौद्धधर्म की पुस्तकें

दीघनिकाय—राहुल सांकृत्यायन ६)
मज्झिम निकाय— ,, ,, ८)
विनय पिटक— ,, ,, ८)
सुत्तनिपात—भिक्षु धर्मरत्न २॥)
खुद्दकपाठ— ,, ।)
धम्मपद—अवधकिशोर नारायण १॥)
जातक—भिक्षु आनन्द कौसल्यायन भाग १, २ ७॥), ७॥)
,, ,, (भाग ३) १०)
पालि महाव्याकरण—भिक्षु जगदीश काश्यप ५॥)
भगवान् बुद्ध की शिक्षा—श्री देवमित्त धर्मपाल ।–)
तथागत—भिक्षु आनन्द कौसल्यायन १॥)
बुद्ध और उनके अनुचर— ,, १।।।)
बौद्धचर्या पद्धति—बोधानन्द महास्थविर १॥)
बुद्धचर्या—राहुल सांकृत्यायन, सजिल्द ८)
सरल पालि शिक्षा—भिक्षु सद्धातिस्स १॥)
बौद्ध कहानियां—व्यथित हृदय १॥)
बुद्ध कीर्तन—प्रेमसिंह चौहान १॥)
बुद्धार्चन— ,, ,, ।)
बोधिद्रुम (कविता)—सुमन वात्स्यायन ।=)
महा कारुणिक तथागत—वेदराज प्रसाद ।॥)
धम्मपद (कथाओं के साथ)—भिक्षु धर्मरक्षित २॥)
भगवान् हमारे गौतमबुद्ध—प्रो० मनोरंजन प्रसाद –)
बुद्धदेव—शरत् कुमार राय १।।।)
थेरी गाथायें—भरतसिंह उपाध्याय— १॥)
बुद्ध और बौद्ध साधक— ,, १॥)
तथागत का प्रथम उपदेश—भिक्षु धर्मरक्षित ।)
कुशीनगर का इतिहास— ,, २॥)
पालि-पाठ-माला— ,, १)
जातिभेद और बुद्ध— ,, ॥)
नेपाल यात्रा—(सचित्र) ,, ४॥)
तेलकटाह गाथा— ,, ।)
बौद्ध शिशु बोध— ,, ।)
बुद्धधर्म के उपदेश— ,, २)
कुशीनगर दिग्दर्शन— ,, ।)
लंका-यात्रा— ,, १॥)
पालि जातकावली—बटुकनाथ शर्मा २)
बुद्ध वचन—भिक्षु आनन्द कौसल्यायन ॥)
बुद्ध -शतकम्— ,, ,, ।)
महापरिनिर्वाण सूत्र—भिक्षु ऊ कित्तिमा १।)
बुद्ध-अर्चना—(कविता)—कुमारी विद्या =)
श्रद्धा के फूल—(कहानी संग्रह) ,, ।=)
तिब्बत में बौद्ध धर्म—राहुलसांकृत्यायन १।)

नागरी लिपि में पालि ग्रन्थ

जातक कथा—भिक्षु धर्मरक्षित ६)
विसुद्धिमग्गदीपिका—धर्मानन्द कौशाम्बी ३॥)
नवनीत टीका— ,, ,, २॥)
अभिधम्मत्थ सङ्गहो ,, ,, २॥)
महापरिनिब्बाणसुत्त—भिक्षु ऊ कित्तिमा १।)
तेलकटाह गाथा—भिक्षु धर्मरक्षित ।)
धम्मचक्कप्पवत्तनसुत— ,, ।)
पालि-पाठ-माला— ,, १)
चरियापिटक—डा० विमलाचरण लाहा ५)
सुत्तनिपात—भिक्षु धर्मरत्न २॥)
खुद्दकपाठ— ,, ।)
धम्मसंगणी—श्रीवापट ८)
अत्थसालिनी— ,, ८)
पातिमोक्ख— ,, १)
सिंगालसुत्त—भिक्षु ऊ कित्तिमा ॥)

सूचीपत्र के लिये =) को टिकट के साथ लिखें।

प्राप्ति-स्थान:—

महाबोधि पुस्तक भंडार, सारनाथ, बनारस।

प्रकाशक—भिक्षु एम० संघरत्न, महाबोधि सभा, सारनथ, (बनारस)
मुद्रक—श्री [illegible] कपूर, ज्ञानमण्डल यन्त्रालय, कबीरचौरा, बनारस।

धर्मदूत
महाबोधि सभा सारनाथ
का
मुख्य पत्र

विषय-सूची

चरथ भिक्खवे चारिकं बहुजनहिताय बहुजनसुखाय लोकानुकम्पाय अत्थाय हिताय सुखाय देवमनुस्सानं। देसेथ भिक्खवे धम्मं आदिकल्याणं मज्झे कल्याणं परियोसानकल्याणं सात्थं सव्यञ्जनं केवलपरिपुण्णं परिसुद्धं ब्रह्मचरियं पकासेथ । महावग्ग, (विनय-पिटक) ।

'भिक्षुओ ! बहुजन के हित के लिये, बहुजन के सुख के लिए, लोक पर दया करने के लिये, देवताओं और मनुष्यों के प्रयोजन के लिये, हित के लिये, सुख के लिये विचरण करो। भिक्षुओ! आरम्भ, मध्य और अन्त—सभी अवस्था में कल्याणकारक धर्म का उसके शब्दों और भावों सहित उपदेश करके, सर्वांश में परिपूर्ण परिशुद्ध ब्रह्मचर्य का प्रकाश करो।'

सम्पादकः—त्रिपिटकाचार्य भिक्षु धर्मरक्षित

वर्ष १८	सारनाथ, अप्रैल	बु० सं० २४९७ ई० सं० १९५४	अङ्क १२

बुद्ध-वचनामृत

'घर झंझटों से भरा है'

'भन्ते ! जब कोशलराज प्रसेनजित् हवा खाने निकलना चाहते हैं, तब हम राजा की सवारी के हाथी को साज, उनकी लाडली प्यारी रानियों को आगे पीछे बैठा देते हैं। भन्ते ! उन भगिनियों का ऐसा गन्ध होता है, जैसे कोई सुगन्धियों की पिटारी खोल दी गई हो, ऐसे गन्ध से वे राजकन्यायें विभूषित होती हैं। भन्ते ! उन भगिनियों के शरीर का संस्पर्श ऐसा कोमल होता है जैसे किसी रूई के फाहे का, ऐसे सुख से वे पोसी-पाली गई हैं। भन्ते ! उस समय हाथी को भी सम्हालना होता है, उन देवियों को भी सम्हालना होता है, और अपने को भी सम्हालना होता है। भन्ते ! हम उन भगिनियों के प्रति पापमय चित्त उत्पन्न नहीं कर सकते हैं। भन्ते ! यही उस झंझट से बढ़ा-चढ़ा दूसरा और झंझट है।'

'हे कारीगर ! इसलिये घर में रहना झंझटों से भरा है, राग का मार्ग है। प्रव्रज्या खुले आकाश के समान है। हे कारीगर ! तुम्हें अब प्रमाद-रहित हो जाना चाहिये।'

—संयुत्त निकाय ३. १. ६

मैत्री-भावना

भिक्षु पोतुविल गुणरत्न

'दूसरों को दुःख न हो, सुख प्राप्त हो, शान्तिपूर्वक रहें, उनकी उन्नति हो'—इस प्रकार की कामना को मैत्री कहते हैं। 'दूसरे लोग दुःख रहित हों, नीरोग हों, सुखी हों' इस प्रकार से बार-बार दूसरों के लिए मैत्री-भाव उत्पन्न करना अथवा यों कहें कि अपने चित्त में दूसरों के लिये शान्ति का विचार करना ही मैत्री-भावना है। ऐसे कुछ दिनों तक भावना करने पर फल प्राप्त किया जा सकता है। मैत्री-भावना से प्रथम, द्वितीय, तृतीय और चतुर्थ ध्यान तक मिल सकता है।

यदि शुद्ध रूप से दूसरों को सुखी होने की कामना न करके 'सत्व सुखी हों' 'सत्व सुखी हों' कितना भी क्यों न कहा जाय, इस भावना से मैत्री-भावना का फल नहीं प्राप्त होता। यदि मैत्री-भावना शुद्ध एवं यथार्थ रूप में की जाती है तो मैत्री-भावना करनेवाले तथा जिसके प्रति की जाती है, उसे भी—दोनों को उसका फल प्राप्त होता है। करणीय मेत्त सुत्त में कहा गया है:—

माता यथा नियं पुत्तं आयुसा एकपुत्तमनु रक्खे।
एवम्पि सब्बभूतेसु मानसं भावये अपरिमाणं॥

प्रत्येक व्यक्ति में जन्म से ही ईर्ष्या न्यूनाधिक मात्रा में होती है जो दूसरे के सुख, शान्ति एवं उन्नति की विरोधी है। अतः प्राणी दूसरे की उन्नति नहीं चाहते हैं। यही कारण है कि मैत्री-भावना करना आसान नहीं है। अपने बाल-बच्चों के हित-सुख की कामना प्रत्येक व्यक्ति में होती है, इसे मैत्री नहीं कहा जाता है। यह तो मैत्री के रूप में राग अथवा आसक्ति है और राग मैत्री का विरोधी धर्म है। उसे बढ़ाना उचित नहीं। शीघ्र उससे मुक्त होना ही उत्तम है। "यह हमारे हैं, हमारे हितैषी हैं, हमारे उपकारक हैं" इस प्रकार की चाह भी राग है। किसी प्रकार की चाह न रखते हुए दूसरे की उन्नति चाहना ही मैत्री है। मैत्री को ठीक से न जानकर अपने बाल-बच्चों आदि में राग को बढ़ाना उचित नहीं है।

लेखक

जैसे जान की परवाह न कर माता अपने इकलौते पुत्र की रक्षा करती है, वैसे ही सब प्राणियों के प्रति असीम मैत्री-भावना करे।

यहाँ, एक पुत्रवाली माता का जो हितैषी चित्त है, वह यथार्थतः हितैषी है। यदि ऐसा हितैषी मैत्री-चित्त बढ़ाया जाय, तो उससे प्राणी सर्वथा सुखी होंगे। यदि 'सुख प्राप्त हो, सुख प्राप्त हो' कहकर भावना की जाय और उसका कोई फल न हो तो ऐसी भावना निरर्थक है। यदि मैत्री-भावना निरर्थक नहीं है तो उससे दूसरों को सुख मिलना चाहिए। यथार्थ रूप में यदि मैत्री की जाय तो उससे दूसरों को अवश्य सुख प्राप्त होगा। बहुत से लोग किसी एक व्यक्ति को लक्ष्य कर के मैत्री-भावना करते हैं, किन्तु इस भावना का फल अल्प होता है। इसलिये
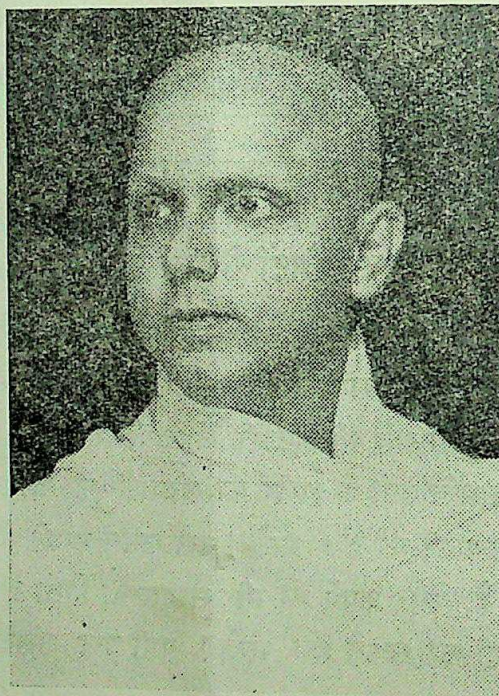
ऐसी भावना प्रारम्भ में उचित नहीं है। यदि एक व्यक्तिमात्र के लिए अधिक समय तक मैत्री-भावना की जाय, तो उस व्यक्ति को प्रकट रूप में सुख मिलेगा। भली प्रकार प्रकट सुख मिलते हुए रोगातुर व्यक्ति को देखा गया है। जिस किसी रोगी से बड़ी देर तक मैत्री की जाय, तो इससे उसे अवश्य लाभ होगा। कुछ रोग तो मैत्री-भावना से तत्काल अच्छे हो जाते हैं। एक सत्व के प्रति जो मैत्री की जाती है, वह बहुत से सत्वों के प्रति की गई मैत्री-भावना के समक्ष अल्प फल-दायी होती है, अतः सभी प्राणियों के प्रति मैत्री-भावना करने के लिये अनेक योग्य वाक्य हैं, उनमें से जिस किसी से मैत्री-भावना की जा सकती है, किन्तु यह स्मरण रहे कि जिन वाक्यों या शब्दों का अर्थ समझ में न आये, उनसे भावना करना उचित नहीं। "वैर-रहित हों, दौर्म-नस्य-रहित हों, निर्दुःख हों, सुखी हों" इन वाक्यों से भावना की जाती है। एक के लिये अथवा समूह के लिये मैत्री करने में 'वैर-रहित हों' सोचना अथवा कहना प्रत्येक को वैर से मुक्त होने के लिये सोचना अथवा कहना है। इस प्रकार मैत्री-भावना करने के लिये योग्य वाक्यों का भली प्रकार अर्थ समझकर अपनी भाषा में कहना चाहिए। यह मैत्री-भावना चारों ईर्यापथों (शारी-रिक अवस्थाओं = उठना, बैठना, सोना, चलना) में सरलतापूर्वक की जा सकती है। इसके करने के समय द्वेष और वैर के दोषों को समझकर तथा मैत्री के गुण को जानकर सबसे पहले अपने लिये मैत्री करनी उचित है। इसका विधान इस प्रकार है—"मैं वैर-रहित होऊँ मैं दौर्मनस्य-रहित होऊँ, मैं निर्दुःख होऊँ, मैं सुखी होऊँ" इस प्रकार कई बार अपने लिये मैत्री-भावना करके, दूसरों के सुख की चाह करते हुए, अपने तथा दूसरे प्राणियों के लिए मैत्री-भावना करनी चाहिए। जो व्यक्ति ध्यान प्राप्त करना चाहे, उसे चाहिए कि वह एक योग्य व्यक्ति को चुनकर उसके प्रति मैत्री-भावना करे। साधारणतः मैत्री-भावना करनेवाले को उचित है कि वह एक साथ सब प्राणियों के लिये मैत्री न करके, उन्हें कई भागों में विभक्त करके मैत्री-भावना करे। उसकी विधि इस प्रकार है :—

(१) मैं वैर-रहित होऊँ, निर्दुःख होऊँ, सुखी होऊँ। (२) मेरे हितैषी वैर रहित होवें, निर्दुःख होवें, सुखी होवें। (३) मेरे शत्रु वैर-रहित होवें, निर्दुःख होवें, सुखी होवें। (४) मेरे मध्यस्थ वैर-रहित होवें, निर्दुःख होवें, सुखी होवें। (५) सभी प्राणी वैर-रहित होवें, निर्दुःख होवें, सुखी होवें।

इस प्रकार मैत्री-भावना से प्राप्त ग्यारह फल प्राप्त होते हैं। भगवान् बुद्ध ने मैत्री-भावना से प्राप्त ग्यारह फलों को इस प्रकार बतलाया है :—

"भिक्षुओ ! मैत्री-भावना करने के ये ग्यारह फल हैं। कौन से ग्यारह ? (१) सुख से सोता है। (२) सुख से सोकर उठता है। (३) बुरे स्वप्न नहीं देखता है। (४) मनुष्यों का प्रिय होता है। (५) अमनुष्यों का प्रिय होता है। (६) देवता उसकी रक्षा करते हैं। (७) उस पर अग्नि, विष या हथियार का प्रभाव नहीं होता है। (८) शीघ्र चित्त समाधिस्थ हो जाता है। (९) मुख का रंग निखर उठता है। (१०) होश के साथ मरता है। और (११) आगे के ज्ञान को न प्राप्त करने पर ब्रह्मलोक में उत्पन्न होता है।"

मंगल-कामना

'भिक्षु'

परिपूर्ण कामनायें हों सब, मेरा आशीस उपासक है।
पाकर अद्भुत अंकित वाणी, जाना तू सौगत साधक है॥
मुनियों की कृपादृष्टि सब पर सब काल एकसी रहती है।
करुणा औ' मैत्री की धारा सर्वत्र सभी पर बहती है॥
अपने ही कर्मों से प्राणी वंचित होता अपनाता है।
अपने ही उससे दूर निकट कर्मों से होता जाता है॥
पर तू तो भाग्यवान जन हो, तेरा मंगल युग-युग होये।
सब कलुष तथागत के पावन दर्शन से ही तू नित धोये॥

मुनिराज संघ तुझपर प्रसन्न, सबका आशीस हस्त तुझपर।
तू भद्र पुरुष सुविचारी हो, उर में संशय न कभी तू कर॥
जैसे कल्याण हुआ अब तक, वैसे ही होता जायेगा।
सन्मार्ग छोड़कर कभी न चल, रवि सा नभ में तू भायेगा॥
लो फिर भी मैं यह कहता हूँ तेरा कल्याण सदा होगा।
जो सुविचारी शुभ कर्मी है उसका अपकार कदा होगा ?
हे भाग्यवान सौगत साधक ! तेरा कल्याण सदा होवे।
त्रयरत्नों का अनुभाव विमल, तेरे सब कलुषित को धोये॥

समस्त बौद्धजनता का पूजा-भाजन

बुद्धगया का बोधिवृक्ष

भिक्षु धर्मरक्षित

बोधिवृक्ष संसार का सबसे अधिक प्रसिद्ध, पूजनीय एवं ऐतिहासिक वृक्ष है। उरुवेला (=बुद्धगया) में जिस वृक्ष के नीचे वैशाख पूर्णिमा को कुश तृण के ऊपर बैठकर तपस्वी राजकुमार सिद्धार्थ ने यह प्रतिज्ञा की थी—'चाहे मेरा चमड़ा, नसें, हड्डी ही क्यों न शेष रह जायँ, चाहे शरीर, मांस, रक्त क्यों न सूख जाये, किन्तु सम्यक् सम्बोधि को प्राप्त किये बिना इस आसन को नहीं छोड़ूँगा।' जिस वृक्ष के नीचे उन्होंने सौ बिजलियों की कड़क से भी न छूटनेवाले वज्रासन को लगाया था, जिस वृक्ष के नीचे अपने पुण्य का साक्षी पृथ्वी को बनाते हुए महा-बोधिसत्त्व ने मारसेना का मर्दन कर सम्यक् सम्बोधि को प्राप्त किया था और तथागत ने जिस वृक्ष की एक सप्ताह तक बिना पलक गिराये देखते हुए पूजा की थी, उस परम सौभाग्यशाली पीपल के वृक्ष को बोधि-वृक्ष कहते हैं। महाबोधि-वृक्ष भी इसी का नाम है। जितनी दूरी तक इसकी शाखायें फैली हुई हैं और मध्याह्नकाल में जितनी भूमि पर इसकी सीधी छाया पड़ती है, उसे बोधि-मण्ड कहते हैं।

पालिग्रन्थों में बोधिवृक्ष, बोधिमण्ड तथा वज्रासन का वर्णन इस प्रकार मिलता है :—

"चार ऐसे स्थान हैं, जिन्हें कोई भी बुद्ध नहीं त्यागते। सभी बुद्धों के वे नियत स्थान हैं—(१) बोधि-पर्यङ्क (= वज्रासन) (२) धर्मचक्रप्रवर्तन स्थान ऋषि-पतन मृगदाय (३) देवलोक से उतरने का स्थान संकास्य (४) जेतवन में मूलगन्धकुटी में मञ्च के चारों पादस्थान।" (दीघ निकाय अट्ठकथा २.१)।

"महाबोधि-पर्यङ्क-स्थान विनष्ट होने के समय सब से पीछे विनष्ट होता है और पृथ्वी की सृष्टि के समय सब से पहले बनता है। वहाँ पूर्व निमित्त के रूप में एक पद्मिनी का पौधा उगता है। यदि उस कल्प में बुद्ध उत्पन्न होते हैं, तो फूल लगता है और यदि नहीं उत्पन्न होते हैं तो फूल नहीं लगता है। अगर उस कल्प में एक बुद्ध होते हैं, तो एक फूल लगता है। यदि दो, तीन, चार, पाँच बुद्ध उत्पन्न होते हैं तो दो, तीन, चार, पाँच फूल।" (सुमङ्गल विलासिनी ३.४)।

"भविष्य में धातु परिनिर्वाण होगा। सब धातुयें एकत्र होकर महाबोधि-पर्यङ्क जायेंगी। नागभवन से भी, देवलोक से भी, ब्रह्मलोक से भी। सब धातुयें महाबोधि-पर्यङ्क में राशि हो, सुवर्ण-पुञ्ज के समान सघन होकर छः रंग की रश्मि छोड़ेंगी। धातुओं में आग लग कर ब्रह्मलोक तक उठ जायेगी।" (दीघ नि० अट्ठ० ३.५)।

बोधिवृक्ष तथा बोधि-मण्ड की पूजा कब और क्यों प्रारम्भ हुई;—कालिंग बोधिजातक में इसका वर्णन इस प्रकार मिलता है :—

'जिस समय तथागत शिक्षाकामी संघ के हित के लिए जनपद-चारिका के लिए निकले होते थे, श्रावस्ती-वासी गन्धमाला आदि हाथ में लेकर जेतवन जाते थे और दूसरा पूजास्थान न देख गन्धकुटी के द्वार पर ही गिराकर चले आते थे। उससे उन्हें बड़ी प्रसन्नता होती। अनाथपिण्डिक को जब इसका पता लगा तो उसने तथा-गत के जेतवन लौट आने पर आनन्दस्थविर के पास जाकर निवेदन किया—'भन्ते! तथागत के चारिका के लिए जाने पर यह विहार अश्रद्धेय होता है, आदमियों के लिए गन्ध-माला आदि से पूजने की जगह नहीं रहती। अच्छा हो भन्ते! आप तथागत से यह बात पूछकर एक पूज्यस्थान की सम्भावना या असम्भावना की बात जानें।' उन्होंने 'अच्छा' कह स्वीकार किया और तथागत के आने पर पूछा—'भन्ते! चैत्य कितने हैं?'

'आनन्द ! तीन ।'

'भन्ते ! कौन से ?'

'शारीरिक, पारिभोगिक तथा उद्देशिक ।'

'भन्ते ! क्या आपके जीते जी भी चैत्य बन सकता है ?'

'आनन्द ! शारीरिक चैत्य नहीं बन सकता । वह तो बुद्धों का परिनिर्वाण होने पर ही होता है । उद्देशिक

"अच्छा, आनन्द ! लगा । ऐसा होने पर जेतवन में मेरा स्थायी निवास होगा ।"

× × × ×

बोधि मण्ड के महत्त्व का वर्णन इस प्रकार आया है—"एक दिन कालिंग नरेश सर्वश्वेत हाथी पर चढ़े, बड़े ठाट-बाट के साथ माता-पिता के पास गया । सब बुद्धों के ध्यान-स्थान पृथ्वी के मध्य-बिन्दु, महाबोधि मण्ड के ऊपर से वह हाथी नहीं जा सका । राजा ने बार-बार
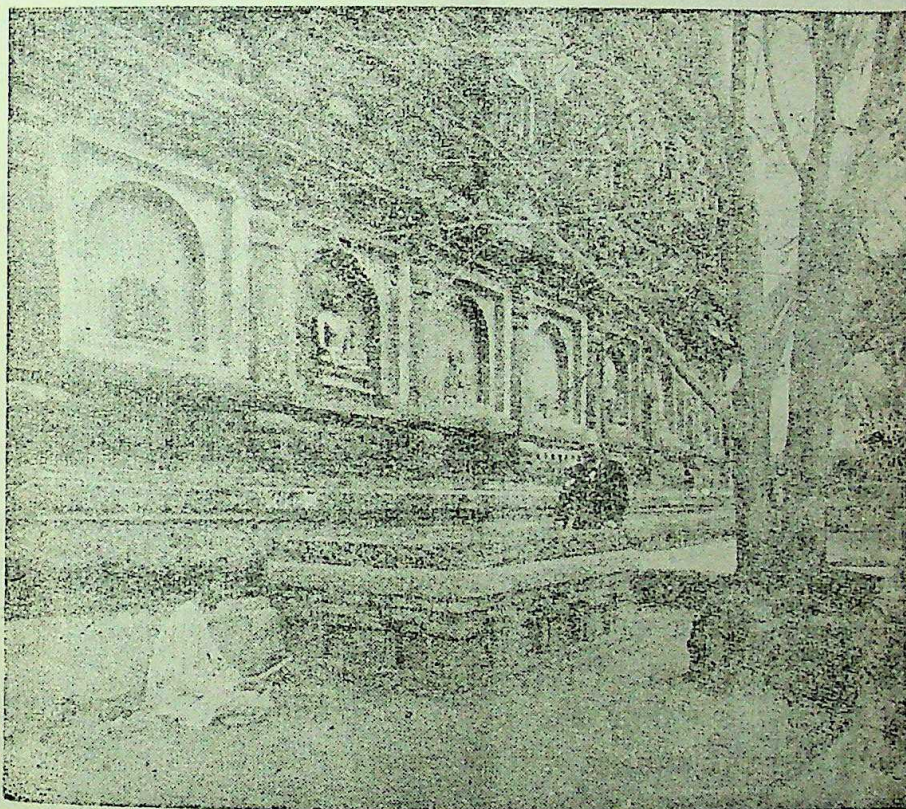
बुद्धगया का बोधिवृक्ष

चैत्य वास्तविक नहीं होता है, केवल मानसिक होता है । किन्तु, बुद्धों द्वारा उपभुक्त महाबोधि जीते जी भी और परिनिर्वाण होने पर भी चैत्य ही है ।"

'भन्ते ! आपके चारिका के लिए चले जाने पर जेतवन विहार निराधार हो जाता है, मनुष्यों के लिए कोई पूज्य स्थान नहीं रह जाता । भन्ते ! महाबोधि से बीज लाकर जेतवन द्वार पर लगाता हूँ ।"

प्रेरणा की, वह नहीं ही जा सका । राजा के साथ जाने वाले राजपुरोहित ने सोचा—आकाश में कुछ बाधा नहीं है । क्या कारण है कि राजा हाथी को बढ़ा नहीं सक रहा है ? मैं पता लगाऊँगा । वह आकाश से उतरा और सभी बुद्धों के ध्यान-स्थान महाबोधि-मण्ड को देखा । उस समय वहाँ करीष-मात्र स्थान पर खरगोश की मूँछ जितना भी तृण उगा न था । चाँदी के तख्ते सदृश बालू बिखरी

थी, चारों ओर तृणलता तथा वनस्पतियाँ बोधिमण्ड की प्रदक्षिणा करती हुई इसे घेर कर बोधिमण्ड के सामने खड़ी थीं। ब्राह्मण ने उस भूमिप्रदेश को देखकर सोचा—यह सभी बुद्धों के क्लेशों के नाश का स्थान है। शक्र आदि भी इसके ऊपर से नहीं जा सकते हैं। वह कालिंग नरेश के पास गया और बोधिमण्ड का माहात्म्य सुना, उसे हाथी से उतरने के लिए कहा। तब राजा ने आकाश से उतर बोधिमण्ड को देख···बहुत सुगन्धियाँ तथा मालाएँ मँगवा, एक सप्ताह तक बोधिमण्ड की पूजा कराई।" (जातक ४७९)।

× × × ×

उक्त उद्धरणों से बोधिवृक्ष, वज्रासन तथा बोधिमण्ड का महत्त्व एवं पवित्रता प्रगट है। ललितविस्तर में कहा गया है कि बोधिवृक्ष पर सदा वेणु, वल्गु, सुमन और ओजोपति वृक्ष-देवता वास करते हैं। हिन्दू-जनता वासुदेव कहकर उसकी पूजा करती है और ब्रह्मा, विष्णु, महेश का रूप मानती है। बोधिवृक्ष की पत्ती-पत्ती तक में देवताओं का निवास माना जाता है। बोधिवृक्ष को ही तिब्बत में लालचङ्, मुक्तिनाथ में शोलबो, नेपाल में बंगलसिमा और लंका में बो-गस् कहते हैं।

बुद्धकाल में बुद्धगया-स्थित बोधिवृक्ष की पूजा तो होती ही थी, जेतवन में भी उसका एक फल लाकर लगाया गया था, जिसे आनन्दबोधि कहा जाता था। महाराज अशोक के समय में बोधिवृक्ष की एक डाली भिक्षुणी संघमित्रा द्वारा लंका ले जायी गई और अनुराधपुर नगर में लगाई गई। उसके प्रथम आठ फलों को लेकर जम्बूकोलपट्टन, तिवक्क ब्राह्मण ग्राम, थूपाराम, ईश्वरश्रमणाराम, प्रथम चैत्य का आँगन, चैत्य पर्वताराम, काचर ग्राम और चन्दन ग्राम में लगाया गया था। इस प्रकार बुद्धगया के बोधिवृक्ष का प्रसार हुआ था।

बोधिवृक्ष का एक घटनात्मक इतिहास है। दिव्यावदान के अनुसार बोधिवृक्ष को सर्वप्रथम अशोक के समय में आघात पहुँचा था। अशोक की रानी तिष्यरक्षिता ने ईर्ष्यावश उसे मन्त्र-प्रयोग द्वारा सुखवा डाला था, जो पुनः मन्त्र द्वारा ही जीवित किया गया था। सातवीं शताब्दी में राजा शशांक ने बोधिवृक्ष को कटवाकर जला डाला था। हुएनसांग ने लिखा है "बोधि-वृक्ष वज्रासन के पास है। भगवान् बुद्ध के समय में यह कई सौ फीट ऊँचा था। यद्यपि इसे अनेक आघात सहने पड़े हैं, फिर भी ४० या ५० फीट ऊँचा है। भगवान् बुद्ध ने इसी के नीचे ज्ञान प्राप्त किया था। इसीलिये इसे महाबोधिवृक्ष कहते हैं। बोधिवृक्ष पीलाई लिये हुए सफेद रंग का है। इसकी पत्तियाँ बिना किसी परिवर्तन के जाड़े और गर्मी में भी चमकती रहती हैं। बौद्धधर्म के विरोधी राजा शशांक ने बोधिवृक्ष को कटवा डाला था। इसकी जड़ों को भी खोदवा डाला था, किन्तु जड़ों के अन्त भाग को नहीं पाया था। तब उसने उसे आग से जलवाकर बिलकुल नष्ट कर दिया। कुछ महीने बाद मगधनरेश पूर्णवर्मा ने जो अशोक के वंश का आखिरी राजा था, इसे सुना। उसने लम्बी साँसें लीं और कटे हुए जड़ पर हजारों घड़े गाय का दूध डाला। एक रात उससे पुनः अंकुर निकला और वह लगभग १० फीट ऊँचा था।'

जनरल कनिंघम ने लिखा है कि यह पूर्णवर्मा मौर्यवंशी राजा न था, बल्कि वह पालवंशी राजा था, जिसका समय लगभग ८१३ ई० है। उसके बाद मुसलमानी आक्रमण में बख्तियार खिलजी के समय (१२०१ ई०) तक बोधिवृक्ष सुरक्षित था क्योंकि मुसलमानों ने पेशावर के प्रसिद्ध वृक्ष की रक्षा की थी। अतः उन्होंने बोधिवृक्ष को नहीं काटा होगा।

बुद्धगया मन्दिर के पास खोदाई में पीपल के दो प्राचीन टुकड़े मिले थे। एक ९½ इंच लम्बा था और दूसरा ४ इंच। जनरल कनिंघम का कहना है कि ये दोनों टुकड़े ई० सन् ६०० से ६२० के बीच शशांक द्वारा कटवाये हुए ही थे।

वर्तमान समय में जो बोधिवृक्ष बुद्धगया में है, उसके सम्बन्ध में डा० वेणीमाधव बरुआ ने लिखा है कि सन् १८११ में बुद्धगयास्थित बोधिवृक्ष को डा० बुकानन हैमिल्टन ने पूर्ण शक्तिमान देखा था और उन्हें वह सौ वर्ष से अधिक का नहीं जान पड़ा था। दिसम्बर १८६२ में जब उसे कनिंघम ने देखा, तब वह बहुत ही बुरी दशा में था। उसके तना में केवल तीन ही हरी डालियाँ थीं।

अन्य डालियाँ बिना छिलके की और सूखी हुई थीं। उन्होंने पुनः १८७१ और १८७५ में देखा। उस समय वह पूर्ण हीनावस्था को प्राप्त था। १८७६ में एक आँधी आई और वह टूटकर गिर पड़ा। तब दूसरे पौधों को लेकर वहाँ लगाया गया जो उसी वृक्ष के बीज से उगे थे। बुद्धगया का वर्तमान बोधिवृक्ष वही वृक्ष है जिसे कि जनरल कनिंघम ने लगाया था।

भरहुत में प्राप्त कुछ पत्थरों पर बोधिवृक्ष के चित्र बने हैं, जिनमें बोधिवृक्ष और वज्रासन प्राकार के भीतर दिखलाये गये हैं। बुद्धगया से प्राप्त शिलालेखों में से कुछ बोधिवृक्ष के प्राकार से भी पाये गये हैं, उनसे आर्या कुरंगी के लेख से जान पड़ता है कि उसने एक सुन्दर पत्थर का प्राकार बनवाया था। किन्तु हुएनसांग के समय में वह प्राकार केवल ईंटों का था। हुएनसांग ने लिखा है—"प्राग्बोधि पर्वत से दक्षिण-पश्चिम लगभग १४ या १५ ली जाने पर मुझे बोधिवृक्ष मिला। यह एक बहुत ऊँचे ढालुआ और मजबूत ईंटों के प्राकार से घिरा था।"

बुद्धगया का सुप्रसिद्ध मन्दिर

वर्तमान समय में बुद्धगया के बोधि-वृक्ष की शाखा और बीज से लगे हुए वृक्ष लंका, बर्मा, चीन, जापान, कम्बोडिया, जावा और स्याम में पूजित हैं। भारत में भी

बुद्धगया के अतिरिक्त सारनाथ, कुशीनगर और श्रावस्ती में बोधिवृक्ष की परम्परा कायम रखी गयी है। संसार के बौद्ध प्रतिदिन भगवान् बुद्ध की भाँति बोधिवृक्ष की पूजा करते हुए इस प्रकार कहते हैं—

यस्स मूले निसिन्नोव, सब्बारि विजयं अका।
पत्तो सब्बञ्ञुतं सत्था, वन्दे तं बोधिपादपं॥

इमे हेते महाबोधि, लोकनाथेन पूजिता।
अहम्पि ते नमस्सामि, बोधिराजा नमत्थु ते॥

जिसके नीचे बैठे हुए ही तथागत ने सब शत्रुओं पर विजय पाई और सर्वज्ञता को प्राप्त किया, उस उत्तम बोधिवृक्ष को प्रणाम् है।

ये महाबोधिवृक्ष लोकनाथ द्वारा पूजित हैं, मैं भी उन्हें नमस्कार करता हूँ। हे बोधिराज! तुम्हें नमस्कार है।

बौद्ध महिलाओं की निर्मल प्रेरणा

सुश्री कुमारी विद्या

लगभग ढाई हजार वर्ष पूर्व जब कि भारत भूमि दुःख, शोक, निर्ममता, विवशता, अत्याचार की ज्वाला-मुखियों के निश्वास में झुलस रही थी। तभी हिमालय के अंचल में हिमकिरीटिनी की आशाओं के प्रतीक ने उत्तराखण्ड की पावन वनस्थली लुम्बिनी में मायारानी के नवजात शिशुके रूप में जन्म धारण किया। प्रकृति मुस्करा उठी। पूर्णिमा की निशारानी ने चन्द्रा दीप सँजोकर आरती उतारी। समय के साथ-साथ अनेक घटनायें हुईं। विश्व के दुःखों से दुःखी होकर उन्होंने अपनी रूपराशि अर्धांगिनी गोपा, नवजात शिशु राहुल और अनन्त वैभव का परित्याग कर दिया। उरुवेला के पावन अंचल प्रदेश में निरंजना के पुलिन पर मार-विजय की। दिव्य घड़ी आई। उन्हें बुद्धत्व प्राप्त हुआ और दुःख की निविड़तम रजनी बीत गई। उन जननायक की कल्याणी वाणी गहन सुनील अम्बर में, धरा में गूँज उठी। सागर की फेनिल उर्मिल उत्ताल तरंगें उसे प्रतिध्वनित कर धन्य हो गईं। यज्ञों में मूक पशुओं का बलिदान, कातर चित्कार स्थगित होने लगा।

मूक प्राणी की तरह सुकोमला सरला पीड़िता नारियों ने उनके जीवनकाल में ही त्रिरत्न की शरण में आश्रय चाहा। महाकारुणिक की करुणा द्रवित हो उठी और महादेवी प्रजापती, त्याग, सहिष्णुता की पावन प्रतीक देवी गोपा (यशोधरा) सहित शाक्य ललनाओं ने हँसते-हँसते त्यागमय जीवन को स्वीकार कर लिया। राज-प्रासादों की रमणियाँ, कृषकों की नारियाँ, सभी समान थीं। समान था उनका रहन-सहन और समान ही थी उनकी जीवनचर्या एवं समान रूप से ही था उपदेशों का श्रवण करना। उन नारियों ने भगवान् के श्रीचरणों के समीप रहकर विश्व को दिखा दिया कि नारी भी पुरुषों की तरह साधना कर सत्य का अनुसरण करती हुई मोक्ष प्राप्त कर सकती है। केवल पुण्यमयी काषाय परिधानों से शोभिता भिक्षुणियाँ ही नहीं गृहस्थ नारियों ने भी उन मंगलमय-उपदेशों को ग्रहण कर ममता, स्नेह एवं प्राणिमात्र के प्रति करुणा की ललित-कलित भावनाओं द्वारा कितने युद्ध और विरोध से मानवों की रक्षा की। सम्राट् बिम्बिसार की पत्नी महादेवी वासवी, सर्वस्व दान करनेवाली कलामयी आम्रपाली, अवन्तिका की पद्मा आदि अनेक नारियाँ निज गृह में निवास करती हुई अनुपम त्याग एवं मैत्री का आदर्श भावी नारी के लिए अर्पित कर दीं।

बौद्ध संस्कृति का वह स्वर्णयुग था। जब कलिंग विजय के पश्चात् सम्राट् अशोक ने देवानांप्रिय के रूप में त्रिरत्न की शरण से शान्ति लाभ और मानव के हृदय पर विजय प्राप्त किये। तब भी बौद्ध युग की नारी आगे ही बढ़ती रही। उनकी प्रिया पत्नी विदिशा कुमारी 'देवी' ने अपने नयनों के तारे पुत्र-पुत्री को धर्म के चरणों में समर्पित कर दिया। साँची, विदिशा, सोनेरी, विदिशा गिरि, भोजपुर, तुम्बवन के अनेकानेक स्तूप, विहार, पावन वातावरण में मधुर शान्तिदायिनी सुत्तों की मंगल ध्वनि ने संतप्त हृदयों को शीतलता प्रदान की। देवी

पुत्री संघमित्रा ने सुदूर नील जलधि के मध्य स्थित सिंहल (श्री लंका) के निमंत्रण को स्वीकार कर राजरानी अनुला देवी एवं पाँच सौ नारियों को त्रिरत्न की शरण में लाया। सुदूर के देशों में जापान, चीन, बर्मा, बाली ही क्या समस्त एशिया, यूरोप एवं अमेरिका महाद्वीप में भी कल्याणी करुणा का आलोक पावन पथ की ओर प्रेरित करने लगा। शुद्ध सात्विक जीवन प्राणिमात्र के प्रति करुणा, सहिष्णुता, अपूर्व त्याग का जो उत्तम उदाहरण बौद्ध नारियों ने नारी जाति के सन्मुख रखा है वह महान् है।

जनतंत्र के युग की आधुनिक नारी, महाकारुणिक भगवान् तथागत के उपदेशामृत से हृदय को जीतनेवाले सम्राट् अशोक-निर्मित अशोक स्तम्भ के धर्मचक्र अथवा अशोक-चक्र चिह्नाङ्कित ध्वज के नीचे अपने स्वर्णिम अतीत को भावी बनाने का प्रयत्न करे तो जीवन धन्य हो जायेगा। सहनशीलता, ममता, सत्यता, शान्ति के पावन वातावरण में शील पालन से धीरे-धीरे समस्त कठिनाइयाँ सरलता-पूर्वक सुलझ जायेंगी।

उन नारियों की गाथायें जहाँ इतनी उज्ज्वल हैं, वहाँ उस युग की प्रतिमाओं एवं चित्राङ्कन में बौद्धकालीन नारियों की मनोरम भेष-भूषा नारी जाति के लिये गर्व की वस्तु है। उसमें सांस्कृतिक-भाव और भारतीयता की अमिट-छाप है। प्रभाव है। अजन्ता का वेणी-बंधन, केश-कलाप-कला, विभिन्न आभूषण किस सुसंस्कृत नारी के मन को नहीं मोहते। चाहे वह किसी भी देश, धर्म की हो। आज भी नेपाल, भूटान, सिंहल, चीन, इंडोनेशिया आदि देशों की नारियाँ भारत-भूमि पर स्थित कल्याण-संघ की जन्मभूमि ऋषिपतन, लुम्बिनी, कुशीनगर, साँची के दर्शन कर, अजन्ता की शिल्प सुषमा को निहार, श्रद्धा के पुष्प चढ़ाकर हर्ष, विस्मय, उल्लास का अनुभव करती हैं। पूर्णिमा की ज्योत्सनामयी (राका) निशा की सौभाग्यशालिनी घड़ियों में हम विदिशा कुमारी की जन्मभूमि महामालव एवं भारत की महिलायें अपने अतीत की उज्ज्वलता को पहिचानें तो स्वयं, अपने परिवार को और साथ ही देश को उस माधुर्य में विभोर कर सकती हैं जिसमें वर्तमान संकट धीरे-धीरे विनष्ट हो जायेंगे, और वही स्वर्णिम शांतिमय युग साकार हो जायगा। जिस युग की स्मृति में उन नारियों की करुणा-कलित भावना एवं कर्तव्यशीलता की याद में आज भी भावुक मन श्रद्धाविभोर हो कह उठता है—

"नमो बुद्धाय, नमो धम्माय, नमो संघाय।"

सम्राट् हर्षवर्धन का सर्वस्व दान

श्री अरुण

प्रयाग का कुम्भ-मेला समाप्त हो गया, किन्तु उसकी याद सदा बनी रहेगी। आज से १३०० वर्ष पूर्व के इस मेले का वर्णन यहाँ दिया जा रहा है। आप तुलना करके दोनों का विचार करें।

६०६ ई० में हर्षवर्धन कन्नौज की गद्दी पर बैठा। उसका राज्य समस्त उत्तर भारत में फैला हुआ था। उसी के शासनकाल में सन् ६२९ में यूवानच्यांग नामक एक चीनी यात्री भारत आया था। उसके यात्रा-विवरण में उस समय के कुम्भ का आँखों देखा वर्णन मिलता है। यद्यपि उसने इस मेले का नाम 'कुम्भ' नहीं लिखा है, पर वर्णन से स्पष्ट है कि वह कुम्भ का ही मेला रहा। वह लिखता है कि प्रति पाँचवें वर्ष सम्राट हर्षवर्धन वहाँ जाकर सर्वस्व दान किया करता था, परन्तु इसमें उसकी भूल जान पड़ती है। वैसे तो प्रयाग में प्रतिवर्ष ही माघ में मेला होता है किन्तु प्रति छठें वर्ष अर्ध कुम्भी और प्रति बारहवें वर्ष कुम्भ पर्व होता है। इन अवसरों पर बहुत बड़ा मेला लगता है। कन्नौज पहुँचने पर हर्षवर्धन ने च्यांग से कहा कि इस वर्ष प्रयाग का महापरित्याग पर्व पड़नेवाला है। मुझे २० वर्ष से ऊपर राज्य करते हो गये। पाँच पर्व मेरे शासनकाल में पड़ चुके हैं और

अब छठाँ पर्व इस साल पड़ रहा है, इसलिए अब प्रयाग चलना है। इससे अर्धकुम्भी या कुम्भपर्व का ही अनुमान लगता है। इसके अतिरिक्त मेले के वर्णन से भी इसी की पुष्टि होती है, इसलिए च्यांग का दिया हुआ वर्णन कुम्भ मेले का ही समझना चाहिए।

पहले वह प्रयाग का वर्णन करते हुए लिखता है कि 'अक्षयवट की पूर्व दिशा में गंगा-यमुना के संगम पर बहुत दूर तक रेत पड़ी हुई है। यह रेत बिलकुल स्वच्छ है और सर्वत्र समतल है। इसे यहाँ के लोग महादान क्षेत्र कहते हैं। प्राचीन काल से बड़े-बड़े राजा - महाराजा, सेठ-साहूकार यहाँ आकर दान करते चलते आ रहे हैं। इस समय बड़ा मेला लगता है और भारत के सब बड़े-बड़े राजा और गणमान्य लोग आते हैं। साधु, महात्मा, श्रमण और ब्राह्मण आदि एकत्र होते हैं।

दान क्षेत्र के आगे पूर्वी दिशा में गंगा-यमुना के संगम पर सहस्रों व्यक्तियों की भीड़ लगी रहती है। कितने तो स्नान करके चले जाते हैं। कितने ही यहाँ कल्पवास करते हैं और मरने के लिए यहाँ पर रहते हैं। इस देश के लोगों का विश्वास है कि यहाँ एक समय भोजन स्नान करके जो कल्पवास करता और प्राण त्यागता है, वह मरने पर स्वर्ग जाता है। यहाँ आकर लोग सात दिन तक उपवास व्रत करते हैं। और की तो बात ही क्या, वनके मृग तक गंगा यमुना के संगम पर स्नान करने आते और अनशन व्रत कर अपने प्राण का त्याग करते हैं। यहाँ आने पर उसने सुना कि एक बार राजा श्री हर्ष मेले में आये थे। उस समय गंगा के किनारे एक बन्दर देखा गया था, जो कुछ खाता पीता नहीं था और पेड़ के नीचे रहता था। इस तरह अनशन व्रत कर कुछ दिनों में उसने अपना प्राण त्याग दिया। तपस्वियों की उसने यहाँ विचित्र दशा देखी। वह लिखता है कि संगम पर कुछ लोग खम्भा गाड़ते थे। प्रातःकाल उस पर चढ़कर एक हाथ से उसे पकड़कर लटकते थे और अपनी एक आँख सूर्य पर जमाये दिन भर उसी पर लटके रहते थे। सूर्यास्त हो जाने पर वे उसपर से उतरते थे। इस प्रकार तप करनेवाले पचीसों साधु थे। इनमें से कितने तो ऐसे थे, जिन्हें इस प्रकार का तप करते बीसों वर्ष हो गये थे, उनका विश्वास था कि इस प्रकार तप करने से हम जन्म-मरण के बन्धनसे मुक्त हो जायँगे।

उस समय जैसे शैव, वैष्णव, शाक्त आदि सम्प्रदाय थे वैसे ही बौद्ध मत भी हिन्दू धर्म का ही सम्प्रदाय माना जाता था। शासकों की धार्मिक नीति बड़ी उदार रहती थी। हिन्दू शासक बौद्ध भिक्षुओं को दान देते और उनके लिए विहार बनवाते थे। इसी तरह बौद्ध शासक ब्राह्मणों को दान देते और मन्दिर बनवाते थे। सम्राट् हर्ष की प्रवृत्ति यद्यपि बौद्ध सम्प्रदाय की ओर ही थी, पर वह सूर्य, शिव आदि की भी उपासना करता था।

हाय रे कुम्भ !

भन्ते !

आप जब से गये, कोई समाचार नहीं मिला।...मेरे घर के आठ आदमी कुम्भ-स्नान करने प्रयाग गये थे।...उनका उसी स्थल पर उस भीड़ में ही देहान्त हो गया।...हाय! वर्तमान हिन्दू-धर्म में ब्राह्मण तथा पौराणिक सिद्धान्तों ने इतना अविद्या-जनित संस्कार, मिथ्या-दृष्टि तथा अन्ध-विश्वास को बढ़ा दिया है कि ऐसी बातें हो रही हैं। इसका अवरोध अन्य किसी भी सिद्धान्त से नहीं हो सकता है, केवल बुद्ध-धर्म ही एक ऐसा धर्म है जो इसे समूल नष्ट कर सकता है। भिक्षु-संघ इधर ध्यान दे, नहीं तो संसार इसकी ज्वाला में भस्म हो जायगा, फिर पीछे क्या होगा!

—श्यामानन्द वर्मा, देवरिया।

कुम्भ पर्व पर स्नान-दान के लिए वह भी प्रयाग जाया करता था। कन्नौज से वह चांग को अपने साथ लेकर-प्रयाग के लिए चला। वह लिखता है कि राजा ने प्रयाग में पहले ही कर्मचारियों को पड़ाव आदि बनाने के लिए नियुक्त कर रखा था। उन लोगों ने वहाँ गंगा के उत्तर किनारे पर महाराज हर्ष के लिए और यमुना के दक्षिण तट पर आसाम के शासक कुमार राजा के लिए पड़ाव बनाये थे। उसके आगे संगम पर रेत में १००० फुट लम्बा और उतना ही चौड़ा बाँस का बाड़ा बना था, जिसके भीतर बीसों छप्पर के घर बने थे। इनमें सम्राट् का कोष रहता था। बाड़े के बाहर सैकड़ों घर छप्पर के बनाये गये थे, जिनमें रेशम और कपास के वस्त्र, सोने-चाँदी आदि की मुद्राएँ तथा अन्य पदार्थ दान के लिए लाकर रखे गये थे। बाड़े के किनारे-किनारे लोगों को बैठाकर खिलाने के लिए छप्पर पड़े थे। उनके किनारे दूकानों की भाँति चारों ओर से छप्पर बाँधकर लोगों को विश्राम करने के लिए पड़ाव बनाये गये थे। यह सब मेले के पहले महीने से बनकर तैयार थे। सम्राट हर्षवर्धन कन्नौज से चलकर गंगा के किनारे-किनारे होता प्रयाग पहुँचा। यद्यपि उन दिनों यातायात के साधन वैसे नहीं थे, जैसे आज हैं, पर तब भी चाँग का कहना है कि उस समय मेले में ५ लाख से अधिक लोग पहुँच चुके थे।

जब सब लोग वहाँ पहुँच गये और मेले का पर्व आया तो प्रातःकाल सम्राट के सैनिक सहचर नावों में चढ़ चढ़कर बड़े सजधज से संगम की ओर चले, उधर से कुमार राजा भी अपने सैनिकों के साथ नावों पर यमुना से होकर संगम पहुँचा। राजा ध्रुवभट्ट भी अपने सैनिकों सहित हाथियों पर सवार होकर मेले के स्थान पर पहुँचा। अन्य देशों के राजा लोग भी अपने-अपने सहचरों और अमात्यों सहित डेरा डाले वहाँ पड़े थे। वे सब सम्राट से मिले। पहले दिन भगवान् बुद्धदेव की मूर्ति-का शृंगार किया गया और छप्पर के एक मण्डप में उसे प्रतिष्ठित कर विविध भाँति से उसकी पूजा की गयी फिर सर्वोत्तम मणि, रत्न, वस्त्राभूषण और व्यंजन श्रमणों, ब्राह्मणों तथा अन्य मतावलम्बी विद्वानों और दीन दरिद्रों को बाँटे गये। बराबर बाजे बजते रहे और फूल वर्षाये जाते रहे। इस प्रकार सारा दिन उत्सव में बीत गया और सायंकाल हो जाने पर सब लोग अपने-अपने निवास स्थान पर लौट आये।

दूसरे दिन सूर्य भगवान् की प्रतिमा का शृंगार किया गया, और पहले दिन के आधे मणिरत्न तथा वस्त्रादि बाँटे गये। तीसरे दिन ईश्वर देव (शिव) की प्रतिमा का शृंगार हुआ और दूसरे दिन के बराबर मणिरत्न वस्त्रादि बाँटे गये। चौथे दिन १०,००० श्रमणों को सौ सौ की पंक्तियों में बैठाकर एक-एक श्रमण को विविध भाँति के अन्न, पान के अतिरिक्त सौ-सौ सुवर्ण मुद्राएँ, एक-एक मोती और एक-एक सूती वस्त्र प्रदान किया गया। पाँचवें दिन से २० दिन तक लगातार ब्राह्मणों को दान दिया जाता रहा, फिर १० दिनतक निर्ग्रन्थादि तीर्थ यात्रियों को दिया गया, तदनन्तर उन लोगों को दान दिया गया जो दूर-दूर से मेले में दान पाने के लिए आये थे, और अन्त में एक मासतक निर्धनों एवं अनाथों को भोजन, वस्त्र, धन, रत्न आदि बाँटे गये।

इस प्रकार लोगों को भोजन, वस्त्र, धन, रत्न आदि प्रदान करने में सम्राट हर्षवर्धन ने अपना पाँच वर्ष का संचित कोष खाली कर दिया। उसके पास सिवा हाथी घोड़ों और उन हार कुण्डलादि के, जिन्हें वह धारण किये रहा, कुछ शेष न रह गया। अन्तिम दिन उसने उन्हें भी दान कर दिया। और अन्त में अपना मुकुट एक भिक्षुको देकर लंगोटी पहने दानक्षेत्र से यह कहता हुआ अपनी बहन राज्यश्री के पास आया कि 'धन संग्रह में अनेक दोष हैं, सदा चोरों, दुष्ट राजाओं आदि का भय लगा रहता है। मैंने आज उसे दान करके स्वर्ग के कोष में रख दिया। अब किसी प्रकार की चिन्ता नहीं रह गयी। वहाँ वह दिन दूना और रात चौगुना बढ़ता जायगा। भगवान् करे मैं जन्म-जन्म इसी प्रकार दान करता हुआ दशबलत्व को प्राप्त होऊँ।' ऐसा कहते हुए उसने अपनी बहन से एक वस्त्र माँगकर पहन लिया। ७५ वें दिन मेला समाप्त हुआ। राजाओं ने फिर सम्राट हर्ष को मुकुट, हार, कुण्डलादि अलंकारों से विभूषित कर वाहन आदि प्रदान किये। चाँग के शब्दों में इस प्रकार महा-परित्याग मेला समाप्त हुआ और सब लोग अपने देश चले गये।

———

बौद्ध तान्त्रिकों का गढ़ जगद्दल विश्वविद्यालय

श्री अनन्त

तन्त्र एक ऐसी विद्या है जिसे प्रायः लोग जानने के लिये उत्सुक रहते हैं। भारतीय इतिहास के अध्ययन से यह विदित होता है कि यह विद्या सदा से किसी न किसी रूप में हमारे देश में विद्यमान रही है, किन्तु दसवीं-ग्यारहवीं शताब्दी में यह अपने विकास की चरम सीमा पर पहुँच गई। उस समय सम्पूर्ण भारतवर्ष इस विद्या के पीछे पड़कर पागल-सा हो गया था। बौद्ध विहार इसके प्रचारक तथा केन्द्र थे। दक्षिण भारत के कतिपय बौद्ध विहारों को छोड़ सम्पूर्ण भिक्षु संघ ही इसके चमत्कार में विश्वास करने लगा था। उत्तर भारत के बौद्ध विहारों परिवेणों और विश्वविद्यालयों में तो तंत्र पर नित्य नये-नये ग्रन्थ लिखे जाते थे और नये-नये प्रयोग हुआ करते थे।

तन्त्र विद्या के प्रचारक, ज्ञाता एवं समर्थक श्रमण-गृहस्थ 'तन्त्रयानी' कहलाते थे। बिहार, बंगाल तथा कामरूप में इनका प्राबल्य था। विशेष कर बंगाल इस विद्या में सबसे आगे बढ़ा हुआ था। तिब्बती इतिहास-कार लामा तारानाथ एवं लामा सुम्पा ने लिखा है कि उस समय केवल उत्तरी बंगाल में सोमपुर महाविहार, पौंड्रवर्धन महाविहार, देवीकोट महाविहार पौंड्रभूमि महा-विहार, जगद्दल महाविहार ये पाँच स्थान और तन्त्रयान के समर्थक एवं प्रचारक थे। इनमें जगद्दल महाविहार तान्त्रि-कों का गढ़ था। यह भारत के तत्कालीन विश्वविद्यालयों में से एक था। यहाँ बौद्ध तर्क, न्याय, दर्शन, धर्म आदि के साथ तन्त्र की विशेष रूप से शिक्षा दी जाती थी। इसी विश्वविद्यालय के प्राध्यापकों ने अधिक संख्या में तन्त्र ग्रन्थों को लिखा था, जिनके अनुवाद आजकल तिब्बती में उपलब्ध हैं।

प्राचीन तिब्बती बौद्ध विद्वानों के वर्णनों तथा पुरातत्व विभाग के अन्वेषणों से यह प्रमाणित हो चुका है कि उत्तरी बंगाल जिसे वेरेन्द्र या पुण्ड्र कहा जाता था अनेक शताब्दियों तक बौद्ध संस्कृति का केन्द्र रहा। उस प्रदेश में जगद्दल विश्वविद्यालय तन्त्रयान का प्रधान शिक्षा-केन्द्र था, जिसमें भारत के विभिन्न प्रदेशों के भिक्षु आचार्य शिक्षण-कार्य्य करते थे। इसकी प्रधानता के ही कारण ग्यारहवीं शताब्दी के सन्ध्याकरनन्दी ने अपने 'रामपाल चरित' में केवल जगद्दल विहार का ही वर्णन किया है, उक्त अन्य किसी भी विहार का वर्णन उस पुस्तक में उपलब्ध नहीं है।

स्थिति

पुरातत्व अन्वेषणों से ज्ञात हुआ है कि प्राचीन सोमपुर महाविहार बोगरा जिले के पहाड़पुर नामक स्थान में था, तथा पौंड्रवर्धन महाविहार महस्तानगढ़ के पास, देवीकोट महाविहार दीनाजपुर में बनगढ़ के पास, और पौंड्रभूमि महाविहार मालदह जिले में पाण्डव के पास। जगद्दल विश्वविद्यालय के नष्टावशेषों का खनन-कार्य्य अभी तक नहीं हुआ है, तथापि निश्चित प्रमाणों के आधार पर सब विद्वानों ने एक मत से स्वीकार किया है कि वर्तमान पूर्वी पाकिस्तान के राजशाही जिले का जगद्दल नामक स्थान ही प्राचीन जगद्दल विश्व-विद्यालय था।

जगद्दल जाने के लिये ई० बी० रेलवे (पाकिस्तान) के जयपुरहट स्टेशन पर उतर कर जिला बोर्ड की सड़क से फर्सीपारा की ओर आठ मील जाना पड़ता है। वहाँ से उत्तर ओर दो मील की दूरी पर जगद्दल के नष्टावशेष विद्यमान हैं। इसी प्रदेश में पालवंशी राजा नारायणपाल के मंत्री गौरव मिश्र का प्रसिद्ध गरुड़ स्तम्भ और हर-गौरी का मंदिर भी स्थित है।

स्थापना

जगद्दल विश्वविद्यालय की स्थापना पालवंश के बौद्ध राजा रामपाल ने ग्यारहवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में की

थी। रामपाल के समय के प्रसिद्ध इतिहासकार सन्ध्याकर नन्दी ने इसके चरित्र के साथ शासन-प्रबन्ध आदि का सुन्दर वर्णन किया है और लिखा है कि जगद्दल महाविहार एक अत्यन्त आदरणीय स्थान था। श्री राखाल दास बनर्जी ने अपने बंगाल के इतिहास में लिखा है कि नरेश ने इस विश्वविद्यालय को नगर के मध्य स्थापित किया था, किन्तु प्राचीन काल के प्रायः सभी बौद्ध विहार एवं विश्वविद्यालय नगरों से कुछ दूर स्थित थे। यथा विक्रमशीला विश्वविद्यालय चम्पा नगर के बाहर था। नालन्दा विश्वविद्यालय राजगृह से सातमील दूर था, ऋषिपतन वाराणसी से पाँच मील दूर था, कुशीनगर राजधानी से एक मील दूर था। इसी प्रकार श्रावस्ती, वैशाली आदि सभी विहारों की स्थापना नगरों से बाहर हुई थी। अतः हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि जगद्दल विश्वविद्यालय भी रामावती नगर के भीतर नहीं प्रत्युत उससे थोड़ी दूर बाहर था।

स्थापत्य तथा मन्दिर

यह विश्वविद्यालय बहुत सुन्दर बना था। इसकी बनावट को देखकर विदेशी भिक्षु मुग्ध हो जाया करते थे। इसके प्रधान द्वार पर अवलोकितेश्वर बोधिसत्व की एक भव्य मूर्ति थी, जिसका उल्लेख तिब्बती इतिहासकारों ने किया है। मध्यभाग में एक विस्तृत परिवेण था, जहाँ अध्यापन कार्य्य होता था। वहीं भगवान् बुद्ध का भव्य मन्दिर था, जिसमें प्रातः सायं भिक्षु लोग एक साथ सूत्रपाठ किया करते थे और अहर्निश घी की बत्तियाँ जला करती थीं।

सन्ध्याकर नन्दी ने इसी मन्दिर में हेत्वीश्वर, चण्डेश्वर और क्षेमेश्वर की मूर्तियों का भी उल्लेख किया है, किन्तु विद्वानों का मत है कि ये मूर्तियां इस विद्याकेन्द्र में न थीं, प्रत्युत इसकी स्थापना रामावती नगर में हुई थी।

यहाँ के तान्त्रिक

लामा सुम्पा-रचित तिब्बती इतिहास में हम इस विश्वविद्यालय के अनेक तान्त्रिक प्राध्यापकों के नाम पाते हैं। जिन्होंने संस्कृत से तिब्बती में बौद्ध ग्रन्थों का अनुवाद किया था—और संस्कृत में कुछ मौलिक ग्रन्थों की भी रचना की थी।

इस विद्याकेन्द्र के प्रधान तान्त्रिक भिक्षु दानशील थे जिन्होंने तन्त्रयान के साठ ग्रन्थों का तिब्बती में अनुवाद किया था "पुस्तक पाठोपाय" नामक अध्यापन-विधि पर इन्होंने संस्कृत में एक महत्वपूर्ण ग्रन्थ की रचना की थी। दूसरे तान्त्रिक मोक्षाकर गुप्त थे जिन्होंने बौद्ध तर्क पर संस्कृत में 'तर्क भाषा' नामक ग्रन्थ लिखा था, जो बड़ौदा के गायकवाड़ सीरीज से संस्कृत भाषा के साथ प्रकाशित हो चुका है। सम्भवतः इन्होंने ही "दोहा कोष" का भाष्य भी लिखा था जो अपभ्रंश में था।

जगद्दल विश्वविद्यालय के तीसरे प्रसिद्ध तान्त्रिक प्राध्यापक विभूतिचन्द्र थे, जिन्होंने तन्त्र के तेईस ग्रन्थों को लिखा था जिनमें सत्रह अनूदित थे और दो सहजयान के सिद्धाचार्य लुइपा से सम्बन्धित थे।

तिब्बती इतिहास में इस विश्वविद्यालय के एक और प्रसिद्ध तांत्रिक शुभाकर गुप्त का वर्णन मिलता है, किन्तु ग्रन्थ-रचना आदि के सम्बन्ध में कुछ ज्ञात नहीं। सम्भवतः यह उस समय विद्यमान थे, जब जगद्दल विश्वविद्यालय अन्तिम साँस ले रहा था।

विनाश

तेरहवीं शताब्दी के प्रारम्भ में प्रायः सभी विद्याकेन्द्रों का मुसलमान आक्रमणकारियों द्वारा अन्त हो गया। नालन्दा, विक्रमशिला, ओदन्तपुरी और जगद्दल महाविहार लगभग एक ही समय में विनष्ट कर दिये गये। उसी समय नेपाली भिक्षु संघश्री की प्रार्थना से जगद्दल विश्वविद्यालय के अन्तिम किन्तु महाप्रख्यात तान्त्रिक आचार्य विभूतिचन्द्र, दानशील, सुगतश्री, और अन्य भी पाँच पण्डित एक साथ नेपाल होते हुये तिब्बत चले गये।

उसके पश्चात् जगद्दल विश्वविद्यालय की दीवारें धीरे-धीरे पृथ्वी के गर्भ में समाने लगीं, और आज तो इस प्रकार भू-गर्भस्त हो गई हैं कि उन्हें पहचानना भी कठिन है!

त्रिरत्न का अनुस्मरण

प्रिय जिज्ञासु,

एक दिन मैं भोजनोपरान्त दिवा-विहार के लिए पास की आम्रवाटिका में जाकर एक वृक्ष के नीचे आसन लगाया था। ध्यानावस्थित होने से पूर्व ही एक तरुण बहुत से उपासकों के साथ मेरे पास आ पहुँचा और धर्म-चर्चा में ही वह दिन बीत गया। संध्या समय मैंने विचार किया कि ऐसे जनाकीर्ण स्थान में रहना उचित नहीं, जहाँ पर कि ध्यान भी न किया जा सके। आजकल कौशाम्बी के नष्टावशेषों की खोदाई हो रही है। घोषिताराम से एक शिलालेख भी प्राप्त हो चुका है। उसे देखने के लिये सदा लोग आया करते हैं। जब वे सुनते हैं कि मैं भी यहीं हूँ, तो उनकी प्रसन्नता का ठिकाना नहीं रहता। आजकल मुझे प्रायः धर्म-चर्चा में ही दिन बिताने पड़ते हैं। ध्यान करना तो दूर रहा, त्रिरत्न का अनुस्मरण करना तक कठिन हो जाता है।

बुद्धानुस्मृति

तुम तो जानते ही हो कि बुद्ध, धर्म, संघ को ही त्रिरत्न कहते हैं। इन्हीं के गुणों को बार-बार स्मरण करना त्रिरत्नानुस्मरण कहलाता है। जो साधक इनका अनुस्मरण करना चाहे, उसे पहले बुद्धानुस्मरण से ही आरम्भ करना चाहिए। उसे श्रद्धायुक्त हो, एकान्त में जा अनुकूल आसन पर बैठकर, एकाग्रचित्त हो इस प्रकार भगवान् बुद्ध के गुणों का अनुस्मरण करना चाहिए—

इतिपि सो भगवा अरहं सम्मासम्बुद्धो, विज्जाचरणसम्पन्नो सुगतो लोकविदू अनुत्तरो पुरिसदम्मसारथि सत्था देवमनुस्सानं बुद्धो भगवा'ति।

[वह भगवान् ऐसे अर्हत् सम्यक् सम्बुद्ध, विद्याचरणसम्पन्न, सुगत, लोक-विद्, अनुपम पुरुषदम्य सारथी, देवमनुष्यों के शास्ता हैं।]

भगवान् बुद्ध के गुणों को अनुस्मरण करने का यह ढंग है—

सो भगवा इतिपि अरहं, इतिपि सम्मासम्बुद्धो, इतिपि विज्जाचरणसम्पन्नो, इतिपि सुगतो, इतिपि लोकविदू, इतिपि अनुत्तरो पुरिसदम्मसारथि, इतिपि सत्था देवमनुस्सानं, इतिपि बुद्धो, इतिपि भगवा'ति।

[वह भगवान् ऐसे अर्हत् हैं, ऐसे सम्यक् सम्बुद्ध हैं, ऐसे विद्या और चरण से युक्त हैं, ऐसे सुगत हैं, ऐसे लोकविद् हैं, ऐसे अनुपम पुरुषदम्य सारथी हैं, ऐसे मनुष्यों के शास्ता हैं, ऐसे बुद्ध हैं, ऐसे भगवान् हैं।]

इस प्रकार बुद्ध के गुणों को स्मरण करनेवाले योगी का चित्त राग, द्वेष और मोह से लिप्त न होकर तथागत के प्रति लगा होता है। राग आदि की उत्पत्ति के अभाव से नीवरण दब जाते हैं और चित्त कर्मस्थान में लगा रहता है। अतः उसके वितर्क-विचार बुद्धगुण की ओर ही झुके हुए प्रवर्तित होते हैं। बुद्ध के गुणों का बार-बार वितर्क करते, बार-बार विचार करते प्रीति उत्पन्न होती है। प्रीति-मनवाले की प्रीति के कारण उत्पन्न होनेवाली प्रश्रब्धि से कायिक और मानसिक पीड़ायें शान्त हो जाती हैं। शान्त-पीड़ावाले को कायिक और चैतासिक सुख उत्पन्न होता है। सुखी का चित्त बुद्ध के गुणों का आलम्बन होकर समाधिस्थ होता है। इस प्रकार क्रमशः एक क्षण में ध्यान के अंग उत्पन्न होते हैं। किन्तु बुद्धगुण की गम्भीरता से या नानाप्रकार के गुणों को बार-बार स्मरण करने में लगे होने से अर्पणा को न पाकर उपचार-प्राप्त ही ध्यान होता है। वह बुद्ध के गुणों को स्मरण करने से उत्पन्न हुआ ध्यान बुद्धानुस्मृति ही कहा जाता है।

बुद्धानुस्मृति में लगा हुआ योगी शास्ता का गौरव और प्रतिष्ठा करनेवाला होता है। वह श्रद्धा, स्मृति, प्रज्ञा और पुण्य की विपुलता को प्राप्त होता है। प्रीति और प्रमोद बहुल होता है। भय-भयानकता को सहने वाला तथा दुःख को सहने की सामर्थ्य वाला होता है

उसे शास्ता के साथ रहने जैसा विचार बना रहता है। इसीलिये पुराने योगियों ने कहा है कि बुद्ध-गुणानुस्मृति के साथ रहने वाले योगी का शरीर भी चैत्य के समान पूजनीय होता है। ऐसा योगी प्रयत्न करके शीघ्र निर्वाण प्राप्त कर लेता है। यदि किसी कारणवश मार्ग-फल नहीं प्राप्त कर पाता है तो सुगति-परायण होता है।

धर्मानुस्मृति

धर्मानुस्मृति की भावना करनेवाले योगी को भी एकान्त में जाकर अन्य आलम्बनों से चित्त को खींचकर धर्म के नव गुणों का स्मरण करना चाहिए :—

स्वाक्खातो भगवता धम्मो सन्दिट्ठिको अकालिको एहिपस्सिको ओपनेय्यिको पच्चत्तं वेदितब्बो विञ्ञूही'ति।

[भगवान् का धर्म स्वाख्यात है, तत्काल फलदायक है, समयानन्तर में नहीं, यहीं दिखाई देनेवाला, (निर्वाण तक) पहुँचाने वाला और विज्ञों से अपने आप ही जानने योग्य है।]

इस प्रकार धर्म के गुणों को स्मरण करनेवाले योगी का चित्त राग, द्वेष, मोह से हटकर धर्म के प्रति ही लगा होता है। उसके नीवरण दब जाते हैं और ध्यान के अंग उत्पन्न हो जाते हैं। किन्तु धर्म के गुणों की गम्भीरता या नानाप्रकार के गुणों का बार-बार स्मरण करने से अर्पणा को न पाकर उपचार-प्राप्त ही ध्यान होता है। धर्म के गुणों को स्मरण करने से उत्पन्न ध्यान धर्मानुस्मृति ही कहा जाता है।

धर्मानुस्मृति में लगा हुआ योगी धर्म के गुणों का विचार करते हुए शास्ता का गौरव और प्रतिष्ठा करनेवाला होता है। बार-बार उसके मन में ऐसा भाव उत्पन्न होता है—'ऐसे धर्म के उपदेशक भगवान् न तो पूर्वकाल में ही थे और न तो इस समय ही अन्य कोई है!" वह श्रद्धा आदि में विपुलता को प्राप्त होता है। प्रीति और प्रमोद बहुल होता है। शिक्षा-पदों के उल्लंघन के योग्य बात आने पर उसे धर्म की सुधर्मता को स्मरण करते हुए लज्जा और संकोच हो आता है। इस भावना से यदि वह किसी कारण मार्ग-फल नहीं प्राप्त कर सकता है तो सुगति-परायण होता है।

संघानुस्मृति

संघानुस्मृति की भावना करनेवाले योगी को भी एकान्त में जाकर अन्य आलम्बनों से चित्त को खींच कर आर्य-संघ के गुणों का स्मरण करना चाहिए:—

सुपटिपन्नो भगवतो सावकसंघो, उजुपटिपन्नो भगवतो सावकसंघो, ञायपटिपन्नो भगवतो सावकसंघो, सामीचिपटिपन्नो भगवतो सावकसंघो, यदिदं चत्तारि पुरिस-युगानि अट्ठपुरिसपुग्गला—एस भगवतो सावकसंघो, आहुनेय्यो, पाहुनेय्यो, दक्खिनेय्यो, अञ्जलिकरणीयो अनुत्तरं पुञ्ञक्खेत्तं लोकस्सा'ति।

[भगवान् का श्रावक (=शिष्य) संघ सुमार्ग पर चल रहा है, भगवान् का श्रावक संघ सीधे मार्ग पर चल रहा है, भगवान् का श्रावक संघ न्याय-मार्ग पर चल रहा है, भगवान् का श्रावक-संघ उचित मार्ग पर चल रहा है, जो कि यह चार-युगल और आठ पुरुष=पुद्गल हैं, यही भगवान् का श्रावक-संघ है, वह आह्वान करने के योग्य है, पाहुन बनाने के योग्य है, दान देने के योग्य है, हाथ जोड़ने के योग्य है और लोक के लिये पुण्य बोने का सर्वोत्तम क्षेत्र है।]

इस प्रकार संघ के गुणों का अनुस्मरण करनेवाले योगी का चित्त राग, द्वेष, मोह से हट कर संघ के प्रति लगा होता है। बुद्धानुस्मृति तथा धर्मानुस्मृति की भाँति इसमें भी उपचार ध्यान प्राप्त होता है। संघ के गुणों के अनुस्मरण से प्राप्त ध्यान भी संघानुस्मृति ही कहा जाता है। पुराने योगियों ने कहा है कि संघानुस्मृति-भावना में लगे रहनेवाले योगी का शरीर उपोसथ-गृह में एकत्र हुए संघ की भाँति पूजनीय होता है। ऐसा योगी संघ का गौरव करते हुए किसी भी शिक्षापद का उल्लंघन करने में लज्जा और संकोच करता है। वह प्रयत्न करके शीघ्र ही निर्वाण को प्राप्त कर लेता है। यदि किसी कारण-वश मार्ग-फल नहीं प्राप्त कर पाता है तो सुगति-परायण होता है।

इसलिए संसार से निस्तार चाहनेवाले श्रद्धालु योगी

को चाहिए कि बुद्ध, धर्म और संघ के गुणों का अनुस्मरण करने में जुटे और किसी एक के अवलम्ब से मार्ग-फल को प्राप्त कर कृतकृत्य हो जाय। एक महायोगी ने त्रिरत्न की भावना के सम्बन्ध में इस प्रकार कहा है—

तेजोबलेन महता रतनत्तयस्स,
लोकत्तयं समधिगच्छति येन मोक्खं।
रक्खा न चत्थि च समा रतनत्तयस्स,
तस्मा सदा भजथ तं रतनत्तयं भो॥

ऐ लोगो! जिस त्रिरत्न की पूजा के प्रताप से तीनों लोक मोक्ष (= निर्वाण) प्राप्त करता है, जिस त्रिरत्न के समान दूसरी रक्षा नहीं है, उस त्रिरत्न का सर्वदा सेवन करो।

मैं आज ही यहाँ से प्रस्थान कर रहा हूँ। जब तक अपना दूसरा पता न लिख भेजूँ, पत्र न भेजना। जानते ही हो हम योगियों का कौन ठिकाना? आज यहाँ हैं तो कल वहाँ। रमता योगी और बहता पानी का कोई ठिकाना नहीं होता। चिन्ता न करना। त्रिरत्न के आनुभाव से तुम सदा सुखी रहोगे। योगिराज का आशीर्वाद जो तुम्हारे साथ है। अच्छा, अब प्रस्थान कर रहा हूँ। योगिराज के आशीर्वाद।

घोसिताराम
१७-३-५४

तुम्हारा—
योगी

कम्बोडिया में बौद्धधर्म

भिक्षु क. क. स्थितप्रज्ञ

कम्बोडिया भारत के ईशान-कोण में है। इस देश की पश्चिम दिशा में सुखोदय (स्याम), दक्षिण में सुखोदय-समुद्र, पूरब में चम्पा (कोचीन), अनाम (वीयतनाम) तथा उत्तर में खीरत्न (लोअस) देश स्थित हैं। कम्बोडिया की राजधानी 'फनुम पेन' है और इस देश का सर्वाधिक सुन्दर और प्राचीन शहर 'नगरवत्त' है।

कम्बोडिया में बौद्धधर्म और पालिभाषा अभी तक विद्यमान हैं और दोनों की वहाँ पर्याप्त उन्नति हुई है। फनुम-पेन नगर में सरकार और जनता—दोनों ने पालि-महाविद्यालयों की स्थापना की हैं। गाँवों तथा कस्बों तक में पालि-भाषा के अध्ययनार्थ विद्यालय हैं। पूरे कम्बोडिया देश में २४८ पालि-भाषा के विद्यालय हैं। बुद्धाब्द २४९७ (ई० १९५३) की जनगणना के अनुसार कम्बोडिया में अस्सी हजार भिक्षु हैं। सभी भिक्षु पालि जानते हैं। कम्बोडियावासी सभी बौद्ध हैं। प्रतिवर्ष खीरत्न एवं चम्पा देश से बहुत से भिक्षु कम्बोडिया में बौद्धधर्म का अध्ययन करने आते हैं। वहाँ धर्म-विनय के अनुशासन के लिये भी अनेक स्थान हैं।

कम्बोडिया में तीन बौद्ध समितियाँ हैं। बौद्ध समिति को कम्बोडियन भाषा में 'बुद्धिक समागम' कहते हैं। 'बुद्धशासन-पण्डित' समिति सबसे बड़ी एवं शक्तिशाली है। इस समिति द्वारा कम्बोडियन भाषा में बौद्ध ग्रन्थों का प्रकाशन होता है।

बौद्धधर्म भारत में अशोक-काल तक राजधर्म था और पालि-भाषा राष्ट्र-भाषा थी। किन्तु कालान्तर में भारतवर्ष से बौद्धधर्म हट-सा गया। आजकल चीन, जापान, तिब्बत, मंगोलिया, मंचूरिया, कोरिया, लंका, बर्मा, स्याम (सुखोदय), कम्बोडिया (कम्बोज), खीरत्न, चम्पा, मलाया आदि में बौद्धधर्म का खूब प्रचार एवं प्रसार है। बौद्धधर्म के कारण हम कम्बोडिया-वासियों को बड़ी प्रसन्नता है। भारत से कम्बोडिया को बौद्धधर्म मिला, अतः कम्बोडिया भारत को अपना ज्येष्ठ भाई समझता है और उसके धर्मदान की प्रवृत्ति का प्रशंसक है। अभी तक कम्बोडिया भारत के उपकार को नहीं भूला है, किन्तु भारत कम्बोडिया को भूल चुका है।

सम्प्रति भारत अपनी स्वतंत्रता की रक्षा के निमित्त खूब प्रयत्न करता है। मैं आशा करता हूँ कि निकट भविष्य में पुनः भारत और कम्बोडिया का पूर्ववत् दृढ़ सम्बन्ध स्थापित हो जायेगा और दोनों देश परस्पर एक सांस्कृतिक सूत्र में बँधे रहेंगे।

सम्पादक के नाम पत्र

कोली समाज को प्रोत्साहन दें

[दिल्ली के दैनिक पत्र 'जनसत्ता' के २५ फरवरी के अंक में प्रकाशित यह पत्र 'धर्मदूत' के पाठकों के लिए अविकल रूप में उद्धृत किया जा रहा है।—सम्पादक]

श्रीमान् सम्पादकजी,

दिनांक ६ फरवरी ५४ के आपके दैनिक-पत्र में 'बम्बई स्थित वार्ली कोलीवाड़ा के भास्कर महादेव कटकर कोली की टोपी हमारे प्रधान-मन्त्री श्री नेहरू ने अपनी गांधी टोपी से बदल ली'—ऐसे समाचार पढ़ने को मिले हैं।

मुझे यह समाचार जानकर इतिहास के एक साधारण विद्यार्थी के नाते इस समाज के प्राचीन गौरव का स्मरण हो आया। हमारी भारत-जननी ने अपनी कोख से ऐसे-ऐसे रत्न पैदा किये हैं जो भूतल पर अनुपम एवं अद्वितीय हैं। उन्हीं में से एक यह कोली-समाज है। जिसे आज हम अज्ञानतावश कुछ नहीं समझते।

महाराष्ट्र का तो बच्चा-बच्चा जानता तथा मानता है कि आदि-कवि बाल्मीकि कोली थे। उधर यह भी सुप्रसिद्ध है कि शान्तनु-पत्नी मत्स्यगंधा (सत्यवती) कोलिकुमारी थीं।

खैर, इन्हें हम पुरातत्त्व के साधनाभाव में न भी मानें, परन्तु यह तो ऐतिहासिक ध्रुव सत्य है, कि विश्व-वंद्य भगवान् बुद्ध जो आज भी दुनिया के सबसे महान् धर्म-शास्ता हैं, कोलि-शाक्य-सम्भूत थे, उनकी माता महामाया देवी, मौसी प्रजापती गौतमी, पत्नी यशोधरा देवी सब ही तो कोलि-प्रसूत थे।

महाराज क्षत्रपति शिवाजी के वीर मावले जिन्होंने हिन्दू-साम्राज्य-भवन की नींव को अपने खून के कण-कण से खड़ा किया; ये ही कोली लोग थे, शिवाजी के दाहिने हाथ महावीर तानाजी राव इन्हीं कोलियों के महादेव शाखा के गौरव थे। आज भी बम्बई प्रेसीडेन्सी के जौहर-नरेश जो कि इसी महादेव कोली कुल के हैं हमारी भारतीय संसद के एक सम्मान्य सदस्य हैं।

उधर झाँसी की रानी लक्ष्मीबाई को लीजिए—उनकी वीरांगना सहेली झलकारी कोलि-कुल-ललना ही थी, जिसने कि अंग्रेज कमाण्डर जनरल रोज के भी होश गुम कर दिए। महारानी और उसके अंग-प्रत्यंग में कोई भेद नहीं था। उसने महारानी को अंतिम समय में बचाने के लिए झालामन्ना की तरह लक्ष्मीबाई का वेष धारण कर अंग्रेजों को चक्कर में डाले रखा और वह स्वयं तथा उसका पति पूरन वीरता के साथ महारानी के बच निकलने में सहायक हुए।

ऐसी एक नहीं, इस समाज की अनेकानेक गाथायें हैं, परन्तु भारत में तो जिनका बोल-बाला है उन्हीं का है, गरीब की वीरता और देशभक्ति को कौन पूछता है? फिर भी उनकी महान् परम्परा अनायास ऐसी घड़ी ले आती है जैसी कि श्री नेहरू ने कोली-टोपी को बदलकर एक कौतूहल पैदा कर दिया। क्या इतिहास में छिपी उनकी महान् उज्वलता एवं लोकबंधुता की ओर यह घटना आज भी इंगित नहीं कर रही है?

अब यह आप पर है कि ऐसे देशभक्त लोगों के प्रति जो मेरी ऐतिहासिक शोध का सार है, अनेक दैनिक-पत्रों द्वारा जनता तक पहुँचायें ताकि लोग उन्हें अपना समान बन्धु समझें और उन पर गौरव करें। आज भी यह समुदाय भारत का एक अत्यन्त उद्योगी तथा परिश्रमी है। क्यों न उसे समुचित प्रोत्साहन दिया जाय, ताकि देश के विकास में हम उसका पूरा पूरा सहयोग पा सकें, कहीं यह महान् घटना इसी ओर तो हमें प्रेरणा नहीं दे रही है?

आपका—

मो. कु. नाथूसिंह तँवर

सम्पादक 'कोली-राजपूत' अजमेर

बौद्ध-जगत्

हजारों व्यक्तियों ने बौद्धधर्म अपनाया

डा० भीमराव अम्बेडकर और श्री पी० एन० राजभोज के प्रयत्न से दक्षिण भारत में इस समय बड़े वेग के साथ बौद्धधर्म का प्रचार हो रहा है। गत २४ जनवरी को 'विश्व बौद्ध भ्रातृत्व' के अध्यक्ष श्री जी० पी० मललसेकर के सभापतित्व में एरोडे नामक स्थान में एक कांफ्रेंस हुई, जिसके आयोजक थे द्राविड़ संघ के नेता श्री ई० वी० रामस्वामी। उक्त अवसर पर कई हजार व्यक्तियों ने बौद्धधर्म ग्रहण किया। द्राविड़ संघ के नेता ने मार्मिक शब्दों में अपनी विकट परिस्थितियों पर प्रकाश डाला। तदुपरान्त श्री पी० एन० राजभोज, डा० एस० जी० मनावल रामानुजम, श्री एस० वी० अधिट्ठान और सभापति के भाषण हुए। सबने द्राविड़ संघ के कार्यों एवं इस पवित्र संकल्प की सराहना की। वक्ताओं ने आशा प्रकट की कि कुछ ही दिनों के भीतर दक्षिण भारत में लाखों व्यक्ति बौद्धधर्मानुयायी हो जायेंगे।

श्रीमती विजया लक्ष्मी सारनाथ में—भारत के प्रधान मंत्री श्री जवाहरलाल की बहिन एवं यू० एन० की अध्यक्षा श्रीमती विजयालक्ष्मी १ मार्च को सारनाथ पधारीं। आपने कहा—"सारनाथ एक पवित्र स्थान है। मैं अपना सौभाग्य मानती हूँ जो कि बहुत दिनों के बाद पुनः मूलगन्धकुटी विहार का दर्शन कर पाई हूँ और उन आदर्शों के प्रति श्रद्धाञ्जलि अर्पित कर सकी हूँ जो कि आज मानव जाति को ऊपर उठाने के लिए एकमात्र अवलम्ब हैं।"

महाबोधिसभा के मंत्री भिक्षु संघरत्न के साथ सभा के सभी भिक्षुओं, अध्यापकों एवं छात्रों ने आपका स्वागत किया। महाबोधि जे० टी० सी० ट्रेनिंग कालेज के छात्रों ने आपको माला पहनाई। तत्पश्चात् आपने भगवान् बुद्ध की मूर्ति की पुष्प, धूप, प्रदीप से पूजा की और श्रद्धावनत हो प्रदक्षिणा की। भिक्षुओं ने परित्र-पाठ करके आपको आशीर्वाद दिया।

भित्ति-चित्रों के अवलोकन के पश्चात् आपने चीनी मन्दिर का भी दर्शन किया। भिक्षु संघरत्न ने आपको महाबोधिसभा की ओर से कुछ ग्रन्थ भेंट किये।

वर्मा के वैदेशिक मन्त्री सारनाथ आये—वर्मा के वैदेशिक मन्त्री श्री साऊ खुन क्यो गत १८ फरवरी को १० बजे दिन में भारत स्थित बर्मी राजदूत के व्यक्तिगत सचिव के साथ सारनाथ आये। मूलगन्ध कुटी विहार में लंका, बर्मा, कम्बोडिया, भारत, नेपाल, तिब्बत और जर्मनी के भिक्षुओं ने स्वागत किया। मन्त्री के बुद्धपूजा करने के पश्चात् भिक्षुओं ने सूत्रपाठ करके उन्हें आशीर्वाद दिया।

विहार के राज्यपाल कुशीनगर में—गत १५ फरवरी को विहार के राज्यपाल श्री आर० आर० दिवाकर दर्शनार्थ कुशीनगर आये। आपने सर्वप्रथम महापरि-निर्वाण मन्दिर में भगवान् की लेटी हुई २० फीट लम्बी मूर्ति का दर्शन किया। बड़ी शान्ति और तत्परता के साथ उस मन्दिर में आपने भगवान् के दर्शन किये। लगभग आधे घण्टे तक उसी मन्दिर में रहकर आपने ध्यान भी लगाया। तदनन्तर स्तूप एवं खण्डहरों को घूम-घूम कर देखा। भगवान् के अन्त्येष्टि-संस्कार-स्थान रामाभार का भी दर्शन किया। कुशीनगर भिक्षुसंघ के सभापति पूज्यपाद भदन्त चन्द्रमणि महास्थविर ने सब स्थानों को आपको दिखलाया एवं भगवान् का जीवन चरित सुनाया।

बुद्धगया मन्दिर प्रबन्ध समिति की बैठक—गत २१ और २२ जनवरी को बुद्धगया में बुद्धगया मन्दिर की प्रबन्धकारिणी समिति की बैठक हुई। महा-बोधि सभा के प्रधान मन्त्री श्री देवप्रिय बलिसिंह भी उक्त बैठक में सम्मिलित हुए थे। बैठक में समिति की नियमावली पढ़ी गई, जो निर्विरोध स्वीकृत हो गई। तदुपरान्त बुद्धगया के स्थानों एवं मन्दिर के जीर्णोद्धार आदि के सम्बन्ध में १५ विषयों पर विचार किया गया। अन्त में निर्णय हुआ कि इन कार्यों के सम्पादनार्थ विभिन्न दाताओं से सहायता प्राप्त की जानी चाहिए और साथ ही पुरातत्व-विभाग से भी स्वीकृति-पत्र प्राप्त करना चाहिए।

वर्मा के प्रधान विचारपति का स्वागत—गत ५ जनवरी को बर्मा के प्रधान विचारपति श्री ऊ थे मौंग का कलकत्ता में महाबोधि सभा के भवन में स्वागत किया गया। आप सारनाथ, कुशीनगर, लुम्बिनी, बुद्धगया आदि तीर्थों के दर्शनार्थ भारत आये थे। श्री मौंग सभा के दीर्घकाल से सहायक रहे हैं। आपके स्वागत में

सभा कलकत्ता हाईकोर्ट के विचारपति श्री पी० बी० मुखर्जी के सभापतित्व में की गई। श्री देवप्रिय बलिसिंह, भिक्षु शीलभद्र और श्री केशवचन्द्र गुप्त के स्वागत-भाषण हुए।

स्वागत का उत्तर देते हुए माननीय मौंगने महाबोधि सभा के कार्यकर्त्ताओं को धन्यवाद दिया तथा सभा के कार्यों के प्रति अपनी प्रसन्नता प्रकट की।

कलकत्ता में बौद्ध रविवासरीय स्कूल—महाबोधिसभा ने कलकत्ते में बौद्ध बालकों एवं बालिकाओं के लिए एक रविवासरीय स्कूल खोला है। पहले ही दिन ३ जनवरी को जब स्कूल प्रारम्भ किया गया, तब उच्च श्रेणी में २९ और निम्न श्रेणी में ३७ छात्र थे। इस स्कूल में यह ध्यान रखा जाता है कि बच्चों को केवल जातक की कहानियाँ ही न बतलाई जायँ, प्रत्युत उच्च आदर्श एवं चरित्र की बातें भी सिखाई जायँ। इस स्कूल के भिक्षु शीलभद्र और श्री जयद्रथ चौधरी अध्यापक हैं।

दारुसलम में बौद्ध-मन्दिर—यह जानकर हमें प्रसन्नता हुई है कि सिंहली बौद्धों द्वारा दारुसलम के तंगानिका में एक बुद्ध मन्दिर का निर्माण हो रहा है, जो अब पूर्ण होने के नजदीक है। ४ फरवरी को मन्दिर में भगवान् बुद्ध की अस्थि को स्थापित करने का उत्सव किया गया। इस अवसर पर दिन भर उत्सव का कार्य-क्रम चलता रहा। हम आशा करते हैं कि उस प्रदेश में भगवान् बुद्ध के सन्देश का अधिकाधिक प्रसार होगा।

नामकरण संस्कार—मुक्तेश्वर के बौद्ध श्री बोनसेन के ज्येष्ठ पुत्र का नामकरण-संस्कार ८ फरवरी को वसन्त पंचमी के दिन सम्पन्न हुआ। इस अवसर पर भिक्षु प्रज्ञानन्द ने बालक का नाम दीपाङ्कर रखा।

श्री बोनसेन शाहजहाँपुर के रोजा के केरुस फैक्टरी में एक कर्मचारी हैं। रोजा और शाहजहाँपुर के इण्डियन नेशनल ट्रेड यूनियन कांग्रेस के आप सेक्रेटरी भी हैं।

लखनऊ बुद्धविहार को सरकारी अनुदान—लखनऊ के बुद्धविहार को उत्तर प्रदेशीय सरकार द्वारा १०००) अनुदान के रूप में प्राप्त हुआ है। उक्त विहार में एक विशाल पुस्तकालय है, जिसके द्वारा अनुसन्धान कार्य होता है। कुछ दिनों से मंगोलिया के एक विद्वान् भिक्षु तिब्बती से हिन्दी में प्राचीन ग्रन्थों का अनुवाद-कार्य कर रहे हैं। राज्य-सरकार ने हिन्दी में अनुवाद करने के लिए यह अनुदान प्रदान किया है। यह प्रथम सराहनीय प्रयास है। आशा है राज्य-सरकार का ध्यान इस दिशा में बना रहेगा और ऐसे कार्यों के लिए पर्याप्त सहायता की जायेगी।

पाणिग्रहण संस्कार—अनेक ग्रन्थों की लेखिका सुश्री अनुला गायत्री का पाणिग्रहण संस्कार गत ६ मार्च को लखनऊ में श्री जिनदास सेनाधीर के साथ सम्पन्न हो गया। धर्मदूत के पाठक सुश्री अनुला गायत्री के नाम से भली प्रकार परिचित हैं। आप अनागरिका अनुला नाम से सदा लिखती रही हैं। श्री जिनदास सेनाधीर भी बौद्धधर्म के अच्छे पण्डित एवं कई भाषाओं के ज्ञाता हैं। हम इस नवदम्पति को भिक्षुसंघ की ओर से आशीर्वाद देते हैं तथा इनकी मंगलकामना करते हैं।

बौद्ध सत्संग—गत १० मार्च को लखनऊ के बुद्ध-विहार में सायंकाल बौद्ध सत्संग हुआ, जिसमें भिक्षु धर्मरक्षित, भिक्षु संघरत्न एवं भिक्षु प्रज्ञानन्द के भाषण हुए। भिक्षु धर्मरक्षित ने प्रयाग के कुम्भ में घटित दुर्घटनाओं की ओर ध्यान आकर्षित करते हुए मिथ्या धारणाओं और अन्धविश्वासों को छोड़कर सम्यक्-दृष्टि ग्रहण करने पर जोर दिया। आपने कहा कि जब तक हम भगवान् बुद्ध की शिक्षाओं के अनुसार आचरण नहीं करेंगे, हमारा कल्याण नहीं होगा।

सारनाथ में सांस्कृतिक गोष्ठी—१७ मार्च को सारनाथ में भिक्षु संघरत्न के सभापतित्व में एक सांस्कृतिक गोष्ठी हुई। गोष्ठी का आयोजन बिहार प्रान्त के आरा जिलान्तर्गत डुमराव हाईस्कूल के छात्रों एवं अध्यापकों ने किया था। वे लोग यहाँ दर्शनार्थ आये थे। इस गोष्ठी में लंका, बर्मा, तिब्बत, नेपाल, भारत, कम्बोडिया आदि सभी देशों के भिक्षु सम्मिलित हुए थे।

गोष्ठी में छात्रों ने विभिन्न भाषाओं में कविता पाठ किया। 'चमार की बिटिया' और 'बनिहार' शीर्षक ग्राम्यगीत बहुत पसन्द आये। पंजाब की श्रीमती सुजाता ने 'सहारा' और 'सारनाथ की धोबिन' शीर्षक बुद्ध-भक्ति सम्बन्धी कविता को सुनाकर श्रोताओं को बहुत ही प्रभावित किया। कम्बोडिया के भिक्षु स्थितप्रज्ञ ने भी अपनी भाषा में कवितापाठ किया। तदुपरान्त भिक्षु पोतुविल गुणरत्न ने सिंहली में भाषण किया, जिसका हिन्दी अनु-

वाद भिक्षु धर्मरक्षित ने किया। अन्त में भिक्षु धर्मरक्षित ने छात्रों को सारनाथ का महत्त्व बतलाते हुए उपदेश दिया। सभापति के भाषणोपरान्त डुमराव हाईस्कूल के अध्यापक श्री अम्बिकादत्त पाण्डेय ने धन्यवाद दिया।

इस गोष्ठी से सारनाथवासी भिक्षु बड़े ही प्रभावित हुए। गोष्ठी के आयोजक थे श्री मोतीलाल प्रसाद बी० काम०, श्री अबुल खैर बी० एस-सी० (आनर्स) तथा श्री अम्बिकादत्त पाण्डेय।

आचार्य भिक्षु शासनश्री जी—सारनाथ महाबोधि कालेज के व्यवस्थापक तथा सारनाथ के महास्थविर आचार्य भिक्षु शासनश्री जी लंका में दो वर्षों तक विश्राम करके अब सारनाथ आ गये हैं। आप स्वास्थ्य-लाभ के लिए लंका गये थे। अब आप पूर्ण स्वस्थ हैं।

भूटान के राजा दोर्जी का अस्थि-प्रवाह—२१ मार्च को दोपहर में भूटान के स्वर्गीय राजा दोर्जी की पत्नी रानी दोर्जी उनकी अस्थियों के साथ सारनाथ आयीं। मूलगन्ध कुटी विहार में सभी भिक्षु एकत्र हुए और बौद्ध-धर्म के अनुसार सूत्रपाठ करके दिवंगत राजा की सद्गति की प्रार्थना की। तत्पश्चात् भिक्षु संघरत्न ने उन्हें उपदेश दिया। रानी ने भिक्षुओं को दक्षिणा दी और लामा जोवजङ के साथ काशी जाकर मणिकर्णिकाघाट पर अस्थियों को गंगा में प्रवाहित किया।

स्मरण रहे राजा दोर्जी का देहावसान गत जनवरी मास में हुआ था। आप भूटान के प्रधान मन्त्री थे। आप को राजा की सम्मानित उपाधि दी गयी थी। वर्तमान भूटान की महारानी आप की ही पुत्री हैं जो अभी हाल में ही भूटान-नरेश के साथ दिल्ली आयी थीं और साँची में जाकर भगवान् बुद्ध के अग्रश्रावकों के अस्थियों की पूजा की थीं तथा ३०००) अपने दिवंगत पिता के पुण्यार्थ दान किया था। मूलगन्ध कुटी विहार में लगने वाली चांदनी को राजा दोर्जी ने ही आज से १५ वर्ष पूर्व १०,०००) में तैयार कराकर महाबोधि सभा सारनाथ को दान किया था।

रानी दोर्जी बुद्ध गया होते हुए यहाँ आयी थीं और अस्थि-प्रवाह के पश्चात् पटना के लिए रवाना हो गयीं।

ग्राहकों से निवेदन

इस अंक से 'धर्मदूत' का १८वाँ वर्ष समाप्त होता है। हमारे बहुत-से ग्राहकों का मूल्य इस अंक से समाप्त हो जायेगा। यदि इस मास के अन्त तक उनका वार्षिक मूल्य हमें मनीआर्डर-द्वारा प्राप्त न होगा तो मई १९५४ का सुन्दर नव-वर्षाङ्क उनकी सेवा में वी० पी० द्वारा भेजा जायेगा और आशा है, वे वी० पी० छुड़ाकर हमें कृतार्थ करेंगे। जो महानुभाव किसी कारण से आगामी वर्ष में ग्राहक न रहना चाहें उनसे निवेदन है कि वे शीघ्र हमें सूचित कर दें ताकि वी० पी० भेजने का व्यर्थ व्यय हमें न उठाना पड़े। **मनीआर्डर भेजते समय अपना ग्राहक-नम्बर मनीआर्डर-कूपन पर अवश्य लिखें।**

निवेदक,
व्यवस्थापक 'धर्मदूत' सारनाथ, बनारस।

प्रकाशक—भिक्षु एम० संघरत्न, महाबोधि सभा, सारनाथ, (बनारस)

मुद्रक—ओम् प्रकाश कपूर, ज्ञानमण्डल यन्त्रालय, कबीरचौरा, बनारस।

धर्मदूत

महा बोधि सभा सारनाथ का मुख पत्र

१९५४

विषय-सूची

'धर्मदूत' के नियम—

१—"धर्मदूत" भारतीय महाबोधि सभा का हिन्दी मासिक मुखपत्र है ; जो प्रति पूर्णिमा को प्रकाशित होता है।

२—"धर्मदूत" के ग्राहक किसी भी मास से बनाये जा सकेंगे।

३—पत्र-व्यवहार करते समय ग्राहक-संख्या एवं पूरा पता लिखना चाहिये, ताकि पत्रिका के पहुँचने में गड़बड़ी न हो।

४—लेख, कविता, समालोचनार्थ पुस्तकें (दो प्रतियाँ) और बदले के पत्र सम्पादक के नाम तथा प्रबन्ध सम्बन्धी पत्र और चन्दा व्यवस्थापक के नाम पर भेजना चाहिये।

५—किसी लेख अथवा कविता के प्रकाशित करने या न करने, घटाने-बढ़ाने या संशोधन करने का अधिकार सम्पादक को है। बिना डाकखर्च भेजे अप्रकाशित कविता या लेख लौटाये न जा सकेंगे। जिस अङ्क में जिनका लेख या कविता छपेगी वह अङ्क उनके पास भेज दिया जायगा।

६—"धर्मदूत" में केवल बौद्धधर्म, कला, संस्कृति, साहित्य, पुरातत्व आदि सम्बन्धी लेख ही प्रकाशित किये जा सकेंगे।

७—किसी लेखक द्वारा प्रकटित मत के लिये सम्पादक उत्तरदायी नहीं है।

८—"धर्मदूत" का वार्षिक मूल्य ३) और आजीवन ५०) है।

व्यवस्थापक
"धर्मदूत" सारनाथ, बनारस

भगवान्-बुद्ध
(तक्षशिला से प्राप्त एक प्रतिमा)

चरथ भिक्खवे चारिकं बहुजनहिताय बहुजनसुखाय लोकानुकम्पाय अत्थाय हिताय सुखाय देवमनुस्सानं। देसेथ भिक्खवे धम्मं आदिकल्याणं मज्झे कल्याणं परियोसानकल्याणं सात्थं सब्यञ्जनं केवलपरिपुण्णं परिसुद्धं ब्रह्मचरियं पकासेथ। महावग्ग, (विनय-पिटक)

'भिक्षुओ! बहुजन के हित के लिये, बहुजन के सुख के लिए, लोक पर दया करने के लिये, देवताओं और मनुष्यों के प्रयोजन के लिये, हित के लिये, सुख के लिये विचरण करो। भिक्षुओ! आरम्भ, मध्य और अन्त—सभी अवस्था में कल्याणकारक धर्म का उसके शब्दों और भावों सहित उपदेश करके, सर्वांश में परिपूर्ण परिशुद्ध ब्रह्मचर्य का प्रकाश करो।'

सम्पादकः—त्रिपिटकाचार्य भिक्षु धर्मरक्षित

वर्ष १९	सारनाथ,	मई-जून	बु० सं० २४९८ ई० सं० १९५४	अङ्क १-२

बुद्ध-वचनामृत

'पुण्य ही परलोक में आधार होता है'

एक ओर बैठे हुए कोशलराज प्रसेनजित् को भगवान् ने कहा—'महाराज! इस दुपहरिये में आप कहाँ से आ रहे हैं?' 'भन्ते! मेरी दादी मर गई है। वह बड़ी बूढ़ी, पुरनिया, आयु पूरी हुई, एक सौ बीस साल की थी। भन्ते! मेरी दादी मुझे बड़ी प्यारी थी। भन्ते! हस्तिरत्न को भी पाना मैं स्वीकार नहीं करूँ यदि मेरी दादी नहीं मरे।...' 'महाराज! सभी जीव मरण-शील हैं, एक न एक समय उनका मरना निश्चित है, मरने से वे किसी तरह नहीं बच सकते।' 'भन्ते! आश्चर्य है, अद्भुत है, भगवान् ने बड़ा ही ठीक कहा है कि सभी जीव मरण-शील हैं।...' 'हाँ, महाराज! यथार्थ में ऐसी ही बात है। महाराज! कुम्हार के जितने घड़े हैं—कच्चे भी और पक्के भी—सभी फूट जानेवाले हैं, एक न एक दिन उनका फूटना निश्चित है, फूटने से वे किसी तरह नहीं बच सकते। महाराज! बस, ठीक वैसे ही सभी जीव मरण-शील हैं।

सभी जीव मरेंगे, मृत्यु में ही जीवन का अन्त होता है,
उनकी गति अपने कर्म के अनुसार होगी, पुण्य-पाप के फल से,
पाप करने से नरक को, पुण्य करने से सुगति को,
इसलिये सदा पुण्य कर्म करे, जिससे परलोक बनता है,
अपना कमाया पुण्य ही प्राणियों के लिए परलोक में आधार होता है॥

—संयुत्त निकाय ३. ३. २

वैशाखी पूर्णिमा

भदन्त आर्यवंश स्थविर

महापुरुषों का आविर्भाव अणु-परमाणुओं के तरंग-जाल में पड़े इस चंचरु विश्व के हित होता है। मानव-प्राण इन्हीं तरंगों के बीच आन्दोलित, उद्वेलित होता रहता है। इसी कारण किसी एक के दुःख-तरंग किसी दूसरे के चित्त-तट से टकराया करते हैं। विषाद के झूले पर आन्दोलित सहृदय मन समवेदना से भर उठता है। सुख के भी प्रवाह की गति—किसी को सुखी देख सुख की अनुभूति होती है। दूसरे के सुख-दुःख में उदासीनता तो स्वार्थ भरा अज्ञान है। दूसरे के दुःख में सुखी होना आसुरी निर्ममता और दूसरे के सुख से ईर्ष्या करना परश्री-कातरता है।

ज्ञान प्रकाश है। अज्ञान अंधकार। ज्ञान की ज्योति अज्ञान के तिमिराच्छन्न अन्धकूप में धीरे-धीरे उजाला फैलाती है। असत्य के घेरे के बाहर हुए बिना मनुष्य सत्य नहीं ढूँढ़ पाता। सूर्य-रश्मियाँ प्रखर होती हैं और चन्द्र-रश्मियाँ शीतल। सूर्य-रश्मियाँ जगत् की वस्तुएँ प्रकाश में लाती हैं और चन्द्र-रश्मियाँ भी, पर चन्द्रमा की पीत रश्मियाँ इस निरानन्द जगती पर एक विचित्र मधुर अनुभूति की वर्षा करती हैं। अतः यह वैशाखी पूर्णिमा अपनी विमल ज्योत्स्ना-धारा से धरा-धाम को स्निग्ध सुन्दर बना आज हमारे स्मृति मन्दिर में एक महाजीवन की तीन अविस्मरणीय घटनाओं पर प्रकाश डालती है :—बुद्ध जन्म, बुद्धत्व प्राप्ति और महापरि-निर्वाण।

कुमार सिद्धार्थ का जन्म :—महा मायादेवी कपिलवस्तु छोड़ कर लुम्बिनी वन में पूर्णिमा की अमल स्निग्ध चन्द्रिका का अपूर्व आनन्द लूटने गयी थीं। यही वैशाखी पूर्णिमा सज-धज-सँवारी अनुपम सौन्दर्य की वर्षा कर रही थी। सारी वनस्थली विहँस रही थी। चिड़ियाँ चहक रही थीं। वन-उपवन और पथ-पनघट पर से कुहरे की यवनिका हट चुकी थी। चन्द्रिका सारे चराचर विश्व को अमल करों से धो-धो कर पूत पावन किये हुए थी। उसी पावन काल में कुमार गौतम ने जन्म लिया।

वैशाखी पूर्णिमा को कुमार गौतम का जन्म क्या कोई आकस्मिक योगायोग तो नहीं। हम तो जानते ही हैं कि छोटे से छोटे दुर्योग अथवा सुयोग की छाया मन पर पड़ती जाती है, फिर गौतम का जन्म तो चिरन्तन ज्ञानालोक की सूचना थी। इसीलिए तो प्रकृति अपनी सारी मधुरिमा की विभूति लिए उस भविष्य का प्रचार करने लगी थी जब कि यह नवजात आगन्तुक सारी मानव जाति का अज्ञानान्धकार मिटाकर सारा सन्देह दूर कर देगा और दुःख मिटा डालेगा। पर हाँ, यदि मानव जाति उसी के ज्ञान के आलोक से विमुख नहीं होने पावे और तभी ज्ञान-रश्मि से आलोकित मार्ग पर चलकर मानव जरा-मरण आदि दुःख-पीड़ा के मार्ग से निरापद हो सकेगा।

सिद्धार्थ के जन्म-दिवस से अलंकृत यह वैशाखी-पूर्णिमा कोई साधारण महत्व नहीं रखती। यह इस अशाश्वत विश्व के विषाद के तिमिरांधगर्त से मानव को बचाती हुई उस सत्य मार्ग की ओर इंगित करती है जिसका भगवान् तथागत बहुजन हिताय, बहुजन सुखाय, लोकानुकम्पाय महानिर्देश करने वाले हैं।

पृथ्वी सूर्य की प्रदक्षिणा करती है। पृथ्वीवासी सूर्य को प्रतिमास एक राशि से दूसरी राशि पर जाते पाते हैं। वर्ष के अन्त में सूर्य का रथ मेष राशि पर संक्रमण करता है। इसी मधुमास की रात्रि में पूर्ण-चन्द्र जगती पर अमृत-वर्षा करता है। यही अवसर तो वैशाखी-पूर्णिमा है। इस विश्व-नाट्यशाला में सूर्य का रथ राशि-राशि पर सुशोभित होता रहता है। प्रकृति-नटी नाचती रहती है और असंख्य नर-नारी आते-जाते रहते हैं। भला, उनका लेखा कौन कर सकता है?

बुद्धत्व-प्राप्तिः—गौतम के जन्म के ३४ वर्ष बाद

यही वैशाखी-पूर्णिमा पुनः अपनी विमल ज्योत्स्ना से पुण्यभूमि गया धाम के बोधिवृक्ष के पाप मूल को धोने चली। वन भूमि के लता-कुंज-वितानों के अन्धकार का आवरण जाता रहा, महीतल की मलीनता मिट गई और सत्य-स्रोत बह निकला। महाबोधि के महारथी ने सत्य का आलोक प्रज्ज्वलित किया। गौतम बुद्ध हो गए और उनके श्रीमुख से यह वाणी निकली—

अनेक जाति संसारं सन्धाविस्सं अनिब्बिसं
गहकारकं गवेसन्तो दुक्खा जाति पुनप्पुनं,
गहकारक! दिट्ठोसि पुन गेहं न काहसि
सब्बा ते फासुका भग्गा गहकूटं विसंखितं,
विसंखारगतं चित्तं तण्हानं खयमज्झगा॥

अर्थ यह है कि असंख्य जन्म में व्यर्थ चेष्टा उस गृहकारक को ढूँढ़ने की करता रहा। पर हे गृहकारक! अब देख लिये गये हो। तुम्हें अब और गृह-निर्माण नहीं करना पड़ेगा। तुम्हारा गृह-पिंजर ध्वंस हो गया। उसकी बल्लियाँ चूर-चूर हो गयीं। अब मैं पुनर्जन्म की यन्त्रणा से मुक्त हो गया। अब मेरा चित्त कामना की मेह-बाधा में नहीं फँसेगा।

इसी ज्ञान का प्रतीक स्वरूप वैशाखी-पूर्णिमा है। इस संसार रूपी कारागृह में मनुष्य अपनी भाव-प्रवण कामना-वासना, इच्छा-द्वेष के बन्धनों में जकड़ा हुआ है। वह दिन-दिन तुच्छातितुच्छ होता जाता है। वह मैत्री करुणा के स्रोत में निमज्जित होकर ही अपने को बढ़ा सकता है। वह वासना के दुःख के गर्त को अनात्म अस्तित्व के सेतु पर चढ़ कर पा सकता है। पर हाँ, यह सम्यक् दृष्टि के बिना सम्भव नहीं। वैशाखी पूर्णिमा जगत को इसी सत्य का ज्ञान देती है।

महापरिनिर्वाण-लाभ :—बुद्धत्व प्राप्ति के ४५ वर्ष बाद भगवान् बुद्ध के महापरिनिर्वाण का समय आया। देह का नाश हो जाता है, पर अहमता की सत्ता बनी रहती है जो कि पुनर्जन्म का कारण होती है। भगवान् बुद्ध ने अहमता का उन्मूलन कर डाला था। उन्होंने मानव-तन छोड़ दुर्लभ निर्वाण पद पाया। वैशाखी पूर्णिमा की छायाहीन स्निग्ध अमल ज्योति विश्व को उस निर्वाण की झाँकी कराती है।

उस सत्य—जिसका आदि मधुर, मध्य मधुर और अन्त मधुर है—की अमर ज्योति जलाकर भगवान् बुद्ध कुशीनगर के उपवन में कौशिक वसन की शैया पर सिर दाहिने हाथ से टेके हुए विमल हास्य-रंजित मुख से बोले—"प्रिय शिष्यगण! मैं देहत्याग करूँगा। क्या अब और किसी को बुद्ध, धर्म, संघ अथवा मार्ग के विषय में सन्देह रह गया है; यदि हो तो मुझ से पूछकर दूर कर लेवे।" सब चुप रहे। उन्होंने फिर पूछा। पर शिष्य लोग नहीं बोले, फिर तीसरी बार सन्देह मिटा लेने को कहा। इस बार प्रिय शिष्य आनन्द बोले—"इस भिक्षु-संघ में ऐसा कोई नहीं है।"

तब भगवान् तथागत ने कहा—"भिक्षुओ! सुनो, मैं तुमसे एक अनुरोध करता हूँ सारी समष्टि में ध्वंस विराजमान है, अतः दृढ़ संकल्प होकर अपनी साधनाओं के बल निर्वाण प्राप्त करो।"

इसके बाद उन्होंने इस नश्वर शरीर को त्याग दिया। सत्य के प्रदीप का स्थूल स्तम्भ तो जाता रहा, पर इस वैशाखी पूर्णिमा ने आकर अपनी ज्योत्स्ना-माला को आधार बना कर उस प्रदीप को युगयुगान्तर के लिए प्रज्वलित रखा है। एक युग और अपने देश के कल्याण के लिए ही नहीं बल्कि सब युगों और देशों के कल्याण के लिए। दिन-दिन भिक्षु लोग मैत्री-करुणा के महामन्त्र की अमोघ शक्ति द्वारा जीव की मुक्ति का सन्देश देते फिरेंगे। बोधि-प्रदीप जगमगाता रहेगा, जिसका तेल है पंचशील अष्टमार्ग की मन्त्रौषधि। इस प्रदीप को भगवान् बुद्ध ने अपने परिनिर्वाण के समय जलाकर प्रिय शिष्यों के हाथ देते हुए कहा था कि यह जग भर उजाला फैलाता रहे और युगों तक जगमगाता रहे।

अहो धन्य वैशाखी पूर्णिमे! तुम भगवान् तथागत के जन्म, बोधिप्राप्ति और महापरिनिर्वाण की प्रतीक हो। आज हम तुम्हें भगवान् तथागत की अमर स्मृति में अपनी भक्ति की श्रद्धाञ्जलि समर्पित करते हैं। आशा है तुम्हारे आवाहन से मानव अपने लुप्त पथ का अन्वेषण करेगा।

सब्बे सत्ता सुखिता होन्तु

बुद्ध-पूर्णिमा

'भिक्षु'

तू भाग्यशाली पूर्णिमे ! गौरवमयी आख्यान है,
तेरी कथा अनुपम जगत को जग सदा तव गान है,
उतरा तुम्हारे अंक में वह अग्र मानव लोक का,
जब सप्त पद हो अग्रसर चीरा कलेजा शोक का,
हर्षित हुआ संसार नर-मरु-ब्रह्म सब प्रमुदित हुए,
आलोक व्याप्त हुआ नवल उर कोकनद विकसित हुए,
वह लुम्बिनी पावन हुई जिनके चरण को चूम कर,
तू भाग्यशाली पूर्णिमे ! आओ सदा ही घूम कर।

× × ×

कर कठिन तप वह योगिवर पाया न ज्ञान प्रकाश को,
हो शुष्क तन, तज अन्न-जल देखा न किंचित आश को,
खा खीर बैठा बोधितरु तर जा अचल पर्यङ्क से,
कर दृढ़ प्रतिज्ञा दृढ़व्रती सिद्धार्थ मुनि निःशङ्क से,
कर मार मर्दन पा लिया निर्वाण तेरे अङ्क में,
दशबल तथागत बुद्ध गुरु विलसित गया-पर्यङ्क में,
वह बोधिवृक्ष महान है वह बुद्धभूमि वनस्थली,
तू भाग्यशाली पूर्णिमे ! आओ खिलाती जग-कली।

× × ×

विचरे तथागत लोक में सुख-सिन्धु का निर्माण कर,
त्रयताप से संतप्त जग का प्रेम से शुभ त्राण कर,
सब जन समान स्वतन्त्र हैं अधिकार सबको धर्म का,
यह बुद्ध वाणी विमल है फल प्राप्य सबको कर्म का,
समवेत भिक्षु समाज को उपदेश नित देते हुए,
नर-नारिगण को प्रेम से निज संघ में लेते हुए,
आ शालवन के मध्य तेरी ज्योत्स्ना मनुहार कर;
हो शान्त चित्त सु-शान्ति को पाया जगत उद्धार कर,
वह कुशीनारा धन्य है, जो भूमि है नर-शुद्ध की,
तू भाग्यशाली पूर्णिमे ! आओ परम प्रिय बुद्ध की ॥

पावन पूर्णिमा

सुश्री कुमारी विद्या

किस अनन्त से उतर पूर्णिमे ! करती हो अभिनन्दन।
श्री चरणों में वन्दन, सजनी ! साथ तुम्हें अभिनन्दन॥

स्मृति लाई उस अतीत की, जब संसृति सुषमा धारे।
चन्दा का थी दीप सँजोये, अगणित मुक्ता वारे।
शाक्य-राज पावन कल्याणी, पुण्यमयी माया रानी ने।
शिशु सिद्धार्थ परम मंगलमय, प्रमुदित रूप निहारे॥

धन्य हुई थी माया रानी, लख निज शिशु स्पन्दन।
धन्य धरा मानो हर्षित थी, करती शत-शत वन्दन॥

था अनुपम वैभव महलों में, कपिलवस्तु के कण-कण में।
या थी रूप बदलती सुषमा, बन सजीव-सी क्षण-क्षण में।
मधुर आश ले निज नयनों में, मधुऋतु-सी गोपा आई।
नित अभिनव उल्लास निखरता, शाक्य-वधू आकर्षण में॥

रोक न पाया पर वह वैभव, जगती का करुणा क्रन्दन।
सुने अधीर हुए करुणामय, करने को दुख उच्छन्दन॥

तेरे पुण्य पर्व में सजनी ! जग की व्याकुलता दूर हुई।
उरुवेला के वन्य प्रान्त में, अन्तक की छलना चूर हुई।
कितना दिव्य विजय गौतम का, कैसी मंगलमयि करुणा।
मानो पारिजात-कानन - श्री, उल्लासित भरपूर हुई॥

वीचि-विचुम्बित वरुणा पुलकित, करती अर्चन वन्दन।
गूँजी जन-नायक की वाणी, धन्य हुआ था ऋषिपत्तन॥

हार गया जगती का वैभव, निष्ठुरता पाषाणी।
अभिनव शान्तिमयी थी उनकी, शुचि मंगलमयि वाणी।
मानव ही क्या, प्राणिमात्र था, पाया अभिनव अनुपम।
कुशीनगर की पुण्य भूमि हे ! कसकमयी कल्याणी॥

त्रिविधि पावनी-अहो पूर्णिमे ! पुण्य तुम्हारा अभिनन्दन।
करुणामय त्रिरत्न शरण में, अर्पित शत-शत वन्दन॥

बुद्धवाद और मानव

श्री जी. पी. मललसेकर, अध्यक्ष, विश्वबौद्ध भ्रातृत्व, लंका

विश्व के समस्त प्राचीनतम धर्मोंमें बौद्धधर्म एक विशिष्ट स्थान रखता है। आज से ढाई सहस्र वर्ष पूर्व इस धर्मके जो नियम और सिद्धान्त थे वे ज्यों के त्यों आजतक बने हुए हैं। आज भी इस धर्मके अनुयायियों की संख्या पचपन करोड़ है। यह प्राच्य जगत् का वह धर्म है, जिसके प्रति पाश्चात्य का आकर्षण दिन प्रतिदिन बढ़ता ही जा रहा है। पाश्चात्य देशों में बौद्धधर्म के प्रति जो आकर्षण दिखाई पड़ रहा है उसके मूल में जिज्ञासा, विश्वबन्धुत्व, विज्ञान, व्यापार, युद्ध एवं विश्वजागरण न होकर एक विशेष कारण है और वह है—तथागत की सार्वभौम मानवता से सम्बद्ध शिक्षाएँ। आज वह समाज जो भीषण रक्तपात, सन्तुलित शक्ति एवं बहुदेव का उपासक था, कदापि इस ओर अग्रसर नहीं होता यदि बुद्धदेव की शिक्षाएँ सत्य पर आधारित नहीं होतीं। सभी व्यक्ति निस्संकोच यह स्वीकार करते हैं कि भगवान् बुद्ध की जो भी शिक्षा-दीक्षा है, वह व्यावहारिक और सत्यता को लिए हुए है।

उन बातों पर लोगोंमें मतभेद है जो भगवान् बुद्ध ने नहीं कही है। वाद-विवाद के अन्त में जब मानव जीवन की रहस्यमय बातों का उद्घाटन हो जाता है तो वे ही व्यक्ति जो वास्तविकता से दूर नहीं जा सकते हैं उनकी बातों को स्वीकार करते हैं। जीवन की वास्तविकता का उद्घाटन ही बुद्धत्व है।

आइये हम बौद्ध धर्म के अपर पक्ष पर भी विचार करें जो पाश्चात्य विचारकोंके मस्तिष्क में खटकता है। बौद्ध धर्म वैयक्तिक ईश्वरवाद में विश्वास नहीं करता है। भगवान् बुद्ध इसको नहीं मानते थे कि मानव और पृथ्वी की सृष्टि ब्रह्मा की विशेष कृपा के परिणामस्वरूप है। वे उसके लिए कोई कारण नहीं देखते थे। वे कार्य-कारण के सिद्धान्त को मानने वाले थे। यदि उनसे को[ई] यह प्रश्न करता था कि सृष्टि का आरम्भ कैसे हुआ[?] तत्काल ही उनका प्रश्न होता था तो अच्छा य[ह] बताइए कि ईश्वर की सृष्टि कैसे हुई? भगवान् बुद्ध[के] अनुसार जगत् का कोई भी पदार्थ और प्राणी क्षण-भं[गु]रता और नश्वरता के नियम से पृथक् नहीं है। प्रश[स्त] भूमण्डल काल के गर्त्त में उसी प्रकार समा जायेगा जि[स] प्रकार सूर्य-रश्मि में नृत्य करने वाली एक सुन्दर तित[ली] तिरोहित हो जाती है। विश्व में जिसकी सृष्टि हुई है व[ह] नश्वरता की ओर उसी प्रकार अग्रसर है जिस प्रक[ार] नदियों में बुलबुले बनते हैं, चमकते हैं और सदा के लि[ए] विलीन हो जाते हैं।

भगवान् बुद्ध ऐसे व्यक्ति नहीं थे जिन पर इन स[ब] बातों का प्रभाव न पड़ता। वे शैली की भाँति मान[व] जीवन की वास्तविकता से परे काव्य जगत् में विचर[ण] करने वाले नहीं थे। उनके लिए मानव-जीवन का मह[त्त्व] था। मानव-जीवन की महत्ता सत्य की खोज में है[।] उनका कथन है कि मनुष्य को अपने विचार की कसौ[टी] पर कस कर ही किसी बात पर विश्वास करना चाहिए[।]

आर्य अष्टांगिक मार्ग का आरम्भ सम्यक् दृष्टि[से] होता है। यह वह वस्तु है जिसके आधार पर वास्तवि[क] जगत् की विभिन्न बातों को समझा जाता है, जिससे [स]पूर्ण सुख प्राप्त हो सके। तत्पश्चात् अनेक तृष्णाओं [से] मुक्ति पाने की बात है। इसकी प्राप्ति वाणी और चरि[त्र] पर नियन्त्रण करने से होती है।

अर्हत् सम्पूर्ण बन्धनों से मुक्त होता है, यही कारण है कि वह आध्यात्मिक जगत् की प्रसन्नता का उपभो[ग] करता है। उसकी अन्तरदृष्टि पूर्णता को प्राप्त कर [ले]ती

है। ऐसे पथ का आरम्भ नैतिकता के स्तर से होता है। इसका लक्ष्य अन्तरदृष्टि और प्रकाश है। किन्तु यह मार्ग व्यक्तिगत पूर्णता तक ही सीमित नहीं रहता है। इसके मार्ग में अहमूवाद बाधक होता है जिसे त्यागना पड़ता है। ऐसे मार्ग पर चलने वाला व्यक्ति स्वार्थपरता से परे निःस्वार्थ सेवा, दत्त-चित्त हो करता है। बौद्धों के आदर्श बोधिसत्व हुआ करते हैं, जिन्होंने अपने जीवन को अनेक बार दूसरे प्राणियों की सेवा में अर्पण कर दिया है।

चाहे जो कुछ भी कहा जाय किन्तु यह तो स्वीकार करना ही पड़ेगा कि भगवान् बुद्ध के अनुयायियों ने तथागत से मानव को महान बनाने तथा जगत् की वास्तविकता को समझने की क्षमता प्राप्त कर ली है।

अनु०—गुरुदेव

समता का प्रतीक बुद्धधर्म

श्री गुरुदेव वर्मा एम० ए०

विश्व के समस्त प्राचीनतम धर्मों के संस्थापकों में से चार के नाम-प्रमुख रूप से हमारे सामने आते हैं—भगवान् बुद्ध, महात्मा ईसा, हजरत मुहम्मद तथा योगिराज कृष्ण। बुद्ध तथा अन्य तीन व्यक्तियों के व्यक्तित्व एवं उनके द्वारा सम्पादित धर्मों की शिक्षाओं पर ध्यान देने से यह स्पष्ट हो जायगा कि किसमें कौन महत्त्व की बात थी।

भगवान् बुद्ध की सबसे बड़ी बात यह थी कि उन्होंने अपने व्यक्तित्व को कोई भी प्रधानता नहीं दी है। ईसा मसीह ने बाइबिल में सर्वत्र यह भावना व्यक्त की है। मैं "ईश्वर का पुत्र हूँ, जो ईश्वर के निकट पहुँचना चाहते हैं, वे तब तक अपनी चेष्टा में सफल नहीं होंगे जब तक उनके हृदय में मेरे प्रति उक्त धारणा नहीं रहेगी।" हजरत मुहम्मद ने भी कहा है—"मैं संसार में ईश्वर का अन्तिम दूत बन कर अवतीर्ण हुआ हूँ"। श्री कृष्ण ने तो अपने को परमेश्वर ही कहा है। किन्तु आपको कोई भी ऐसा प्रसंग नहीं मिलेगा जहाँ पर भगवान् बुद्ध ने यह कहा हो कि मैं अमुक हूँ। उनके मुखसे कभी यह नहीं निकला—'सर्व धर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।' वे एक सर्वसाधारण व्यक्ति की भाँति जन्मे और अपना सन्देश दिया। उन्होंने कोई भी चमत्कारी बात न तो की और न तो उसके द्वारा अपनी प्रतिष्ठा ही स्थापित करने की चेष्टा की। जहाँ एक ओर ईसा मुहम्मद और कृष्ण ने अपने को मोक्ष दिलानेवाला बताया वहाँ बुद्ध ने केवल अपने को मार्ग दिखानेवाला ही कहा। भगवान् बुद्ध ने महापरिनिर्वाण सूत्र में स्पष्ट शब्दों में कहा है—"मेरी बातें केवल इसलिए न मान ली जायँ कि 'मैं' कहता हूँ।"

उनका विचार था कि मेरा धर्म प्राचीन परम्पराओं के आधार पर न हो कर ऐसा हो कि सभी को सभी समय ग्राह्य हो। उन्होंने अपने अनुयायियों को इस बात की पूर्ण स्वतंत्रता दे रखी थी कि आवश्यकता के अनुसार वे उनमें परिवर्तन कर सकते हैं। इस प्रकार का साहस सम्भवतः ही कोई धर्म-संस्थापक कर सकता है। उन्हें यह भय बना रहता है कि यदि परिवर्तन का अधिकार दिया गया तो उसका मूल जीर्ण हो जायगा। किन्तु भगवान् बुद्ध को यह आशंका न थी। बुद्ध-धर्म की यह अपनी विशेषता है। हमारा धर्म नैतिकता की सुदृढ़ नींव पर खड़ा है।

इसमें सन्देह नहीं कि बौद्ध-धर्म में ईश्वर का स्थान नहीं माना गया है। ईश्वर के स्थान पर नैतिकता ही सब कुछ है। भगवान् बुद्ध ने 'धम्म' की जो व्याख्या की है वह 'धर्म' की परिभाषा से बिल्कुल ही भिन्न है।

'धर्म' का अर्थ जैसा समझा जाता रहा है कि कुछ कर्मों का पालन करना-यज्ञ, सन्ध्या आदि। किन्तु 'धम्म' का सम्बन्ध इस प्रकार के कर्मों से नहीं है। यहाँ 'कर्म' के स्थान पर नैतिकता का पालन ही 'धम्म' माना गया है।

इसके अतिरिक्त भगवान् बुद्ध, समता में विश्वास करते थे। वे चातुर्वर्ण्यव्यवस्था के कट्टर विरोधी थे। क्योंकि उसकी आधार पर असमानता और विद्वेष भावना

जागरित होती है। उन्होंने सर्वप्रथम 'निर्वाण' का द्वार सबके लिए उन्मुक्त कर दिया। इसके लिए उन्होंने जाति-पाँति के अतिरिक्त स्त्री-पुरुष का भी प्रतिबन्ध हटा दिया।

बुद्ध ने अहिंसा का मार्ग भी प्रदर्शित किया। यह वह मार्ग है जिस पर चलकर विश्व को शान्ति मिलेगी। संहार की भावना से कदापि सुख और शान्ति का मिलना सम्भव नहीं होगा। अहिंसा वह महान् अस्त्र है जो एटम, हाइड्रोजन बम से कहीं अधिक प्रभावशाली है। वर्तमान युग में इसका सबसे सुन्दर प्रयोग महात्मा गांधी ने करके दिखा दिया है। विश्व का कल्याण बिना इसको अपनाये नहीं हो सकता है—यह एक प्रत्यक्ष सत्य बात है। उन्होंने अहिंसा के साथ ही साथ सामाजिक, बौद्धिक, आर्थिक तथा राजनीतिक स्वतन्त्र[ता] की भी शिक्षा दी है। किसी भी धर्मगुरु से तथागत [की] तुलना करना सरल नहीं है। किसी की शिक्षा सामाजि[क] जीवन के विभिन्न अंगों पर इतना प्रकाश डालनेवा[ली] नहीं मिलेगी। यद्यपि शिक्षाएँ अतीत की हैं किन्तु आधुनिक जगत् के अनुकूल और इस लोक में ही निर्वा[ण] दिलानेवाली हैं। आज इस बात की परम आवश्यकता [है] कि बुद्ध जयन्ती के इस पुनीत पर्व पर हम भगवान् [बुद्ध] के उपदेशों को भारत के कोने-कोने में फैलाने का [एक] बार पुनः निश्चय कर लें। आज भारत को एक स[शक्त] राष्ट्र बनाने के लिए इस बात की पूर्ण आवश्यकता है [कि] एक ऐसा धर्म फैले जो सभी को एकता के सूत्र में आ[बद्ध] कर दे। नमो बुद्धाय।

कुशीनगर का परिनिर्वाण मन्दिर और स्वर्ण-स्तूप
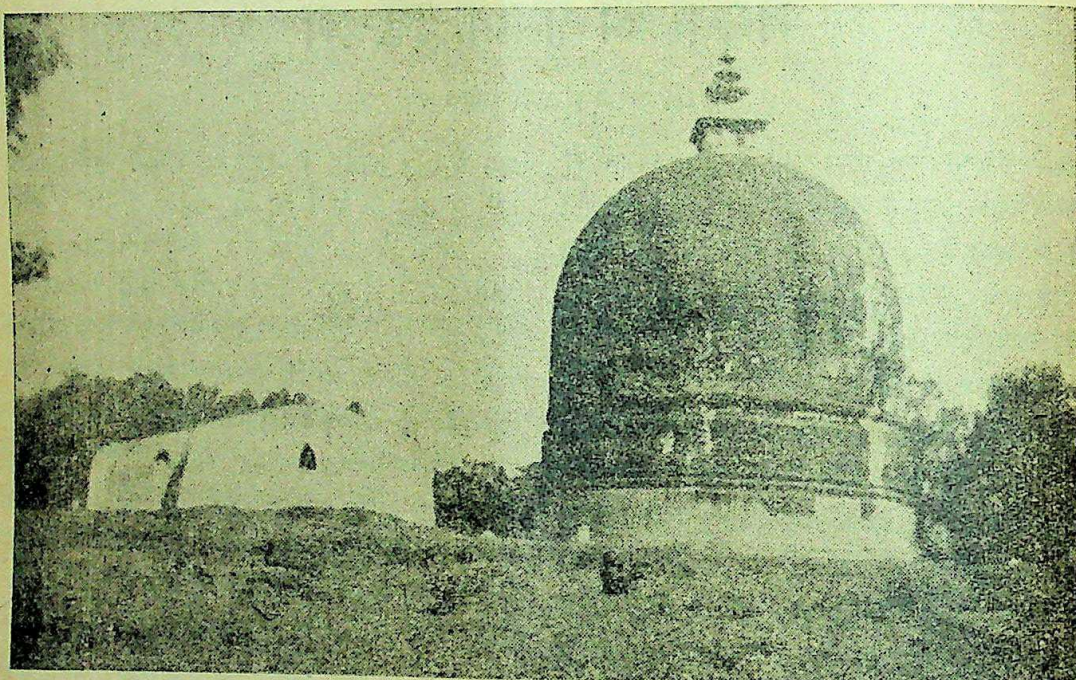
इस मन्दिर में ई० सन् ४१३ की बनी पत्थर की २० फुट लम्बी एक भव्य बुद्धमूर्ति परिनिर्वाण-मुद्रा में है। स्तूप ७५ फुट ऊँचा है, जो सन् १९३४ में सुवर्णान्वित कराया गया था। स्वर्ण-आलिम्पन में ११९००) व्यय हुये थे।

कुशीनगर का परिनिर्वाण-स्तूप

श्री गजाधर मिश्र 'मयंक'

हे सुवर्ण स्तूप ! तू कब से खड़ा है सर उठाये ?
कौन सा है गर्व जिस पर तू नहीं फूला समाये ?
ईंट पत्थर में छिपी है कौन सी सुन्दर कहानी ?
जान ले कोई जरा इन पत्थरों के ही जबानी।
कौन रत्न अमोल तेरे अंक में विश्राम करता ?
आह ! पत्थर के हृदय में कौन है आराम करता ?
प्रात ही रवि-रश्मियाँ आ हार सोने का पिन्हातीं।
चन्द की नव चन्द्रिकायें श्वेत चादर से सजातीं।
मौन तारक श्रेणियाँ तेरे विभव को तोलती हैं।
वायु आँसू पोंछती तेरे निकट ही डोलती है।
पत्थरों के ढेर ! तेरी भाग्यशाली चारु काया।
भक्त मानव ने तुम्हें भर शक्ति सोने से सजाया।
हाँ, तुम्हारे अंक में वह हड्डियाँ बिखरी पड़ी हैं।
राख की वह ढेरियाँ भूगर्भ में बिखरी पड़ी हैं।
उस तथागत बुद्ध की तुझमें छिपी है याद प्यारी।
जो जगत उद्धार ही को बन गये पल में भिखारी।
सम्पदा संसार की मन्मथ-प्रिया-सी प्रेम रानी।
साथ ही ठुकरा दिये थे पुत्र माया भी न जानी।
प्राणियों का दुःख से उद्धार करने के लिए।
रोग चिन्ता औ' मरण का शोक हरने के लिए।
फूल से सुकुमार तन बरसों तपस्या में तपाये।
क्लेश लाखों झेल कर द्रुमबोधि नीचे ज्ञान पाये।
सत्य करुणा औ' अहिंसा का दिये उपदेश न्यारा।
ले लिये निर्वाण पावन भूमि है यह कुशीनारा।
आज उस भगवान् की स्मृति अंक में अपने छिपाये।
हँस रहे या रो रहे कुछ दो हमें भी तो बताये।
आह रे मानवजगत ! तू क्या किसी की याद जाने ?
देख पत्थर का हृदय बैठा हुआ है छत्र ताने।
आज उन चिनगारियों को चीरकर उर पार कर दे।
ज्ञान की नवरश्मियों से फिर सकल संसार भर दे।
क्यों खड़े हो मौन जग-याचक बिलखता आज द्वारे।
कुछ सिहर कर बोल दो ना, हे सुवर्ण-स्तूप प्यारे।

भारत में बौद्ध-धर्म

श्री पी. एन. राजभोज, एम० पी०, नई दिल्ली

वास्तव में यह महान खेद का विषय है कि जहाँ पर भगवान् बुद्ध अवतीर्ण हुए थे उसी भारत भूमि में बौद्ध-धर्म एक जीवित धर्म के रूप में दिखाई न पड़े। उसकी स्थापना के समय से ही बौद्ध धर्म का आधार शान्ति—परम शान्ति रहा है। मानव-मानव में संघर्ष, जाति जाति में संघर्ष आदि वर्तमान युग की विशेषता है। यह रंगभेद, राष्ट्रभेद तक के स्तर पर पहुँच गया है। मानव जीवन की बहुमुखी उन्नति के लिए यह आवश्यक है कि शान्ति बनी रहे। आज वह शान्ति कहाँ है जिसके आधार पर एक साधारण व्यक्ति अपना दैनिक कार्य-क्रम चला सकता है। क्या हमने इस प्रकार की परिस्थिति में रहने का निश्चय ही कर लिया है? क्या इस संकट और अशांति पूर्ण वातावरण से छुटकारा पाने का कोई उपाय नहीं है? क्या मानव समाज ने सदैव के लिये हृदयहीन और अन्धकारपूर्ण जीवन व्यतीत करने का निश्चय कर लिया है? आज यह परिस्थिति केवल एक सामान्य मनुष्य की नहीं है अपितु उन व्यक्तियों की है जो समाज और जगत् के नेता कहे जाते हैं। सर्वत्र निराशा का साम्राज्य है किन्तु आज की ऐसी विषम परिस्थिति से निकलने का मार्ग भी है। आज हमारे समक्ष ज्योति का वह स्फुलिंग है जो अब तक बुझाया नहीं जा सकता है। जो बर्बरता के विरोधी और शान्ति के उपासक थे, उनके लिए वह मार्ग प्रकाशित करता रहा है। भगवान् बुद्ध की शिक्षा ही वह अमर ज्योति है। इस सुन्दर विचार-धारा का स्रोत शान्ति है। वर्तमान जगत् में वही हमें सान्त्वना प्रदान करता है। शान्ति प्राप्त करने के पूर्व यह आवश्यक है कि जो हमारी विचारधारा से सहमत नहीं होता है, उसके मन की भावना को हम समझें। यदि सुचारु रूप से समझदारी की भावना विकसित होती है तो हमारे व्यक्तिगत सामाजिक एवं लौकिक क्षेत्र में अविश्वास तथा सन्देह का वातावरण उत्पन्न ही नहीं होगा। परिणाम यह होगा कि पारस्परिक विश्वास का एक ऐसा वायुमण्डल तैयार हो जायगा कि जिसके आधार पर विश्व में आश्चर्यजनक प्रगति हो सकेगी।

मुझे बौद्ध धर्म की सबसे बड़ी विशेषता शान्ति ही आकर्षित करती है। शान्ति के आधार पर ही समता की भावना का विकास होता है, मानव ऊपर उठता है। आज इसका महान अभाव है। यही कारण है कि डा० अम्बेडकर इस धर्म से अधिक प्रभावित हैं। उनका मत है कि समाज में दलित और विशेषकर परिगणित जातियों के लिए यही एक मात्र धर्म है जो सुख, शान्ति और ऐश्वर्य प्रदान करता है। डा० अम्बेडकर स्वयं इसके प्रसार और प्रचार में पर्याप्त योग दे रहे हैं, जिसका उल्लेख भावी इतिहासकारों को करना पड़ेगा। उन्होंने बौद्ध धर्म के उत्थान और पतन का गम्भीर अध्ययन किया है और वे इस निष्कर्ष पर पहुँच चुके हैं कि इस धर्म का जन्म ब्राह्मण-काल (पौराणिक काल) में हुआ है।

हिन्दू धर्म ही इस देश का धर्म नहीं था। हिन्दू धर्म भारत में सामाजिक विचारों का एक नवीनतम विकास था। उनके अनुसार भारत में तीन बार धर्म की धारा बदली है। प्रथम वैदिक धर्म चला, जिसका रूप ब्राह्मणवाद ने ले लिया और हिन्दू धर्म के रूप में बदल गया। ब्राह्मणकाल में ही बौद्ध धर्म का प्रादुर्भाव हुआ क्योंकि असमानता, शक्ति-लोलुपता और समाज को विभिन्न वर्गों में विभाजित करने की विरोधिता से खड़ा हुआ था। यह प्रयास भारत में प्रथम बार किया गया था। बौद्ध धर्म का प्रादुर्भाव फ्रांस की राज-क्रान्ति के समान ही आवश्यक था। डा० अम्बेडकर के अनुसार शैव और वैष्णव सम्प्रदाय के प्रादुर्भाव के कारण ही बौद्ध धर्म का पतन हुआ। उतना ही भारत पर मुसलमानों के आक्रमण ने भी इस धर्म को नीचे गिरा दिया। जिस समय अलाउद्दीन ने बिहार पर आक्रमण किया, तो उसने हजारों

भिक्षुओं को तलवार के घाट उतार दिया। जो कुछ भिक्षु बच भी गए थे, वे अपने प्राणों की रक्षा के लिए निकटवर्ती देश तिब्बत, नेपाल और चीन जा छिपे। भारत में कुछ लोग बच गए थे उन्होंने पुनरुत्थान के लिए प्रयत्न किये, यह प्रयास सफल न हो सका क्योंकि नब्बे प्रतिशत से अधिक व्यक्तियों ने हिन्दू धर्म को स्वीकार कर लिया था।

हमारे देश के दलित वर्ग को भगवान् बुद्ध की शिक्षा पसन्द आती है कि सभी मानव एक हैं। अतीत में बौद्ध धर्म ने ब्राह्मण सम्प्रदाय (पौराणिक धर्म) को पराजित कर दिया था जिसका कारण यही था कि वह समान-भावना का प्रचारक था। ब्राह्मण धर्म असमानता उत्पन्न करके ही आगे बढ़ सकता है। शैव और वैष्णव सम्प्रदाय ब्राह्मण धर्म के ही अंग हैं और वह इस देश को अपने अधीन रखते हैं। जबतक देश में शासक और शासित वर्ग का भेद रहेगा तबतक ब्राह्मण धर्म कायम रहेगा। आज ब्राह्मण धर्म के प्रवर्तन के कारण ही सर्वत्र विरोध प्रदर्शित हो रहा है। इसमें कोई सन्देह नहीं कि ब्राह्मणों ने अब्राह्मणों के साथ बहुत बुरा बर्ताव किया है और आज भी वह बना है। बौद्ध धर्म एक मात्र धर्म है जिसके द्वारा उस बन्धन से मुक्ति हो सकती है। देश के कोने-कोने में यह धर्म तेजी से फैल रहा है। वास्तव में बौद्ध धर्म मुक्ति का एक महान एवं प्रशस्त मार्ग है। यहाँ न तो कोई पोप है और न तो कोई पुजारी है। बौद्ध धर्म के प्रचार के साथ हमें यह न भूलना चाहिए कि वहाँ बौद्ध धर्म है जहाँ एक बौद्ध भी रहता है। बौद्ध वह है जो बुद्ध के बताए हुए कामों को करता है। वास्तव में बौद्ध वह है जो बुद्ध भगवान् के बताए हुए मार्ग पर चलता है और वास्तविकता को लिए हुए जगत् का कल्याण करता है। अनु० गुरुदेव।

धम्मपद

श्री अनन्त रामचन्द्र कुलकर्णी, नागपुर

'धम्मपद' एक छोटा-सा धर्मग्रन्थ है, किन्तु है यह त्रिपिटक का सार–ऐसा कहना अनुचित न होगा। धम्मपद का अर्थ है धर्म का मार्ग। बौद्ध शासन तीन पिटारों में भरा हुआ है, जिनको त्रिपिटक कहते हैं। सुत्त-पिटक, विनय-पिटक और अभिधम्मपिटक। सुत्त पिटक में भगवान् बुद्ध के उपदेश दिये हैं। विनय पिटक में भिक्षु संघ के नियम दिये हैं और अभिधम्म पिटक में बौद्ध शासन का तत्वज्ञान दिया है। खुद्दक निकाय सुत्त पिटक का एक भाग है और धम्मपद उसमें एक छोटा सा ग्रन्थ है। यद्यपि आकार में यह एक छोटा सा ग्रन्थ है, किन्तु यह अनमोल है, क्योंकि बौद्ध शासन में किसी वस्तु की क़ीमत उसके आकार पर नहीं, उसके महत्व पर निर्भर होती है। इस दृष्टि से धम्मपद का पालि साहित्य में एक महत्वपूर्ण स्थान है। सुप्रसिद्ध पाश्चात्य पंडित अलबर्ट जे. एडमन्ड्स धम्मपद के सम्बन्ध में कहते हैं—"यदि एशिया खण्ड में कोई अमर ग्रन्थ लिखा गया, तो वह धम्मपद है।" डाक्टर मॉरीस ब्लूम फील्ड कहते हैं—"समस्त हिन्दू साहित्य में धम्मपद ही एक अत्यन्त सुन्दर तथा प्रज्ञायुक्त शब्दों से भरा हुआ ग्रन्थ है।"

फिर प्रश्न यह उपस्थित होता है कि आज समस्त सभ्य विश्व धम्मपद की इतनी स्तुति क्यों करता है? इसका कारण यह है कि धम्मपद में परम्परा, शुष्क तर्क या मिथ्या आडम्बर को बिलकुल स्थान नहीं है। जिन गुणों से मनुष्य प्रयत्नशील तथा सदाचारी बनता है, इन गुणों पर ही धम्मपद में जोर दिया गया है।

यदि हम अपने जीवन में नैतिकता और सदाचार पर ही जोर देते हैं तो अवश्य ही हम नैतिकता तथा सदाचार की संसार में प्रतिष्ठा बढ़ाते हैं और प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से संसार को सदाचारी बनने की प्रेरणा देते हैं। सदाचार पर जोर देना ही हमारा परम पवित्र कर्तव्य है क्योंकि सदाचार ही मनुष्य मात्र में मैत्रीभाव निर्माण कर सकता है। इधर-उधर जब हिंसक लोग हिंसा तथा मत्सर का नारा लगाते हैं तब विवेकवान् पुरुष का कर्तव्य होता है कि वह अहिंसा तथा प्रेम का नगारा बजाये, जिसके

जयघोष में हिंसक लोगों की तूती की आवाज सुनाई न दे। और, इसी कारण धम्मपद को आज संसार में इतना ऊँचा स्थान मिला है।

अब हम धम्मपद के कुछ श्लोकों का विचार करेंगे। भगवान् बुद्ध कहते हैं:—

न पुप्फगन्धो पटिवातमेति
न चन्दनं तगर मल्लिका वा।
सतञ्च गन्धो पटिवातमेति
सब्बा दिसा सप्पुरिसो
पवाति॥

धम्मपद ५४

चन्दनं तगरं वापि
उप्पलं अथ वस्सिकी।
एतेसं गन्ध जातानं
सील गन्धो अनुत्तरो॥

धम्मपद ५५

अर्थः—पुष्पों की सुगन्ध चाहे वह चन्दन, तगर या चमेली की ही क्यों न हो हवा की उलटी दिशामें नहीं जाती। किन्तु सत्पुरुषों की सुगन्ध हवा के प्रतिकूल रहने पर भी सभी दिशाओं में फैलती है। चन्दन या तगर, कमल या जूही इन सभी सुगन्धों से सदाचार की सुगन्ध उत्तम है।

इन उपमाओं से पता लगेगा कि धम्मपद एक सर्वश्रेष्ठ तथा प्रभावशाली काव्य भी है। धम्मपद का एक-एक श्लोक रत्न से भी अधिक मूल्यवान् है। धम्मपद का यथार्थ परिचय पाठकों को स्वयं धम्मपद पढ़ने से ही हो सकता है—

सारनाथ के सुप्रसिद्ध अशोक-स्तम्भ का शीर्ष-भाग

जैसे धम्मपद त्रिपिटक तथा बौद्ध शासन का सार है वैसे ही धम्मपद के पहले दो श्लोक धम्मपद के सार हैं। वे दो श्लोक ये हैं:—

मनोपुब्बङ्गमा धम्मा
मनो सेट्ठा मनोमया
मनसा चे पदुट्ठेन
भासति वा करोति वा
ततो नं दुक्खमन्वेति
चक्कं' व वहतो पदं।

धम्मपद १

मनो पुब्बङ्गमा धम्मा
मनो सेट्ठा मनोमया
मनसा चे पसन्नेन
भासति वा करोति वा
ततो नं सुखमन्वेति
छायाव अनपायिनी।

धम्मपद २

अर्थः—मनुष्य की सारी प्रवृत्तियों का उद्गम स्थान मन ही है। मनुष्य यदि दुष्टचित्त से बोलता या करता है तो चलती गाड़ी के बैल के पीछे आनेवाले चक्केकी तरह दुःख उस मनुष्य का पीछा करता है।

मनुष्य की सारी प्रवृत्तियों का उद्गम स्थान मन ही है। मनुष्य यदि शुद्ध चित्त से बोलता या करता है तो छाया की तरह सुख उसके साथ रहता है।

इन श्लोकों से पता लगेगा कि चित्त को शुद्ध करने का मार्ग धम्मपद में बताया गया है और इसी कारण धम्मपद को संसार के धर्मग्रन्थों में बहुत श्रेष्ठ स्थान मिला है। भगवान् बुद्ध चित्तशुद्धि पर ही जोर देते हैं।

मनुष्य अपना उद्धार अपने बल पर निर्भर रह कर ही कर सकता है—यही धम्मपद तथा बौद्ध शासन का सार है। इसी कारण सुप्रसिद्ध जर्मन तत्ववेत्ता शापेन हावर भगवान् बुद्ध के धर्म को संसार का सर्वोत्तम धर्म कहते हैं।

मृत्यु के भय पर विजय

प्रो० लालजीराम शुक्ल

मृत्यु का विचार होना ही दर्शन का प्रारम्भ है। जो व्यक्ति मृत्यु के विषय में सोचता है, वही अमरत्व को प्राप्त करता है। मृत्यु का विचार मन में आना ही बड़ा दुःख का विषय हो जाता है। मृत्यु के भय को व्यक्ति जब भूल जाना चाहता है, तभी मृत्यु का भय और प्रबल हो जाता है। यह सोचने से कि मृत्यु का त्यागना असम्भव है, मृत्यु का भय नहीं जा सकता। परन्तु जब यह सोचा जाय कि मृत्यु हमारा कुछ नहीं कर सकती, तब भय समाप्त हो जाता है।

जब तक जीवन की क्रियायें सन्तुलित रूप से चलती रहती हैं, मृत्यु का भय उदय नहीं होता। लेकिन जब जीवन का मानसिक सन्तुलन बिगड़ जाता है और उसकी गति अवरुद्ध हो जाती है, तब मृत्यु का भय उदित होता है। तृष्णा और भय दो विरोधी चीजें हैं। जो धन को चाहता है, उसे धन के खो जाने का भी डर लगा रहता है, जो अपने नाम की प्रसिद्धि की इच्छा रखता है, वह उसे नष्ट होने से डरता भी रहता है। जो स्त्री-बच्चे में आसक्त रहता है उसे उनके समाप्त हो जाने की भी चिन्ता सताया करती है। ठीक इसी प्रकार जिसे अपने जीवन से अति ममता है, उसे अपने जीवन की समाप्ति के विचार सदा मस्तिष्क में टकराते रहते हैं। नौजवान और बहादुर लोग मृत्यु से उतना नहीं डरते, जितना बुड्ढे लोग डरा करते हैं। सुस्त और दुर्बल स्वस्थ और रचनात्मक कार्य करने वाले की अपेक्षा अधिक मृत्यु से डरते हैं। भोगवादी लोग निर्लिप्त लोगों की अपेक्षा मृत्यु से अधिक भयभीत रहते हैं। अर्थात् जो लोग शरीर को ही सब कुछ मानते हैं वे मृत्यु से अधिक डरा करते हैं परन्तु जो शरीर को आत्मा का एक साधन-मात्र मानते हैं, वे मृत्यु से नहीं डरते। बीमार और दुर्बल व्यक्ति मृत्यु से अधिक भयभीत रहते हैं। यह निश्चय है कि जो व्यक्ति समाज के लिए केवल भार स्वरूप हैं और जिनके न रहने से ही समाज का लाभ होगा वे मृत्यु से डरते हैं। जिस व्यक्ति ने अपना सारा जीवन समाज के लिए दे दिया, जिनको समाज से अधिक पुरस्कार मिला है, वे मृत्यु से नहीं डरते। जो व्यक्ति जितना ही अधिक दूसरों के लिए अपने को निछावर करता है, वह मृत्यु से उतना ही कम डरता है। प्रेम को अनन्त सीमा तक बढ़ाना ही मृत्यु के भय पर विजय पाने का सर्वश्रेष्ठ उपाय है।

मृत्यु का भय उन्हीं को हो सकता है जिनकी आत्मा अपवित्र है। कुछ लोगों को अपने में कुछ रोग हो जाने का सन्देह उत्पन्न हो जाता है। डाक्टरों के कहने पर भी कि उनके शरीर में कोई रोग नहीं है, उन्हें विश्वास नहीं होता, उनके सन्देह का निवारण नहीं होता। कभी-कभी तो रोगी इन सन्देहों का कोई कारण न देखने पर भी उनसे मुक्त नहीं हो पाता। लेखक के एक शिष्य को एक बार यह सन्देह हो गया कि उसे दमा हो गया है। इस रोग के बड़े बड़े विशेषज्ञों ने भी यह बताया कि इसे यह रोग नहीं हुआ है, फिर भी उसका सन्देह नहीं जाता था। वह सर्वथा अपना हाथ अपनी छाती पर रखे रहता था। इस दुश्चिन्तन से यह ज्ञात होता है कि उसके मस्तिष्क में कुछ जटिल मानसिक ग्रन्थियाँ उपस्थित हैं। ये ग्रंथियाँ घृणा के द्वारा उत्पन्न होती हैं। अपने को क्षनैतिकता के कारण घृणा करते-करते उसकी अन्तर्मन में

ग्रन्थि बन जाती है। कभी-कभी यही आत्म-घृणा दूसरों पर आरोपित हो जाती है। तत्पश्चात् रोगी यह विचारने लगता है कि उसकी बरबादी का कारण कोई दूसरा ही है। वह अपने व्यक्तित्व के नष्ट होने का कारण किसी प्रकार के अपराध अथवा अपने दुर्भाग्य को मानने लगता है। उसकी घृणा का स्वभाव किसी कठिन भय के साथ

परिवर्तित हो जाती है और वह अपने प्राचीन विचारों की मूर्खता समझता है तब उसकी ग्रंथियाँ समाप्त हो जाती हैं। जो अपने आन्तरिक मन में छिपी हुई बातों को जितनी निष्कपटता से अपने मित्रों के सामने प्रकट करता है उसकी ग्रन्थियाँ उतनी ही दूर तक समाप्त होती हैं जिसके मन में जितनी ही छिपी भावनाओं का अभाव

महाबोधि सभा के संस्थापक स्वर्गीय अनागारिक धर्मपाल जी का जापानी बौद्धों द्वारा स्वागत करने के समय का लिया चित्र

जुड़ा रहता है। इसलिए जब तक घृणा का भाव रहता है, तब तक भय के विचार भी रहते हैं।

इस प्रकार की दुर्भावनाओं को हटाने के केवल दो मार्ग हैं—प्रथम पवित्रता और दूसरा प्रेम। यह एक अस्वस्थ प्रकृति का प्रभाव है जो किसी के मस्तिष्क में ग्रन्थि का निर्माण कर देती है। जब व्यक्ति की प्रकृति

रहता है उसके मानसिक अन्तर्द्वन्द्व उतने ही कम होते हैं। किसी श्रद्धेय और विशाल हृदय के सामने आत्म स्वीकृति कर लेने से प्रेम और प्रशंसासे हृदयके भावों का विकास होने से व्यक्तित्व का सन्तुलन प्राप्त होता है और मानसिक और शारीरिक स्वास्थ्य स्वयं मिल जाते हैं।

ग्रन्थियों की अधिकता के कारण व्यक्ति अपने की

विचारों के
हो जाते
को जितने
करता है
होती है
का अभाव

स होते हैं
म स्वीकृति
का विकास
र मानसिक
अपने को

पूर्णरूपेण दुखी समझता है। वह अपने रोग के विषय में तथा उन रोगों से बचने की बात सर्वदा सोचा करता है। अस्वस्थ मस्तिष्क के साथ ही मानसिक ग्रन्थियाँ संगठित रहती हैं। उन्हें वह समाजसेवा में बाधक समझकर सर्वदा त्यागने की चिन्ता करता है। जिस व्यक्ति में किसी प्रकार की ग्रन्थि की उत्पत्ति होती है वह अत्यन्त स्वार्थी होता है। ये ग्रन्थियाँ उन स्वार्थभावों के निवारण हेतु आती हैं। मनुष्य जब अपनी प्रकृतिको परिवर्तित करके उदार बन जाता है तो ग्रन्थियाँ भी विलीन होती जाती हैं। प्रेमपूर्वक रोगी के हृदय तक पहुँचने के अतिरिक्त अन्य कोई मार्ग उसके रोग के निवारण हेतु उपयुक्त नहीं हैं। प्रेम ही उसको स्वस्थ बनाने की महान् औषधि है। मृत्यु के भय पर विजय पाने का सर्वोत्कृष्ट मार्ग व्यक्तिगत लाभ के लिए जीवित रहने की आशा का त्याग और सामाजिक कल्याण भावना का मन में लाना है। जो व्यक्ति दूसरों की भलाई ही में जीवन की सार्थकता समझते हैं उन्हें मृत्यु का भय कभी नहीं सताता। पवित्र आत्मावाले देशभक्त कभी भी मृत्यु के भय से आक्रान्त नहीं होते। भगवान् बुद्ध, क्राइस्ट, मुहम्मद कभी भी इन विपत्तियों में नहीं पड़े। कारण यह है कि उन्हें कभी भी अपने शरीर के विषय में सोचना नहीं पड़ा, वे लोग अपने शरीर को अलौकिक सुख का साधन न समझ कर दूसरेकी सेवा करनेका साधनमात्र समझते थे।

जीवन में भौतिक सुखों के आनन्द का अनुसरण ही मृत्यु के भय को उत्पन्न कर देता है। यही सुख इच्छाशक्ति को दुर्बल बना देते हैं। ऐसे व्यक्ति अपने बुरे विचारों के त्यागने में असमर्थ हो जाते हैं। प्रबल इच्छा-शक्तिवाले व्यक्ति ही अन्दर आते हुए बुरे विचारों से आत्मरक्षा कर सकते हैं। मन को दृढ़ बनानेके लिए मनो-वांछित कार्य को संलग्नता के साथ करना चाहिए। ऐसा करने से व्यक्ति का रोग भी समाप्त हो जाता है। जो व्यक्ति मृत्यु की निश्चितता समझ कर उससे लड़ने के लिए सर्वदा तैयार रहता है वह सर्वदा रोगमुक्त रहता है। ऐसा व्यक्ति कभी भी व्यर्थ के विचारों में नहीं पड़ता। जो काल के गाल में जाने को सदा तैयार रहता है उसे मृत्यु का भय नहीं सताता।

मृत्यु से भयहीन व्यक्ति का जीवन ही सच्चा जीवन है। रोगों से आक्रान्त व्यक्ति कभी सुखपूर्वक नहीं रह सकता। सच्चा और बहादुर व्यक्ति सर्वदा भयहीन रहता है। बहादुर व्यक्ति कभी अपने लिए नहीं बल्कि दूसरों के लिए जीता है। कभी कभी यह प्रश्न उठता है कि क्या अविवाहित व्यक्ति मृत्यु से अधिक डरता है या विवाहित व्यक्ति। मनोविज्ञान की दृष्टि से अविवाहित व्यक्ति की अपेक्षा विवाहित अधिक डरता है। लेकिन बाह्य दृष्टि से ऐसा ज्ञात होता है कि विवाहित व्यक्ति अधिक भयभीत होता है, जब कि वह कभी भी मानसिक असन्तोष नहीं रखता। अविवाहित व्यक्ति की सारी शक्ति उसी के व्यक्तित्व में निहित रहती है जब कि विवाहित व्यक्ति की शक्ति उसके कुटुम्ब में बिखरी रहती है। व्यक्ति जो सदा स्वार्थ में पड़ा रहता है, दूसरों की चिन्ता नहीं करता। वह कभी भी उतना वीर नहीं हो सकता जो सर्वदा दूसरों की भलाई में अपने जीवन को व्यतीत कर देता है। फिर भी विवाहित व्यक्ति अपने को आत्म-समर्पण करने के लिए उत्सुक रहता है। उसे अपने शरीर की अपेक्षा उद्देश्यों की चिन्ता रहती है। मानव-विचार सदा अमर रहते हैं। यह अमरत्व कभी भी किसी के शारीरिक अस्तित्व से प्राप्त नहीं किया जा सकता। इसीलिए शारी-रिक अमरत्व पुत्र की उत्पत्ति और उसके प्रेम तक सीमित रहता है। ऐसे व्यक्ति सरलतापूर्वक अपने पुत्र को सर्वस्व निछावर करने के लिये तैयार रहते हैं। इसी प्रकार व्यक्ति कभी कभी देश-प्रेम या धर्म के नाम पर सरलता से आत्म समर्पण कर देते हैं। ऐसी स्थिति में लोग कहते हैं कि मैं इसलिये मरता हूँ कि दूसरे जीवित रहें, यद्यपि अमरत्व कभी उद्देश्य नहीं बनाया जा सकता। नास्तिक व्यक्ति भी अमरत्व की प्राप्ति के लिए उतना प्रयत्न करते हैं। आस्तिक व्यक्ति चेतन मन से चाहते हैं, जब कि नास्तिक व्यक्ति इसे अचेतन मन से चाहते हैं। चेतन और अचेतन मन के दो भिन्न भिन्न क्षेत्र हैं। कोई व्यक्ति चेतन मन से अमरत्व में विश्वास करने पर भी सर्वदा भय युक्त बना रह सकता है, क्योंकि

अचेतन मन से वह सर्वदा मृत्यु से डरा करता है। दूसरा चेतन मन से अमरत्व में विश्वास न करनेवाला व्यक्ति भयहीन हो सकता है, क्योंकि उसका अचेतन मन मृत्यु की चिन्ता नहीं करता।

मृत्यु की चिन्ता स्वार्थभाव का प्रदर्शन मात्र है। श्रेष्ठ मार्ग का अनुसरण करना व्यक्ति को सभी पापों से मुक्त कर देता है।

तण्हाय जयती सोको तण्हाय जायती भयं।
तण्हाय विप्पमुत्तस्स नत्थि सोको कुतो भयं॥
धम्मपद-पियवग्गो

किसी प्रकार की पिपासा ही विपत्तियों की जननी होती है। किसी प्रकार की लालसा ही भय को उत्पन्न करती है। जहाँ तृष्णा नहीं है वहाँ विपत्तियों और भय का अभाव है।

ढाई हजार वर्ष पूर्व के चरण-चिह्नों में

कपिलवस्तु

श्री विजय श्रीवास्तव 'श्रावस्तव्य'

महत्व

दस पारमिताओं की पूर्ति की कठिन तपस्या में रत हमारे बोधिसत्त्व ने कितने ही जन्म ग्रहण किये और उन्हें पूरा करते हुये अपने अन्तिम वेस्सन्तर के जन्म (आत्म-भाव) में आये। तदुपरान्त अपने सिद्धि-बल के प्रभाव से इस पृथ्वी को कँपानेवाले महापुण्य-कर्मा, पृथ्वी पर अपने जन्म की आयु को बिताने के पश्चात् तुषित देवलोक में उत्पन्न हुये। बोधिसत्त्व के तुषित लोक में रहते समय ही बुद्ध-कोलाहल हुआ, जिसे सुनकर सहस्र-सहस्र चक्रवालों के देवता एक स्थान पर एकत्र हुये और उनके समीप जा कर प्रार्थना की।

उस समय बोधिसत्त्व ने अपने जन्म सम्बन्धी समय, देश, कुल, माता तथा आयु-प्रमाण इन पाँच महा-विलोकनों पर विचार किया।...तब देश का विचार करते हुये, उपद्वीपों सहित चारों द्वीपों को देख विचार किया—"दूसरे तीनों द्वीपों में बुद्ध उत्पन्न नहीं हुआ करते, जम्बूद्वीप में ही वह जन्म लेते हैं।"...फिर जम्बूद्वीप तो दस हजार योजन बड़ा है" विचार करते हुये मध्य-प्रदेश को देखा।..."यह प्रदेश लम्बाई में तीन सौ योजन, चौड़ाई में ढाई सौ योजन और घेरे में नौ सौ योजन है। इसी प्रदेश में बुद्ध, प्रत्येक-बुद्ध, प्रधान अग्र-श्रावक, महाश्रावक, अस्सी महाश्रावक, चक्रवर्त्ती राजा तथा अन्य महा-प्रतापी ऐश्वर्यशाली, क्षत्रिय, ब्राह्मण, वैश्य पैदा होते हैं। और वहीं यह कपिलवस्तु नामक नगर है, वहीं मुझे जन्म लेना है"—यह निश्चय किया।..."आजकल क्षत्रिय-कुल लोकमान्य है इसलिये उसी कुल में जन्म लूँगा। शुद्धोदन नामक राजा मेरा पिता होगा" सोच कुल का निश्चय किया।...फिर माता का विचार करते हुये—"बुद्धों की माता चंचल और मादक सेवी नहीं होती। लाख कल्प से दसों-पारमितायें पूरी करनेवाली, और जन्मसे ही अखण्ड पंच-शील (सदाचार) रखनेवाली होती है। यह महामाया नामक देवी...मेरी माता होगी।" लेकिन इसकी शेष आयु को विचारते हुये केवल दस महीने सात दिन की ही आयु देखी।

× × ×

बौद्धधर्म के प्रति अपने मन के झुकाव को खोजने के लिये स्मृति टटोलनी पड़ती है और विद्यालय की पुस्तकों में पढ़े हुये अनेक पाठ कभी-कभी याद आ जाते हैं। 'भगवान् बुद्ध' का भी पाठ कई बार पढ़ने को मिला था और न मालूम क्यों तथागत की जीवनगाथा ने मानस में एक लहर-सी उत्पन्न कर दी जो दिन पर दिन बढ़ती ही गई। मन सदा ही एक विचित्र कौतूहल का अनुभव करता। फाह्यान अथवा ह्वेनसांग चीन जैसे दूर देश से भगवान् की जन्म-भूमि का दर्शन करने आये, रास्ते की अनेक कठिनाइयाँ सहते हुये और यहाँ आकर उस

को अपने मस्तक से लगाया, जिसको युग के महान् पुरुष ने ढाई हजार वर्षों पूर्व अपने चरणों से पवित्र किया था। अभिलाषा दिनों-दिन तीव्र होती गई, २५०० वर्ष पूर्व के चरण-चिह्नों के रज को मस्तक से लगाने को किसी महापुरुष का जन्म-स्थान अपनी अलौकिकता रखता ही है जो उसके चले जाने के बाद भी श्रद्धालुओं को प्रेरणा दिया करता है। और फिर शास्ता ने तो स्पष्ट शब्दों में कुल-पुत्रों के लिये निर्देशन किया—"श्रद्धालु कुल-पुत्रोंके लिये ये चार स्थान दर्शनीय, संवेजनीय हैं, लुम्बिनी......, बुद्धगया..., सारनाथ...और कुशीनारा... ।"

समई माई को मूर्ति

तौलिहवा के शिव मन्दिर का शिवलिंग

कपिलवस्तु के अशोक स्तम्भ का खण्डित भाग, लेख इसी पर है

मुझे १९५३ के अन्तिम दिनों में कुछ मित्रों की कृपा से लुम्बिनी तक जाने का अवसर प्राप्त हुआ। तीन चार ही दिनों की यात्रा का कार्यक्रम बना। परन्तु किन्हीं परिस्थितियों के कारण विश्वास ही न हो कि हम लुम्बिनी वन तक पहुँच कर अपने इस जीवन की अभिलाषाओं को पूरा कर पावेंगे। वह तो बहुत ही बाद की बात थी। इस समय तो ऐसा लगता था जैसे जीवन की सभी घड़ियाँ इन्हीं तीन चार दिनों में समाई हुई हैं।

× × ×

शाक्य राजवंश

कपिलवस्तु हिमालय के मनोरम अंचल में बसा हुआ एक समृद्धिशाली शाक्य नगर था। इक्ष्वाकु कुल के सूर्य-वंशी अयोध्या नरेशों में, इस (शाक्य) वंश के पुरुषों में अन्तिम महाराज सुजात थे, जिनकी पटरानी से पाँच पुत्र और पाँच पुत्रियों ने जन्म लिया। जयन्ती नाम की एक अन्य रानी से भी जयन्त नामक पुत्र पैदा हुआ। किसी कार्य से प्रसन्न हो महाराज सुजात ने महारानी जयन्ती को एक वर माँगने के लिये कहा जिसके फलस्वरूप जयन्त गद्दी पर बैठा तथा अन्य पाँच राजकुमार तथा पाँच राजकुमारियों को देश-निकाला हुआ। वे अपनी प्रजा, निजी सेवकों, धन इत्यादि तथा एक हजार मंत्रियों, ब्राह्मणों, आमात्य और कई हजार व्यापारियों के साथ अपना राज्य छोड़ कर चल पड़े। राजकुमारों का यह समाज प्रथम दिन एक मील, दूसरे दिन आठ मील तथा तीसरे दिन बारह मील चला। इस तरह वे मार्ग में जंगलों को पार करते हुये काशी के निकट पहुँचे। काशी पर आक्रमण कर उसे जीतना उनको प्रिय न लगा और वे अपनी नई राजधानी बनाने के अभिप्राय से आगे बढ़े। जंगल तथा वनों में भटकते हुये उनको कपिल मुनि का आश्रम मिला जो एक बोधिवृक्ष के नीचे बना हुआ था। यह आश्रम एक झील के पास था। मुनि ने राजकुमारों से उनका अभिप्राय पूछा। उन्होंने महर्षि को सब कुछ बतला दिया जिससे प्रभावित होकर उनको अपने ही आश्रम के स्थान पर नगर बनाने की आज्ञा दे दी। मुनि ने राजकुमारों को अपने आश्रम का आश्चर्य-जनक प्रभाव भी बतलाया कि जो लोमड़ियाँ आश्रम के बाहर से खरगोशों को दौड़ाते हुये आती हैं, आश्रम के निकट आने से ही खरगोश के पीछा करने से इन्हें भाग जाना पड़ता है!

कपिल मुनि के कहने के अनुसार राजकुमारों ने उन्हीं के नाम पर कपिलवस्तु नामक एक नगर बसाया जो अन्य देशों के साथ शीघ्र ही व्यापार सम्बन्ध तथा राजनीतिक सम्पर्क स्थापित कर लेने से उन्नति करता ही गया।[1] कपिलवस्तु नगर का नाम महाराज सुजात ने भी सुना और जाना अपने पुत्र-पुत्रियों को। तब पण्डितों से अपने राजकुमारों के इस कृत्य के शास्त्रसम्मत होने, (शक्य अथवा अशक्य होने) के विषय में पूछा।

कपिलवस्तु का मानचित्र

विद्वानों ने कहा—महाराज, आपके पुत्रों का कार्य शक्य है। तब से वे निर्वासित राजकुमार "शाक्य" अथवा "शाकिय" नाम से प्रसिद्ध हुये। ओपुर नामक सबसे बड़े राजकुमार की सातवीं पीढ़ी में[2] महाराज शुद्धोदन (छठीं शताब्दी ई० पू०) हुये जिन्होंने कोलिय राज-कन्या मायादेवी को अपनी महारानी बनाया तथा जिनको हमारे बोधिसत्त्व ने अपना पिता-माता चुना।

अश्वघोष कृत "बुद्ध चरित" में महाराज शुद्धोदन तथा महारानी माया देवी का वर्णन अपनी तुलना नहीं रखता :—

"इक्ष्वाकु-वंश में शुद्धोदन नामक राजा हुआ। वह अजेय शाक्यों का अधिपति था। इक्ष्वाकु के समान प्रभावशाली था। उसका आचरण पवित्र था। अपनी प्रजा के लिये वह शरच्चन्द्र के समान प्रिय था।"

"उस इन्द्र-तुल्य राजा के शची-सदृश रानी थी, जिसकी दीप्ति राजा की शक्ति के समान थी। वह पद्मा के

१—फाह्यान की भारत यात्रा :—पृष्ठ २१२

२—शाक्यवंश के राजाओं के नाम इस प्रकार हैं :—निपुर, करण्डक, उल्कामुख, हस्तिशीर्ष तथा सिंहहनु अन्तिम राजा सिंहहनु के चार पुत्र तथा एक पुत्री हुई। पुत्रों के नाम क्रमशः शुद्धोदन, धोतोदन, शुक्लोदन, अमृतोदन तथा कन्या का नाम अमिता था।

समान सुन्दरी और पृथ्वी के सदृश धीर थी। अनुपम माया के समान होने के कारण उसका नाम महामाया हुआ।"

"राजकुमार के समृद्धिकारी जन्म से कपिल के नाम का वह नगर जनपद के साथ इस प्रकार प्रमुदित हुआ जैसे नल-कूबर के जन्म में अप्सराओं से भरा कुबेर का नगर।"

स्थान-निर्देश और दिग्दर्शन

इस प्राचीन नगर की अवशेष-स्मृति वर्तमान **तिलौरा-कोट** नामक स्थान है, जो नेपाल की तराई में शोहरतगढ़ स्टेशन (एन० ई० आर०) से लगभग बारह मील तौलिहवा बाजार से एक-डेढ़ मील की दूरी पर स्थित है। प्राचीन नगर का जो कुछ भी भाग पृथ्वी के ऊपर दृष्टिगत होता है, लगता है जैसे वह अपनी जीर्णावस्था के अन्तिम दिन गिन रहा है। कहीं-कहीं दीवारों के चिह्न स्पष्ट-अस्पष्ट दिखाई पड़ते हैं। सड़क के किनारे-किनारे, जो किसी-किसी स्थान पर छोटे-छोटे टीले पेड़ों के झुरमुट में अपने को छिपाये पड़े हैं। तौलिहवा बाजार के बाहर जहाँ से खण्डहरों की शृंखला आरम्भ होती-सी जान पड़ती है। एक ऊँचा सा टीला है जो १०-१२ फीट ऊँचा होगा तथा जिसके ऊपर एक छोटा सा मन्दिर बना हुआ है जिसे वहाँ के लोग समई-माई का मन्दिर कहते हैं। इस मन्दिर के ऊपर से चारों ओर देखने से बहुत दूर तक ऊँचे-नीचे भू-भाग दिखाई पड़ते हैं जिनके आस पास ईंटों के छोटे-बड़े टुकड़े बिखरे पड़े हैं तथा यह विदित होता है स्पष्ट रूप से कि यह किसी अति प्राचीन स्थान के खण्डहर ही हैं। यह भाग प्राचीन कपिलवस्तु नगर का ही जान पड़ता है।

मन्दिर बहुत छोटा सा है, जिसके अन्दर पत्थर की कई मूर्तियाँ रखी हुई हैं जो अत्यन्त ही अस्पष्ट-सी हैं। किन्तु प्रधान मूर्ति की आकृति से जान पड़ता है कि यह बुद्ध-जन्म के समय मायादेवी का शाल-वृक्ष की डाल पकड़ने का चित्र है जो अधिक समय से लोगों की श्रद्धा-पूजा के सिन्दूर पड़ते रहने से और किन्हीं अन्य कारणों से मिट-सा गया है। इस मन्दिर में किसी समय बलि भी हुआ करती थी परन्तु कुछ उत्साही व्यक्तियों के कारण यह प्रथा अब बन्द सी हो गई है।

इन्हीं खण्डहरों की हल्की लीक पकड़ कर लगभग मील भर जाने पर अति सघन वृक्ष समूहों से भरा हुआ एक बहुत ही विस्तृत टीला मिलता है जिसे वहाँ आस-पास के लोग तिलौरा-कोट कहते हैं। यह विस्तृत टीला वाणगंगा के पूर्वी तट पर स्थित है। नवीनतम पुरातत्त्व की खोजों के आधार पर विन्सेन्ट स्मिथ तथा वोस्ट जैसे विद्वानों ने इसी तिलौरा-कोट को प्राचीन कपिलवस्तु माना है।[1]

---

१. कार्लाइल महोदय के अनुसार बस्ती जिले के मन्सूर नगर परगना में भुइला ताल के निकटस्थ भूइला-डीह ही कपिलवस्तु है। इसका आधार भी कुछ मिलता-जुलता सा है:—

भूइला = भू = पृथ्वी; कपिल(कपिला)=क = पृथ्वी
भूइला = भूपिला = जिससे भूप = भूपति = राजा
तथा कप = कपाल = सिर = छत्र

भूइला और **कपिला** में "इला" शब्दान्त के लिये तिब्बत में प्रचलित बौद्ध कथाओं का उल्लेख करते हुये कार्लाइल महोदय लिखते हैं:—बुद्ध के जन्म लेने के उपरान्त उनकी मौसी गौतमी देवी उन्हें एक मन्दिर में ले गयीं जहाँ पर सूर्य की मूर्ति प्रतिष्ठित थी। सूर्य=ल्हा (तिब्बत में सूर्य का नाम)=इला (संस्कृत शब्द, सूर्य की कन्या)। तिब्बत के लोग कपिलवस्तु को **ल्हास-ब्लास्टान** कहते हैं जिसका अर्थ है "सूर्य द्वारा प्रदर्शित। कार्लाइल महोदय इस **ल्हास-ब्लास्टान** शब्द को संस्कृत **पेलस्य-स्थान** का अपभ्रंश मानते हैं जिसका अर्थ है "सूर्य का भवन।"

कैलाश = शिव जी का स्थान, तथा "कपिल" शिव का एक अन्य नाम भी है जिससे कपिलवस्तु भी "शिव के निवासस्थान" का ही तात्पर्य रखता है।

भूइला में "भूइलेश्वर" नामक एक शिव मन्दिर है जिसके निकट एक "भोला साहेब का मजार" है (जो देखने में कुछ पुराने ध्वंसावशेष सा लगता है) जिसे कार्लाइल महोदय ने "उस मृत पुरुष का स्मारक" बताया है जिसे राजकुमार सिद्धार्थ ने अपने उद्यान-सैर के समय देखा था। चीनी यात्री ह्वेनसांग के भारत-भ्रमण के

श्रावस्ती से होते हुये दोनों ही चीनी यात्री फाह्यान तथा ह्वेनसांग कपिलवस्तु की ओर सीधे बढ़े। श्रावस्ती से कपिलवस्तु की दूरी फाह्यान ने १३ योजन या ९१ मील दक्षिण-पूर्व की ओर तथा ह्वेनसांग ने ५०० ली या ८३ मील दक्षिण-पूर्व की ओर दी है। और भी फाह्यान ने लुम्बिनी से कपिलवस्तु की दूरी ९ मील दी है, एवं ह्वेन सांग ने १४-१५ मील-पश्चिम को। यह छ-सात मील का अन्तर कनिंघन साहब ने दो स्थानों की गड़बड़ के कारण माना है तथा इन दोनों स्थानों में फाह्यान ने एक को कपिलवस्तु माना तथा ह्वेनसांग ने दूसरे को। जिन दो स्थानों का ऊपर उल्लेख है पहला "कपिलवस्तु" (गौत[illegible] बुद्ध का नगर) तथा दूसरा "ककुच्छन्द बुद्ध का जन[्म] स्थान" से तात्पर्य है। कनिंघम महोदय के अनुसा[र] फाह्यान ककुच्छन्द बुद्ध के जन्म-स्थान को प्रथ[म] पहुँचा था और ह्वेनसांग कपिलवस्तु पहले पहुँच[ा] और इसी कारण दोनों यात्रियों के वर्णन में कुछ भ[्रम] हुआ जान पड़ता है। तथा इसी कारण कपिलवस्तु के ठी[क] ठीक पहचान के लिये अन्य (तिब्बती, सिंहली) ग्रन्थ[ों] की सहायता लेनी पड़ती है और अन्य लोगों से कपिल[-] वस्तु की दी हुई दूरी के आधार पर अनुमान लगाक[र] इस नगर की स्थिति ठीक करनी पड़ती है।

अन्य ग्रन्थों में कपिलवस्तु का वर्णन

१. (भगवान्) राजगृह से कपिलवस्तु ६० योज[न] दूर दो मासों में पहुँचने की इच्छा से धीमी चारिका [से] चलते थे। (अर्थात् रोज योजन भर) (बुद्धचर्या)

२. "राजगहं कपिलवत्थुतो दूरं सट्ठि योजनानि सावत्थी पन पंचदस। सत्था राजगहतो पञ्चचत्तालीसयो[-] जनं आगन्त्वा सावत्थियं विहरति"—(म० नि० अ[०] क० १।३।४)

३. कपिलवस्तु से तीन राज्यों को पार कर ती[स] योजन दूर अनूपिया नामक आमों के बाग में एक सप्ता[ह] भर बिताया (म० नि० अ० क० १।१।२)

४. चतुद्दसमं जेतवने पंचदसमं कपिलवत्थुस्मिं......

(अंगुत्तर अट्ठकथा)

वृत्तान्त में भी कपिलवस्तु के किसी प्रवेश द्वार के सामने उस मृत पुरुष के स्मारक के रहने का वर्णन मिलता है। यह स्मारक-स्थान अनुमानतः "भोला सहेब के मजार" वाली ही जगह है।

कार्लाइल महोदय के ठीक विपरीत कनिंघम साहब का मत है। इनके अनुसार अवध के उत्तरी भाग में घाघरा नदी के पार राप्ती की एक शाखा **कोहान** के पास ही छन्दो ताल के पूर्वी किनारे पर **नगर** नामक स्थान को कपिल-नगर (कपिलवस्तु) माना है। अपने मत को पुष्ट करने के पक्ष में वे एक और बात की ओर ध्यान दिलाते हैं। उनका कहना है कि **नगर** के मुखिया जमींदार गौतम राजपूत हैं और नगर तथा उसी के निकट **अमरोहा** इन राजपूतों का केन्द्र है। गौतम राजपूतों के पूर्वज **अर्कबन्धु** थे। अमरसिंह जो स्वयं एक बौद्ध था, ने अपनी कृति "अमर कोष" में **अर्कबन्धु** भगवान का नाम बतलाया है। कनिंघम महोदय ने स्वयं नगर तथा आसपास के स्थानों का निरीक्षण नहीं किया। इस कारण उनकी बातें अनुमान पर ही निर्भर है तथा सेकेण्ड-हैण्ड सूचनाओं के आधार पर ही लिखी गई है। इसीलिये उनकी बातें आगे चलकर सदोष सिद्ध हुईं। रामग्राम, लुंबिनी आदि स्थानों की भी इनकी खोज गलत ही निकली। किन्तु प्राचीन स्थानों की खोज करने की दिशा में प्रथम प्रयत्न होने की दृष्टि से ये सराहनीय भी हैं।

"लुम्बिनी" "कपिलवस्तु की मध्य-सीमा रोहिणी नदी" "गौतम" तथा "कपिलवस्तु" के नाम के सम्बन्ध में कार्लाइल महोदय का कहना है:—

गौतम = भूरे अथवा गाढ़े रँगों वाली गाय;

रोहिणी } = भूरे रंग की गाय; इससे कपिलवस्तु =
कपिला } गेंहुआ रंग की गायों का स्थान

तथा "लोही" (संस्कृत **रोही** का अपभ्रंश) = प्रभात

"पोह" = प्रभात अथवा चौपाये

अर्थात् **पोहीला** ("भूइला" शब्द से मिलता हुआ) का अर्थ हुआ=।

सूर्य का प्रभात अथवा सूर्य के चौपाये। इसी आधार पर कार्लाइल साहब के विचार हैं कि कपिलवस्तु और इ[स] नगर की कथा का संबंध वेदों में वर्णित "सूर्य तथा उषा काल" की कहानियों से हो सकता है।

...पुक्कुसाति नाम कुलपुत्तो तक्क सिलातो अट्ठहि ऊनकानि द्वे योजन-सतानि गतो जेतवनं, कपिलवत्थु सावत्थी पन पंचदस। (म० नि० अ० क०)

...कपिलवस्तु से जेतवन १५ योजन

५. कपिलवस्तु से राजगृह ६० योजन; कुशीनगर से २५ योजन, कपिलवस्तु से कुशीनगर ३५ योजन......
(म० प० सुत्त अ० क० ५।१०)

६. कपिलवस्तु से लुम्बनी वन......१½ योजन

अर्थात् श्रावस्ती (सहेट-महेट, जि० गोंडा), अनूपिया, राजगृह (जि० पटना, बिहार), तक्षशिला (शाह जी की ढेरी, जि० रावलपिंडी, पंजाब) लुम्बिनी वन (नेपाल तराई), कुशीनगर आदि छ स्थानों से कपिलवस्तु नगर की दूरी ज्ञात होती है।

तक्षशिला	२०७ योजन	९२१ मील
राजगृह	६० ,,	२६७ ,,
अनूपिया	३० ,,	१३३.५ ,,
कुशीनगर	३५ ,,	१५५.७५
श्रावस्ती	१५ ,,	६६.७ ,,
लुंबिनी	१½ ,,	१२ मील

जब १ योजन=८ मील

फाह्यान कपिलवस्तु लगभग ४०३ ई० में पहुँचा था। वह लिखता है—"[1]... ...पूर्व एक योजन चलने पर की-वी-लो-वी (कपिलवस्तु) नगर पड़ा जहाँ पर न कोई राजा है और न तो कोई प्रजा। सब उजाड़ पड़ा है। कुछ भिक्षु तथा दस-बीस आदमियों को छोड़ कर और कहीं कोई नहीं दिखाई पड़ता। यही राजा पे-त्सिङ (शुद्धोदन) के प्राचीन महल का स्थान है.....। उन स्थानों पर जहाँ राजकुमार सिद्धार्थ पूर्वी फाटक से बाहर गये थे (अभिनिष्क्रमण), तथा जिस स्थान पर उन्होंने रोगी-मनुष्य को देखा था...प्रत्येक स्थान पर लोगों ने ऊँचे ऊँचे बुर्ज बनाये हैं। उन स्थानों पर जहाँ पर अइ (असित) ने ध्यान लगाया था; नान-थो (नन्द) आदि लोगों ने हाथी को मारा था; जहाँ से उन्होंने तीर चलाया था जो ३० ली दूर दक्षिण-पश्चिम जाकर जमीन में धँस गया था वहाँ से सोता फूट निकला था,...जहाँ पर पाँच सौ शाक्यों ने बुद्ध की शरण ली थी;.......जहाँ पर पृथ्वी छ बार काँपी थी; जहाँ पर ज्ञान प्रकाश पाने के पश्चात बुद्ध अपने पिता से मिले थे;......जहाँ पर बुद्ध ने देवताओं को उपदेश किया था, तथा जहाँ पर इन्द्र ने उस स्थान के प्रवेश-द्वार पर इस प्रकार पहरा दिया था कि उनके पिता वहाँ पर न जाने पावें...जहाँ पर तपस्वी ने एक सेंङ-किया-ली (संघाती) को भिक्षा स्वरूप बुद्ध को अर्पण कर दिया था, तथा जहाँ पर राजा निअ-ली (विरूढ़क) ने शाक्यों का नाश किया था......लोगों ने ऊँचे-ऊँचे बुर्ज (स्तम्भ) बनाये हैं।......नगर के उत्तर-पूर्व की ओर कई ली दूर राजकीय खेत हैं।"...(फाह्यान की यात्रा—पृष्ठ २०७-९)

ह्वेनसाङ[1] (जो भारत सातवीं शताब्दी ई० में आया था) २५ दिसम्बर ६३६ ई० में कपिलवस्तु पहुँचा था, अपना विवरण इस प्रकार लिखता है:—"कपिलवस्तु का नगर इतना ध्वस्त और उजाड़ अवस्था में है कि उसकी सीमा का ठीक अन्दाज लगाना कठिन है फिर भी नगर तथा महल की दीवारें कहीं कहीं स्पष्ट हैं जिनके सहारे यह स्थिर किया जा सकता है कि नगर की लम्बाई चौड़ाई लगभग ४००० ली अर्थात् ३ मील होगी।......नगर के मध्य में राजकीय भाग (महल) का घेरा १४-१५ ली होगा जो सभी ईंटों की बनी हैं। नींव की दीवारें अभी भी ऊँची हैं और मजबूत भी। नगर बहुत पहले से वीरान हो चुका है और बस्ती नहीं के बराबर है।

१. श्रावस्ती से १२ योजन उत्तर-पूर्व चलने पर नदी-किया गाँव पड़ा जहाँ पर क्रकुसन्ध बुद्ध के जन्म स्थान, पिता पुत्र के दर्शन के स्थान तथा परिनिर्वाण-स्थान पर स्तूप बने हैं। यहाँ से उत्तर में एक गाँव पड़ा—कनक मुनि का जन्मस्थान।...स्तूप बने हैं।

१. स्मिथ का कहना है कि दोनों चीनी यात्रियों में ह्वेनसाङ अधिक विद्वान था तथा उसने स्थानीय भिक्षुओं की सहायता से ऐतिहासिक स्थानों को अधिक ध्यान तथा मनन की दृष्टि से देखा। उसने जिन जिन स्थानों को देखा उनका विवरण भी अधिक सावधानी से लिखा है। ऐसा लगता है कि इस चीनी यात्री ने पहले से कुछ अधिक जगहों को देखा भी।

"कोई सर्वोच्च शासक नहीं है। सभी उपनगर अपना-अपना अधिकारी (शासक) नियुक्त करते हैं। जमीन उपजाऊ है…तथा मौसम के हिसाब से फसल बोई जाती है। समान जलवायु है और लोग बड़े शिष्ट हैं। लगभग एक हजार संघाराम ध्वस्त हालत में पड़े हैं। राज महल के निकट एक संघाराम शेषप्राय हैं जिसमें बीस भिक्षु रहते हैं जो हीनयान का अध्ययन करते हैं।"

"दो एक देव मन्दिर भी हैं…राजभवन के अन्दर के भाग में दीवारों के कुछ शेष भाग बच रहे हैं जो महाराज शुद्धोदन के राज-भवन के ध्वंसावशेष हैं; एक विहार में राजा (शुद्धोदन) की प्रस्तर मूर्ति भी है…इसीसे कुछ दूर मायादेवी का शयनकक्ष है जिसके ऊपर लोगों ने विहार में महारानी की एक मूर्ति स्थापित की है।"

"…इसी के निकट एक विहार है जो उस स्थान को इंगित करता है जहाँ पर बोधिसत्व श्वेत हाथी के रूप में मायादेवी के गर्भ में आये थे। इस स्थान के उत्तर-पूर्व एक स्तूप बना है; यही वह स्थान है जहाँ पर असित ऋषि ने भगवान बुद्ध (गौतम) के जीवन की भविष्य-वाणी की थी।"

"नगर के दक्षिण प्रवेश-द्वार पर एक स्तूप है जिस स्थान पर राजकुमार सिद्धार्थ ने शक्ति प्रतियोगिता में हाथी को फेंक दिया था… …।"

"इसी स्थान के निकट एक विहार में 'राजकुमार' सिद्धार्थ की मूर्ति है। इसी विहार के पास ही में एक और विहार है जहाँ पर रानी तथा राजकुमार का शयन-कक्ष था। इसमें यशोधरा देवी तथा राजकुमार राहुल की मूर्ति है।"……

"दक्षिण-पूर्व के कोने पर एक विहार बना है जिसमें एक सफेद घोड़े पर सिद्धार्थ की मूर्ति है। इसी स्थान से राजकुमार ने नगर को छोड़ा था। नगर के चारों प्रवेश-द्वारों के बाहर एक एक विहार बने हैं तथा उनमें एक वृद्ध, रोगी, मृतक एवं श्रमण के चित्र (मूर्तियाँ ?) बने हैं।…

"दक्षिण की ओर कुछ दूरी पर (५० ली) एक स्तूप बना है। यहाँ कोई प्राचीन नगर भी था। इसी स्थान पर क्रकुछन्द बुद्ध ने भद्रकल्प में जन्म लिया था, जब मनुष्यों की आयु साठ हजार वर्ष की होती थी"

"थोड़ी दूरी पर नगर के दक्षिण एक स्तूप उस स्था… का स्मरण दिलाता है जहाँ पर पिता-पुत्र मिलन हुआ था… दक्षिण-पूर्व की ओर एक और स्तूप है जिसमें तथाग… की पवित्र अस्थियाँ सुरक्षित हैं। इस स्तूप के सामने… एक तीस फीट ऊँचा स्तम्भ है जिसके ऊपर एक सिंह… सिर सुशोभित है। इसी के निकट ही अशोक राजा द्वा… खुदाया हुआ एक शिला-लेख है जिसमें भगवान्… निर्वाण सम्बन्धी गाथा अंकित है।"

"क्रकुछन्द बुद्ध के नगरके उत्तर-पूर्व लगभ… ३० ली की दूरी पर प्राचीन राजधानी के खण्डहर हैं ज… पर एक स्तूप है। यह स्थान भगवान कनक मुनि… भद्रकल्प में जन्म लेने का स्मरण दिलाता है जब मनु… ४०,००० वर्ष जीते थे।"

"नगर के उत्तर-पूर्व कुछ ही दूरी पर एक स्तूप उ… स्थान की स्मृति में बना है जहाँ तथागत सम्बोधि प्रा… होने के बाद कपिलवस्तु लौटने पर अपने पिता (महार… शुद्धोदन) से मिले थे।"

"कुछ और उत्तर की ओर एक धातु-स्तूप है जिस… सामने एक सिंह-शीर्ष वाला अशोकराज द्वारा बनवा… स्तम्भ है जो बीस फुट ऊँचा है। जिस पर भगवान्… निर्वाण सम्बन्धी लेख खुदे हैं……।"

"नगर के उत्तर-पूर्व की ओर, लगभग ४० ली… एक स्तूप है जिस स्थान पर से राजकुमार (सिद्धार्थ)… हल चलाने का उत्सव देखा था…।"

"राजधानी के उत्तर-पश्चिम की ओर सहस्त्रों स्तू… बने हैं जो शाक्यों के वधस्थल की स्मृति दिलाते हैं… "इसी स्थान के दक्षिण-पश्चिम चार छोटे-छोटे स्तूप… जहाँ पर चार वीर शाक्यों ने (विरूढ़क के) सैनिकों… सामना किया था।"

"नगर के ३-४ ली दक्षिण की ओर निग्रोध-वाटि… है जहाँ पर अशोकराज द्वारा बनवाया एक स्तम्भ… जहाँ पर तथागत… ने अपने पिता से भेंट की थी तथ… उपदेश दिया था…संघाराम के निकट ही थोड़ी दूर… एक स्तूप है जहाँ पर अपनी मौसी के हाथों से तथागत… काषाय-वस्त्र ग्रहण किया था।"…

स्पष्ट है कि कनक मुनि बुद्ध का जन्म-स्थान त…

निर्वाण-स्थान कपिलवस्तु की प्राचीन राजधानी के ठीक मध्य में था।

निगलिहवा का अशोक-स्तम्भ

बाणगंगा नदी के किनारे शुहरतगढ़ स्टेशन से १४-१५ मील दूर उत्तर आजकल निगलिहवा नामक स्थान ही कनक मुनि बुद्ध का जन्म स्थान है। यहाँ पर दो भागों में टूटा हुआ एक अशोक-स्तम्भ है जिस पर लिखा है—

देवानं पियेन-पियदसिन लाजिन चोदसवसा (भिसि) तेन बुधस क्नाकमनस थुवे दुतियं बढिते (बीसतिव) साभिसितेन च अतनं आगाच महीयिते (सिलायुवे च उस) पापिते। ('अर्थात् प्रियदर्शी अशोक ने कनक मुनि बुद्ध के जन्म-स्तूप की दो बार मरम्मत कराई')। यह भग्न स्तम्भ दो भागों में एक बड़े तालाब के किनारे (जो निगली तालाब कहा जाता है) पड़ा है। छोटा भाग लगभग २½ फुट जमीन से ऊपर है जिसमें उपरोक्त लेख खुदा हुआ है तथा दूसरा बड़ा भाग १२-१३ फीट लम्बा वहीं तालाब के किनारे पेड़ों के झुरमुट में छिपा पड़ा है। इसपर दो मयूरों के चित्र तथा ॐ मणि पद्मे हुँ खुदे हैं। सिंहली ग्रन्थों के अनुसार कनक मुनि बुद्ध के जन्म-स्थान का नाम शोभावती नगर था। यज्ञदत्त नामक ब्राह्मण पिता; उत्तरा नामक ब्राह्मणी माता थी। भीयस और उत्तर दो प्रधान शिष्य थे। सुभद्रा, उत्तरा प्रधान शिष्यायें थीं। गूलर का वृक्ष बोधिवृक्ष था। ३० हाथ ऊँचा शरीर तथा तीस सहस्र वर्ष की आयु थी।*

---

* कनक मुनि बुद्ध के जन्मस्थान के बारे में दोनों चीनी यत्रियों के वर्णन में अन्तर है। फाह्यान "क्रकुच्छन्द बुद्ध के स्थान से एक योजन से कम दक्षिण की ओर तथा कपिलवस्तु से एक योजन पश्चिम लिखता है। ह्वेनसाङ के अनुसार यह "क्रकुच्छन्द बुद्ध के स्थान से उत्तर पूर्व की ओर" था। कनक मुनि २३ वें बुद्ध थे।

सागरहवा

वर्तमान तिलौराकोट के खण्डहरों से दो मील उत्तर **सागरहवा** (श्रीनगरा) नामक स्थान पर १७ छोटे-छोटे स्तूपों के समूह बिखरे पड़े हैं। इनकी खोज सन् १८९८ जनवरी में फुहरेर महोदय ने किया था तथा खुदाई में ही वे नष्ट भी हो गये। स्मिथ के मत के अनुसार यही स्थान **शाक्यों का वधस्थल** हो सकता है। ऐसा कहा जाता है कि कोशल के राजा प्रसेनजित के पुत्र तथा उत्तराधिकारी विरूढ़क ने ही कपिलवस्तु को बर्बाद कर डाला। इसके सम्बन्ध में इस प्रकार की किंवदंती प्रचलित है—कोशल-राज प्रसेनजित ने किसी समय शाक्यों से अपना सम्बन्ध करने की इच्छा प्रकट की। शाक्य कोशलपति के अधीन होते हुए भी अपने जाति एवं कुल की पवित्रता के अभिमान के कारण अपनी एक दासीपुत्री—वासभ खत्तिया का विवाह प्रसेनजित से कर दिया। विरूढ़क की यही दासी-पुत्री माता बनी। विरूढ़क के राजा होने के बाद जब यह मालूम हुआ तो क्रोधवश वह शाक्यवंश का नाश करने पर उतारू हो गया। इस प्रकार बुद्ध के निर्वाण के पूर्व ही कपिलवस्तु ध्वस्त हो गई (लगभग ४८०-८५ ई० पू०)। कहीं ऐसा भी वर्णन मिलता है दूध-पीते बच्चों तथा ९९९० शाक्य कुमार तथा कुमारियों का बध किया गया।

कार्लाइल महोदय के विचार से विरूढ़क कभी भी शाक्यों का नाश नहीं कर सकता था। क्योंकि वह स्वयं भी उसी कुल का था। यह हो सकता है कि उसे बौद्धों से शत्रुता हो गई हो तथा उसने उन्हीं शाक्यों को मारा हो जो बौद्ध धर्म ग्रहण कर चुके थे और इसी कारण से उसे अपने वंश के अन्य लोगों के साथ भी बुराई मोल लेनी पड़ी हो।

सागरहवा में पाये गये स्तूपों में बीच के ईंटों पर खिले कमल खुदे हैं तथा अन्य कई ईंटों पर कुछ प्राचीन हथियारों के चित्र खुदे हैं। इन सबसे ऐसा लगता है जैसे ये स्तूप सेना के वीरों के होंगे जो किसी पवित्र लड़ाई में काम आये होंगे। प्रसिद्ध इतिहासकार स्मिथ का मत ठीक हो सकता है।

कुछ विद्वानों ने **गोटिहवा** नामक स्थान को (जो वर्त्तमान तौलिहवा बाजार से १ मील दक्षिण स्थित कुदान नामक गाँव से १ मील दक्षिण-पश्चिम की ओर है), "शाक्यों का वधस्थल" माना है।

कुदान

नेपाल राज्य के अन्तर्गत वर्तमान तौलिहवा बाजार से एक डेढ़ मील दक्षिण की ओर का गाँव—**कुदान** कुछ लोगों के मत के अनुसार क्रकुच्छन्द बुद्ध का जन्मस्थान है। इस गाँव के उत्तर वाले दोनों वृहत स्तूप बुद्ध का जन्म जिन्हें आजकल लोग "लोरी की कुदान" कहा करते हैं क्रम से क्रकुच्छन्द॥ तथा उनके पिता का स्थान हैं। इन्हीं के पास ही एक छोटा-सा टीला है जिसके ऊपर एक छोटा-सा **शिव-मन्दिर** स्थापित है। स्तूप के ऊपर करीब एक फुट ऊँचा और ८-१० इञ्च मोटा एक पत्थर निकला हुआ है जिसका आधार आठ-पहल का तथा शीर्ष-भाग गोलाकार है जो शिव-लिंग के समान पूजा जाता है। इस पत्थर का सतह खुरदरा है। लोगों का कहना है कि किसी काल में यह स्तूप खोदा जाने लगा था जिससे यह "शिवलिंग" (!) निकला। कई हाथ खोदा जानेपर भी उसका निचला भाग न मिला तो उन लोगों ने इसके ऊपरी भाग को छोड़कर शेष मिट्टी से ढँक दिया और 'आदि शिव' की पूजा होने लगी। लेखक का ऐसा मत है कि यह अवश्य ही किसी पत्थर के बने स्तूप का ऊपरी छत्र-भाग अथवा कोई स्तम्भ है। इसके बारे में और भी तभी जाना जा सकता है जब इसकी पूरी तरह से खोदाई की जाय॥।

बरदहवा

कुदान से सीधे पूर्व डेढ़-दो मील पर स्थित इस **बरदहवा** नामक गाँव के आसपास बहुत से ध्वंसावशेष हैं। यहीं एक सुन्दर बैल की भग्न मूर्ति भी है जो सम्भवतः बुद्ध भस्म-स्तूप का स्थान जान पड़ता है। बरदहवा और कुदान के बीच का तालाब ही, जो कूंअऊ कहा जाता है, जो "सरकूप" है। ह्वेनसाङ के अनुसार कपिलवस्तु से सरकूप ३० ली या ५ मील दक्षिण-पूर्व था, जब कि फाह्यान ने उतनी ही दूरी पर दक्षिण-पूर्व की ओर लिखा है। कनिंघम महोदय फाह्यान को सही मानते हैं परन्तु अन्य विद्वानों ने ह्वेनसाङ की दूरी ही को ठीक माना है।

समई माई का मन्दिर

तौलिहवा के निकट एक देवी की पूजा की जाती है जिसे लोग **समई माई** कहते हैं। इस मन्दिर में बलि भी दी जाती थी पर कुछ उत्साही सज्जनों के कारण यह प्रथा अब बन्द हो गई है। समई माई के दो मन्दिर एक तो तौलिहवा के उत्तर तिलौरा कोट के मार्ग में तथा दूसरा तिलौरा कोट के मध्य भाग में स्थित, कुछ महत्त्व के प्रतीत हुये। वे इस दृष्टि से कि इन दोनों मन्दिरों के भीतर देवी की मूर्ति खूब

॥ ककुसन्ध बुद्ध। इस कल्प में ककुसन्ध, कोणागमन (कनक-मुनि), कश्यप तथा हमारे भगवान गौतम बुद्ध हुए। इस प्रकार ककुसन्ध बुद्ध ही इस कल्प (युग) के प्रथम बुद्ध थे। भगवान ककुसन्ध का एक ही सम्मेलन हुआ जिसमें चालीस हजार भिक्षु एकत्र हुए। उस समय हमारे बुद्ध (बोधिसत्त्व) खेम नामक राजा थे। भगवान ककुसन्ध का खेम (क्षेमावती) नाम का नगर था। अग्निदत्त नामक ब्राह्मण पिता और विशाखा नामक ब्राह्मणी माता थी। विधुर तथा संजीव प्रधान शिष्य थे। बुद्धिज नामक परिचारक था। सामा तथा चम्पका प्रधान शिष्यायें थीं। महान शिरीष वृक्ष ही बोधिवृक्ष था। ४४ हाथ ऊँचा शरीर था और आयु चालीस हजार वर्ष की थी।

॥ कुदान को ही फाह्यान तथा ह्वेनसाङ् ने वह स्थान लिखा है "जहाँ तथागत ने ज्ञान प्राप्त कर अपने पिता महाराज शुद्धोदन के दर्शन किये थे। यहाँ ५०० शाक्यों ने गृहत्याग कर उपाली को प्रणाम किया था। जहाँ पृथ्वी ६ बार काँपी थी; तथागत ने देवताओं को धर्मोपदेश किया था और देवराज आदि द्वाररक्षक बने थे कि उनके पिता वहाँ न आने पावें।

घिसी हुई है इस कारण उसकी आकृति साफ नहीं मालूम पड़ती। सिन्दूर से पुते होने पर भी जो कुछ भी हल्की सी आकृति मालूम होती है उससे जान पड़ता है कि यह मूर्ति "कोई (स्त्री) आकृति वृक्ष की डाल पकड़े खड़ी है तथा उसके सामने भी कोई छोटी आकृति खड़ी है।" मूर्ति बिल्कुल सपाट शिल-पट के रूप में हैं। क्या ये मूर्तियाँ "महामाया देवी की नहीं, जिसमें शाल-वृक्ष की डाल पकड़े वे भगवान् बुद्ध को जन्म दे रही हैं?" समई माई के मन्दिर में प्रधान मूर्ति के साथ-साथ अन्य पत्थर की छोटी मूर्तियाँ भी रक्खी हुई हैं तथा तपाये हुये मिट्टी के बने गोल-मटोल हाथी इधर-उधर बिखरे हुये पड़े रहते हैं।

तौलिहवा का शिवमन्दिर

यह "शिवमन्दिर" भी पुरातत्व की दृष्टि से कम महत्वपूर्ण नहीं। लोगों का कहना है कि मन्दिर लगभग एक सौ वर्ष पुराना है। कुछ चरवाहे अपने पशुओं को वहाँ चराया करते। वहीं एक टीले पर उन्होंने एक शिवलिंग (!) का शीर्ष भाग देखा और कौतूहलवश वहीं आसपास की जमीन उन्होंने खोदी पर ज्यों ज्यों वे खोदते गये उसका 'घेरा' बढ़ता ही गया जिससे उन्होंने आगे खोदना छोड़ दिया। उसी स्थान पर नेपाली कारीगरों द्वारा श्री हेमलाल पुरी तथा गजराज पुरी नामक महन्तों ने एक मन्दिर बनवाया। तभी से यह शिवमन्दिर के नाम पूजित होने लगा। यह प्रथा आज भी प्रचलित है।

"शिवमन्दिर" धरातल से लगभग १५'-२०' ऊँचा होगा। जमीन की ऊँची सतह से करीब २५-३० सीढ़ी चढ़कर मन्दिर की नींव आरम्भ होती है। मन्दिर की बनावट देखने में अधूरी सी लगती है। बाहर की भी ऊँची दीवार पुरानी ही जान पड़ती है जो लाल ईंटों की बनी हुई है। मन्दिर के प्रवेशद्वारों पर दो दो पत्थर की बड़ी एवं यहाँ के संकलित मूर्तियों में सबसे सुन्दर मूर्तियाँ सूर्य, विष्णु आदि की, जोड़ाई द्वारा बैठाई हुई हैं। ये पुराने निर्माताओं द्वारा नहीं, किन्तु आज के उत्साही सज्जनों के कलात्मक विचारों एवं भावों का प्रकटीकरण करती हैं। कभी कोई उन्हें एक जगह और फिर अन्य किसी और ही जगह पर लगा दिया करता था। पर आजकल स्थानीय बुद्ध-कालेज के प्रधान श्री कृष्णचन्द्र जी शास्त्री, लोकप्रिय प्रसिद्ध नेपाली कार्यकर्ता श्री भोलानाथ उपाध्याय की अभिरुचि तथा अनवरत परिश्रम के कारण ये स्थायी रूप से एक जगह पर हैं। मन्दिर के अन्दर भी बहुत सी भग्न तथा समूची सुन्दर मूर्तियाँ संगृहीत हैं।

उपरोक्त सज्जन-द्वय, उपाध्याय तथा शास्त्री जी, कपिलवस्तु की ओर आये यात्रियों को बड़ी रुचि के साथ मार्ग-प्रदर्शित करते हैं। लेखक को भी उनके साथ जो भी दो चार दिन बिताने पड़े वे चिरस्मरणीय रहेंगे और व्यक्तिगत रूप से हम उनके अनुगृहीत भी।

तौलिहवा के "शिवमन्दिर" का तथाकथित "शिवलिंग" वास्तव में शिवलिंग ही है अथवा अन्य कोई बौद्ध वास्तुकला का नमूना? यह बात भी लोगों के ध्यान को आकृष्ट कर लेती है। इस "शिवलिंग" की बनावट का भी वही ढंग है जो कुदान वाले "शिवलिंग" का है। पृथ्वी की ऊपरी सतह से लगभग डेढ़ फुट ऊँचा और सात या आठ इञ्च चौड़ा काले पत्थर का बना हुआ यह "शिवलिंग" भी नीचे करीब आठ इञ्च अठ-कोना तथा शेष ऊपरी एक फुट का शीर्ष भाग वृत्ताकार है। शीर्ष भी चपटा नहीं है वरन् उन्नतोदर है। इसकी भी सतह अधिक खुरदरी है तथा नीचे की ओर जमीन एवं "शिवलिंग" के बीच भाग की पूर्ति दो बड़े गोल गड़ारीदार काले पत्थरों से होती है। ये ऊपरी भाग में कुछ सँकरे तथा अपने दीर्घतम व्यास में कुछ बड़े होते गये हैं। ऊपरवाली गड़ारी छोटी एवं उसके नीचेवाली उससे बड़ी है। लोगों का कहना है कि जब किसी काल (मन्दिर निर्माण के पूर्व ही) में इसको खोदा जा रहा था तो इसी प्रकार की कई गड़ारियाँ निकलती गयीं जिनमें हर नीचेवाली गड़ारी अपने ऊपर वाली से बड़ी होती। सात-आठ गड़ारियों तक तो खुदाई की गयी परन्तु फिर, कौतूहल भावना में परिणत हो जाने से, खनन कार्य स्थगित कर, सबसे ऊपर की दो गड़ारियों को छोड़कर शेष पाट दिया गया।

इस "शिवलिंग" का जितना भी भाग जमीन के

ऊपर है उसे देखते हुए यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि यह किसी पत्थर के ठोस स्तूप का शीर्ष भाग है। क्योंकि गड़ारीदार गोल पत्थर "शिवलिंग" के साथ के "अर्घे" का तनिक भी भास नहीं देते और फिर कोई भी शिवलिंग जिसकी पूजा की जाती है खुरदरा तो होता नहीं, फिर भी एक सौ साल से ऊपर यह (वास्तविक) स्तूपमंदिर "शिव मन्दिर" के नाम से पूजित होता चला आ रहा है, आश्चर्य की बात है।

पिपरहवा

स्मिथ महोदय का मत है कि जिस कपिलवस्तु का उल्लेख फाह्यान ने किया है वह वास्तव में पिपरहवा है*। पिपरहवा स्तूप का उत्खनन डब्ल्यू. सी. पेपी (W. C. Peppe) महोदय ने जनवरी १८९८ में किया था जिसमें पाँच छोटे बर्तन (१ बिल्लोर का तथा चार "स्टीएटाइट" के) प्राप्त हुए थे। पाँचों पात्रों में हड्डी के टुकड़े तथा बहुत से छोटे-छोटे बहुमूल्य पत्थर भरे थे। ये अस्थियाँ सम्भवतः भगवान बुद्ध की थीं और यह स्तूप भी उन्हीं के सम्मानार्थ बना होगा। एक पात्र के ऊपर खुदे लेख प्राचीन ब्राह्मी लिपि में, (अशोक के भी पहले की) थे और इसी लेख के आधार पर बार्थ, बूलर; रिसडेविस, पिशेल आदि विद्वानों ने अनुमान लगाया कि अस्थियाँ भगवान बुद्ध की ही थीं जैसा ऊपर कहा गया है। तथा जिसे तथागत के सम्बन्धी शाक्यों ने वहाँ सुरक्षित रखकर स्तूप बनवा दिया। इसके विपरीत फ्लीट महोदय के मत के अनुसार पिपरहवा स्तूप में पायी गयी अस्थियाँ तथागत की नहीं वरन् उनके अन्य सम्बन्धियों की ही हैं। स्मिथ साहब फ्लीट महोदय के विचारों को विवाद का विषय कहकर उससे सहमत नहीं होते। स्मिथ साहब इसी आधार पर यह कहते कि "फाह्यान द्वारा पिपरहवा को ही कपिलवस्तु कह न्यायसंगत ही लगता है।"

नेपाल की तराई में बौद्ध महत्त्व की प्र सामग्री गड़ी पड़ी है। तिलौरा कोट के विस्तृत खण्डहरों में अभी भी राहचलते जमीन की ऊपरी सतह को इ उधर कुरेद कर महत्त्व की वस्तुएँ (सिक्के आदि) प्र कर लेते हैं और हो सकता है कि समय के बीतने के सा और पुरातत्त्व विभाग की उदासीनता के कारण बहुत महत्त्वपूर्ण ऐतिहासिक वस्तुएँ गायब ही हो जायँ। इ कारण उस प्रदेश के बौद्ध-इतिहास के प्राचीन स्थानों सुरक्षा अत्यन्त आवश्यक है। गोरखपुर तथा आसपा बस्ती, बहराइच तथा चम्पारन आदि जिलों में य सावधानी के साथ खुदाई का कार्य किया जाय तो आश्च नहीं कि कुछ ऐसी भी वस्तुएँ मिल जायँ कि इतिहास पृष्ठों में भी बहुत कुछ हेर-फेर करना पड़े।

× × ×

"उस समय कपिलवस्तु में आषाढ़ का उत्सव उद पित हुआ था।......पूर्णिमा के सात दिन पहले म माया देवी बिना मद्य पान किये माला गन्ध से सुशोभि हो, उत्सव मना रही थीं। सातवें दिन प्रातः ही उ सुगन्धित जल से स्नान कर, चार लाख का महादान क अलंकृत हो, सुन्दर भोजन ग्रहण कर उपोसथ व्रत ग्रहण किया।......शयनागार में लेटे निद्रित अवस्था में यह स्वप्न देखा:—

"उसे चार-दिग्पाल शय्या सहित उठा कर हिमव प्रदेश में ले जाकर साठ योजन के मन-शिला (नाम एक शिला) के ऊपर सात योजन छाया वाले महान् श वृक्ष के नीचे रखकर खड़े हो गये। तब उन दिग्पालों देवियों ने आकर महामाया देवी को अनवतप्त दह में जाकर मनुष्य मल दूर करने के लिए नहलाया। दिव्य व पहनाया, गन्धों से लेप किया, दिव्य फूलों से सजाया वहीं समीपस्थ रजत-पर्वत पर पूर्व की ओर सिर क दिव्य शयन बिछवा उसे लिटाया। बोधिसत्व श्वेत सुन्द हाथी के रूप में......रजत पर्वत पर चढ़े। फिर उत्त

---

* परन्तु कनिंघम महोदय "फाह्यान के कपिलवस्तु को मुनि क्रकुच्छन्द का जन्म-स्थान" बतलाते हैं। इस दृष्टि से तो पिपरहवा क्रकुच्छन्द बुद्ध का जन्म स्थान सिद्ध होता है। हो सकता है हमारे कल्प के प्रथम बुद्ध के ही जन्म-स्थान में चतुर्थ बुद्ध (गौतम) की भी पवित्र अस्थियों पर शाक्यों ने स्तूप निर्मित करना अधिक उपयुक्त समझा हो।

दिशा से आकर उक्त स्थान पर (जहाँ महामाया देवी थीं) पहुँचे। उनकी रुपहली माला जैसी सूँड में श्वेत पद्म था।······मधुर नाद कर स्वर्ण विमान में प्रवेश कर तीन बार माता की शय्या की प्रदक्षिणा की। फिर दाहिनी बगल को चीर कुक्षि में प्रविष्ट हुए से जान पड़े।"

इस प्रकार उत्तराषाढ़ नक्षत्र में हमारे बोधिसत्त्व कपिलवस्तु नगर में महामाया देवी के गर्भमें आये।

संक्षेप में कपिलवस्तु की यही कहानी है।

पूजनीय वृक्ष

भिक्षु धर्मरक्षित

भारतीय संस्कृति में बहुत से ऐसे वृक्ष हैं जो पूजनीय माने जाते हैं और जिनकी पूजा बड़ी श्रद्धा से होती है। इन वृक्षों में कुछ तो संसार-प्रसिद्ध एवं बहुसंख्यक व्यक्तियों द्वारा पूजित हैं, कुछ की पूजा गौण रूप से होती है और कुछ केवल पवित्र माने जाते हैं।

प्राचीन काल में जब लोग वृक्षों के नीचे रहते थे, तब वे वृक्षों का बड़ा सम्मान करते थे। शान्ति के लिए जिस प्रकार इन्द्र, वरुण आदि देवताओं की प्रार्थना करते थे, उसी प्रकार वृक्षों की भी प्रार्थना करते थे—"वनिजो भवन्तु शं नो" (ऋग्वेद ७, ३५, ५) अर्थात् वृक्ष हमारे लिए शान्तिकारक हों। ब्राह्मण ग्रंथों एवं उपनिषदों में तो पवित्र वृक्षों के नाम तक गिनाये गये हैं। यज्ञ का जीवन वृक्षों की लकड़ी को ही माना गया है। यज्ञों में समिधा के निमित्त बरगद, गूलर, पीपल और पाकड़ इन्हीं वृक्षों की लकड़ियों को विहित माना गया है और कहा गया है कि ये चारों वृक्ष सूर्यरश्मियों के घर हैं (एते वै गन्धर्वाप्सरसां गृहा:, शत० १, ५. ४. १)। इन प्रधान वृक्षों के उपरान्त गौण वृक्षों की समिधा का उल्लेख करते हुए कहा गया है कि पलाश, मदार, बेल और खैरा के वृक्ष भी यज्ञ के योग्य हैं, इसलिए इन्हीं वृक्षों की समिधा होती है।

पालि ग्रन्थों में तो स्पष्ट वर्णन है कि कुछ देवता वृक्षों पर ही रहते हैं। और इसी बात को लेकर भिक्षुओं को वृक्ष काटना मना किया गया है। जो भिक्षु किसी वृक्ष को काटता है उसे 'पाचित्तिय' (=प्रायश्चित) दोष होता है। विनय पिटक में इसी सम्बन्ध में एक कथा आयी है। एक समय भगवान् बुद्ध आलवी नगर के अग्गालव चैत्य में विहार करते थे। उस समय आलवी के एक भिक्षु ने विहार बनाने के लिए एक वृक्ष काटना आरम्भ किया। उस वृक्ष पर रहने वाले देवता ने भिक्षु से कहा—"भन्ते, अपने भवन को बनाने के लिए मेरे भवन को मत काटिये।" भिक्षु ने उसकी बात न मान वृक्ष काट डाला। देवता के बच्चे का हाथ तक कट गया। तब वह देवता बड़ा क्रुद्ध हुआ और भिक्षु को जान से मार डालना चाहा, किन्तु फिर सोचा कि मुझे ऐसा करना शोभा न देगा, क्यों न मैं चल कर भगवान् बुद्ध से कहूँ। वह तथागत के पास गया और कहा। भगवान् ने देवता को समझा कर एक अन्य वृक्ष पर रहने के लिए कहा और भिक्षुओं के लिए नियम बनाया 'जो कोई भिक्षु वृक्षों को गिरायेगा उसे पाचित्तिय होगा।' समन्तपासादिका में आचार्य बुद्धघोष ने लिखा है कि हर पक्ष में पूर्णिमा और अमावस्या को हिमालय में देवताओं की सभा होती है। उसमें देवताओं से वृक्ष-धर्म पूछा जाता है "तू वृक्ष-धर्म के अनुसार रहते हो या नहीं ?" वृक्ष-धर्म कहते हैं वृक्ष के नष्ट होने पर वृक्ष-देवता के खिन्न-मन न होने को। जो देवता वृक्ष-धर्म के अनुसार नहीं रहते हैं, उन्हें देव-सभा में प्रवेश नहीं करने देते हैं।

उक्त वर्णन से स्पष्ट है कि वृक्षों को देवताओं का निवासस्थान माना जाता है। वृक्ष-देवताओं के विमान वृक्षों के ऊपर ही रहते हैं। पालि ग्रंथों के अनुसार भगवान् बुद्ध जिस वृक्ष के नीचे बैठकर ज्ञान प्राप्त करते हैं वह परम पूजनीय होता है और उसे बोधि वृक्ष कहा जाता है। गौतम बुद्ध ने पीपल वृक्ष के नीचे बैठकर ज्ञान प्राप्त किया था, इसीलिए उसे बोधि-वृक्ष कहा जाता है। बुद्धत्व प्राप्त करने के पश्चात् भगवान् बुद्ध बिना पलक गिराये एक सप्ताह तक उसे देखते रहे और उसके उपकार का मनन करते रहे, इसीलिए सभी बौद्ध

उस बोधिवृक्ष की पूजा करते हैं। इसी प्रकार पूर्व के जितने बुद्ध हो गये हैं, उनके ज्ञान प्राप्त करने के वृक्ष भी बोधि-वृक्ष कहे जाते थे तथा उनके समय में पूजनीय थे। बुद्धवंश के अनुसार दीपङ्कर बुद्ध के समय से लेकर गौतम बुद्ध के समय तक २१ वृक्ष बोधिवृक्ष हो चुके हैं—कपित्थ (=कइँत), शाल-कल्याण, नाग, अर्जु महासोण, सरल, नीप (=बड़हर), बाँस, ककु (=करील), चम्पक, कुरवक, कर्णिकार, अशन, आँवल पाटलि (=पाकड़), पुण्डरीक (=आम), शाल (=साख), सिरस, गूलर, बरगद और पीपल।

लौरिया, जिला चम्पारन का अशोक स्तम्भ

सम्प्रति सभी बरम, डीह, काली आदि के चौरा वृक्षों के नीचे ही बनाये जाते हैं। वृक्ष ही उनके वास-स्थान समझे जाते हैं। जहाँ के वृक्ष सूख जाते हैं, झट वहाँ नये वृक्ष लगा दिये जाते हैं, नहीं तो देवता के अन्यत्र चले जाने का डर रहता है। भूत-प्रेतों का निवास भी वृक्षों पर ही माना जाता है। बुद्ध-काल से पूर्व भी ऐसी मान्यता थी। सुजाता ने तपस्वी सिद्धार्थ को बरगद वृक्ष का देवता समझ कर खीर-दान दिया था। उसने पहले से ही वृक्ष-देवता से मनौती मानी थी। धम्मपद में आई चक्खुपाल की कथा में वर्णित है कि चक्खुपाल के पिता महासुवर्ण ने एक वृक्ष पर देवता जानकर उसकी पूजा की थी, तथा मनौती मानी थी, जिसके आनुभाव से उसने पुत्ररत्न प्राप्त किया था।

गाँवों के पक्के कुँओं का विवाह आम्र वृक्ष के साथ किया जाता है और लकड़ी का ही कूप-देवता बनाया जाता है। विवाह आदि में उन्हीं कुँओं की पूजा होती है और प्रत्येक दूल्हा को भाँवर लगानी पड़ती है जो कि विवाहित होते हैं।

वाटिका-विवाह प्रसिद्ध ही है। जब कोई व्यक्ति नया बाग लगाता है और जब बाग के वृक्ष फलने लगते हैं, तब वह बाग लगानेवाला व्यक्ति उस समय तक उसके वृक्षों के फल नहीं खाता है, जब तक कि वह वाटिका-विवाह न कर दे। वाटिका-विवाह में बाग के दो आम्र-वृक्ष, जो एक दूसरे के अति-समीप रहते हैं, राजा-रानी मान लिये जाते हैं और उनका विवाह-कार्य विधि-पूर्वक सम्पन्न कर दिया जाता है।

आजकल पीपल, आम, बर्गद, आँवला सिरस, गूलर, नीम, बेल, बाँस, देवदारु और चन्दन के वृक्ष पवित्र माने जाते हैं। इनमें पीपल सबसे पवित्र माना जाता है और इसकी सर्वाधिक पूजा होती है। इसके जड़ से लेकर पत्र-पत्र तक में देवताओं का वास माना जाता है। यह ब्रह्मा, विष्णु एवं महेश का एकीभूत रूप समझा जाता है। बौद्ध जनता इसे बोधि वृक्ष कह कर पूजती है तथा हिन्दू बासुदेव। इसकी शाखा या पत्ती तक नहीं तोड़ी जाती है। पीपल वृक्ष के समान समादृत एवं पूजनीय अन्य एक भी वृक्ष संसार में नहीं है। इसे तिब्बत में 'लालचङ्' कहते हैं। जब इसके पास पहुँचा जाता है तब सिर की टोपी उतार दी जाती है और 'शोलो-शोलो' कहा जाता है। इसकी जड़ पर दो-चार छोटे-छोटे सफेद पत्थर के टुकड़े डाल दिये जाते हैं। इसकी जड़ को लाल रंग से रंग डालते हैं। भारत की भाँति वहाँ भी ऐसी भावना है कि जो व्यक्ति 'लालचङ्' वृक्ष को काटता या नष्ट करता है उसे कोढ़ फूट जाता है। मुक्तिनाथ प्रदेश में पीपल-वृक्ष को 'शोल बो' कहा जाता है और उसकी पूजा की जाती है। नेपाल में भी वंगल सिमा (= पीपल) का बड़ा सम्मान किया जाता है। लंका, बर्मा, स्याम, कम्बोडिया, लोअस आदि में भी यही भावना है और उन देशों में इसे बोधि वृक्ष कहकर पूजा जाता है।

पीपल वृक्ष औषधि के काम में भी आता है। फोड़े-फुंसी तो इसकी छाल से अच्छे ही हो जाते हैं। पत्तियों से भी बड़े-बड़े घाव तेल के साथ प्रयोग करके ठीक कर दिये जाते हैं। इसकी सबसे बड़ी उपयोगिता तो उस समय देखी जाती है जब कि पीपल की लकड़ी से सर्पदंश से मरता हुआ व्यक्ति जीवन लाभ कर लेता है। देहातों में प्रायः लोग सर्प द्वारा डसे हुए व्यक्ति से पीपल की लकड़ी के सहारे ही बात करके सर्प के आकार, गोत्र, डँसने का स्थान, कारण आदि सब जान लेते हैं। इसे 'पीपल जड़ी' नाम से पुकारते हैं। 'पीपल-जड़ी' की विधि यह है—जब किसी व्यक्ति को साँप ने डँसा हो और विष सारे शरीर में प्रवेश कर गया हो, अन्य दवाएँ काम न करती हों, तब पीपल की दो-चार अंगुल की फुनगी तोड़ लानी चाहिए और उसके छिलके को छुड़ा देना चाहिए। इस कार्य को गुप्तरूप से करना चाहिए, ताकि दूसरे लोग न जान पायें। सब लोग इसे 'जड़ी' ही समझें। उन्हें ले जाकर रोगी के दोनों कानों के पास बलपूर्वक पकड़ कर सटाना चाहिए, यदि कान में करे, तो और भी उत्तम है, किन्तु ध्यान रहे कि रोगी के शरीर का विष उस जड़ी को अपनी ओर खींचने लगता है और जड़ी विष को। यदि बल पूर्वक नहीं पकड़ा जायेगा, तो जड़ी दोनों ओर से विष द्वारा खींची जाकर रोगी के चमड़ों में या कान में धँसने लगेगी। उनके स्पर्श होते

ही रोगी चिल्लाने लगेगा और जड़ी विष खींचने लगेगी। उस समय रोगी से जो कुछ पूछा जायेगा, बकने लगेगा। देहातों में केवल बका कर ही जड़ी छुड़ा देते हैं और मन्त्र के प्रयोग से विष दूर करते हैं। किन्तु उचित तो यह है कि जब रोगी चिल्लाने लगे, तब वहाँ से लोगों को हटा देना चाहिए, क्योंकि वह अपने पूर्वकृत कुकर्मों को बकने लगता है। जब जड़ी सब विष खींच लेती है, तब उसका खिंचाव अपने आप ही रुक जाता है। 'पीपल जड़ी' को सुखा कर भी रखा जा सकता है और समय पर प्रयोग में लाया जा सकता है।

पीपल की छाल से निकाले हुए रंग को ही काषाय रंग कहते हैं, जिससे भिक्षुओं का चीवर रँगा जाता है। पीपल की छाल से रंग बनाना प्रत्येक भिक्षु जानता है। ऐसे ही आम, कटहल और बरगद से भी।

आम वृक्ष के नीचे पेशाब-पाखाना नहीं किया जाता है। उसे देवता का वासस्थान माना जाता है। आम की मंजरियों के विशेष प्रयोग से आदमी के हाथ में एक ऐसी शक्ति आ जाती है जिससे कि डंक मारे हुए बिच्छू के विष को हाथ दिखाते ही उतारा जा सकता है। इसके फल का गुण सभी जानते हैं। बरगद भी देवताओं का वास माना जाता है। इसके दूध से फोड़े-फुंसी और कटे हुए घाव अच्छे हो जाते हैं। पत्तियों से भी जहरबाद आदि रोगों को शान्त करते हैं। सिन्दूर के साथ इसके दूध को आँख में डालने से आँख की फूली कट जाती है। आँवला का वृक्ष इतना पवित्र माना जाता है कि कार्तिक मास में पुण्यहेतु इसके नीचे भोजन बना कर दूसरों को खिलाते तथा दान देते हैं। महाराज अशोक ने मरते समय भिक्षुसंघ को आँवला ही दान दिया था (अड्ढामलकमत्तस्स अन्ते इस्सरतं गतो)। आँवला का औषधि-प्रयोग सर्वविदित ही है। त्रिफला का योग सर्वरोग नाशक माना गया है, जिसमें आँवला की अपनी विशेष महत्ता है। सिरस के पञ्चांग से ज्वर आदि रोगों की महौषधि तैयार की जाती है। नीम का प्रत्येक अंग ही औषधि है। इसीलिए नीम पर काली आदि देवियों का निवास माना गया है। दातौन का महत्वपूर्ण कार्य नीम वृक्ष से ही सिद्ध होता है। जो पूतिलता (गुरुच) नीम के वृक्ष पर चढ़ी नहीं होती है, वह लाभदायक नहीं होती। जब कोई व्यक्ति नदी में स्नान करके आता है या किसी प्रकार का पुण्य कर्म करके गूलर वृक्ष के पास से होकर जाता है तब वह नृसिंह का नाम लेता है ताकि गूलर से उसके पुण्यों की रक्षा हो। गूलर का वृक्ष मानव जीवन के लिए महा-उपयोगी है। 'गूलर गुण विकास' नामक ग्रंथ में इसकी विभिन्न औषधियों का वर्णन है। क्षय रोग के लिए इसके समान महौषधि कोई नहीं है। बेलपत्र शंकर जी का आहार ही माना गया है और इसकी लकड़ी की उपमा चन्दन से की जाती है। इसका फल महा गुणकारी है। इसकी छाल, पत्तियों एवं फूलों से औषधियाँ बनायी जाती हैं। इसके फूलों की चाय बड़ी स्वादिष्ट होती है। लंका में इसका बड़ा प्रचलन है, वहाँ बेल के फूलों से बनी चाय को बेलिमल कहा जाता है। बाँस की उपयोगिता सब लोग जानते हैं और यह भी जानते हैं कि जब पानी नहीं बरसता है, तब गाँव की अविवाहिता कन्याएँ बाँस को पकड़कर "बरखू! बरखू !!" पुकारती हैं। और, उनका विश्वास है कि ऐसा करने से अवश्य वर्षा होती है। वंशलोचन बाँस से ही प्राप्त होता है, जो अनेक औषधियों में प्रयुक्त होता है।

देवदारु देवताओं का वृक्ष माना जाता है। लाहुल में इसे ही 'शुरु बूटा' कहते हैं। देवदारु के जिस वृक्ष की पूजा की जाती है उसे 'शद् बूटा' नाम से पुकारते हैं। 'शद् बूटा' का अर्थ है देववृक्ष। भारत में देवी-देवताओं को जो आहुति दी जाती है, उसमें इसी की लकड़ी का प्रयोग करते हैं। इसकी सुगन्धि देवताओं को बड़ी प्रिय होती है। चन्दन अपने गुणों के लिए प्रसिद्ध ही है। यह विभिन्न औषधियों में प्रयुक्त होता है। श्रमण-वर्ग का तो यह प्रिय वृक्ष है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि पूजनीय एवं पवित्र माने जानेवाले वृक्षों के अनेक गुणों को देखकर ही उन्हें देवता या देव-निवास माना गया है। उनके अलग-अलग गुण हैं और उनका वर्णन भी अलग-अलग अपेक्ष्य है।

मैंने यहाँ उनका उल्लेखमात्र किया है। ये वृक्ष पूजनीय हैं, किन्तु सांसारिक मुक्ति पाने के लिए नहीं,

प्रत्युत रोगों से मुक्ति पाने के लिए। इनकी पूजा और सेवा भौतिक कल्याणार्थ अपेक्षित है न कि पारलौकिक। वृक्षपूजक अग्निदत्त को भगवान् बुद्ध ने उपदेश देते हुए इसीलिए कहा था—

बहुं वे सरणं यन्ति पब्बतानि वनानि च।
आराम रुक्ख चेत्यानि मनुस्सा भय तजिता॥
नेतं खो सरणं खेमं नेतं सरण मुत्तमं।
नेतं सरणमागम्म सब्बदुक्खा पमुच्चति॥

मनुष्य भय के मारे पर्वत, वन, उद्यान, वृक्ष, चैत्य (=चौरा) आदि को देवता मानकर उनकी शरण में जाते हैं, किन्तु ये शरण मंगलदायक नहीं, ये शरण उत्तम नहीं, क्योंकि इन शरणों में जाकर सब दुःखों से छुटकारा नहीं मिलता।

हिमालय में भारतीय गौरव-गान

श्री धर्मरत्न यमि, नेपाल

[एवरेस्ट विजेता तन्-जिन् नोर्गो के गाँव सोलो-खम्पो से थोड़ी दूर पर एक कलापूर्ण गुम्बा (विहार) है। जहाँ कुछ लामा अपने शिष्यों को धर्म के साथ-साथ योगाभ्यास कराते आये हैं। उत्तरी नेपाल के अनेक गुम्बों से यह गुम्बा विशेष भव्य एवं महत्वपूर्ण है। इस गुम्बा में शाक्यसिंह, महामंजुश्री और पद्मसम्भव की मूर्तियाँ हैं। इन मूर्तियों को अपनी श्रद्धाञ्जलि अर्पित करने के लिए प्रत्येक प्रान्त से श्रद्धालु एवं भक्त जनता आती है।]

वैशाख मास बीत रहा था। पत्र-रहित वृक्षों पर नव-पल्लव आच्छादित हो चुके थे। हिमाच्छादित पर्वत-माला चमक रही थी। हरित-भरित नीलिमामयी गिरि-मेखला हिमगिरि की शोभा बढ़ा रही थी। शेर्पा उपासक-उपासिकाओं की 'आर्य तारा स्तुति' बड़ी सुहावनी एवं चित्ताकर्षक विधि से हो रही थी। भक्तों का समूह गा रहा था—

'आर्यतारा दिवि दैवि विद्याराज सहस्रकै निसेवितः ···नाना निर्झर झंकरे नाना मृग समाकुले नाना कुसुम जातिभिः समन्तात् अधिभाषिते···।"

नाना झरने झर-झर के गान गा रहे थे। अनेक मृग और मृगशावक खेलकूद रहे थे। विभिन्न जाति के फूलों से प्रवाहमान सुगन्धियाँ दिशा-विदिशा में व्याप्त हो रही थीं। विभिन्न प्रान्तों से आये हुए सिद्ध मुनि, ज्ञानी, ध्यानी लामा लोग सूत्र पाठ कर रहे थे। गृहस्थ-जन अनेक व्यञ्जन सहित भोजन तैयार कर धूप-दीप बना रहे थे। गुम्बा का वह रम्य प्रदेश भक्ति एवं श्रद्धा का केन्द्र बन गया था। सभी सौम्य, शान्त एवं दया की मुद्रा में निमग्न हो सो रहे।

× × ×

दूसरे दिन तमाच्छादित गगन को चीरती हुई सूर्य की किरणें निकलीं। चारों ओर से एक साफ शब्द सुनाई देने लगा—'दशबल तव नित्यम् सुप्रभातम्! प्रभातम्!!' नव-चीवर-सुसज्जित अगणित भिक्षुओं ने श्रद्धा-भाव से निमिलित नयन और नत-मस्तक हो पञ्चम स्वर में भारतीय गौरव-गान गाया—"ग्या-गार-पेन्-छेन्-वोद्-ला, का-दिन् छे···!!!" (भारतीय महापण्डितगण तिब्बत के लिए महाकारुणिक हैं)।

× × ×

सभी नर-नारी अपने-अपने घर से निकल कर गुम्बा के प्रांगण में एकत्र हुए। दक्षिणोन्मुख वज्रासन पर लामा विराजमान हुए। सभी बैठ गये।

२ बजे का समय था। धूप कुछ कम हो चली थी। वातावरण शान्त था। लामा ने दोनों हाथ को मिलाते हुए "कुन्-छोग-सोम-ला, छाग-छालों!" (त्रिरत्न की शरण जाता हूँ) कहा। सभी ने इसे दुहराया। लामा ने अपनी आँखें बन्दकर लीं और कहना आरम्भ किया।

"आज के दिन की बड़ी महिमा है। आज ही के दिन महामाया देवी की कोख से सिद्धार्थ गौतम उत्पन्न हुए थे। आज ही के दिन उन्होंने बुद्धगया के बोधिवृक्ष

के नीचे बुद्धत्व प्राप्त किया था और आज ही के दिन तथागत ने महापरिनिर्वाण-लाभ किया था। इसलिए आज का दिन अज्ञान और अहंकार से ढँके विश्व के लिए महत्वपूर्ण है। यदि सिद्धार्थ गौतम उत्पन्न न होते तो बुद्ध-ज्योति प्रकाशित न होती, हम पोथी-पत्रों के गुलाम बने रहते, स्वतन्त्र विचार हममें नहीं आता, हम भी दूसरे लोगों की भाँति धर्म के नाम पर, ईश्वर के नाम पर, शास्त्र प्रपंच के जाल में पड़कर भयंकर साम्प्रदायिक काट-मार करने वाले होते। यदि बुद्ध ने निर्वाण को न प्राप्त किया होता तो अनित्य-अनात्म की भावना से वंचित होकर हम सब अहंकारी बने फिरते, एक दूसरे से घृणा, द्वेष, ईर्ष्या करके अपने को उच्च और दूसरे को नीच समझते। भगवान् बुद्ध ने इन सब बुराइयों से हमें निकाल कर सन्मार्ग दिखला दिया। बुद्धों का प्रादुर्भाव भारत में ही होता आया है। भारत ही बुद्धों की कर्मभूमि है। हमें भारत में ही जन्म लेने की कामना करनी चाहिए। शान्त-चित्त, ध्यानस्थ, महाकारुणिक, बहुजन हितकर, धर्मचक्र-प्रवर्तक, तथागत, समन्तभद्र, शास्ता, शाक्यसिंह को हमें बार-बार पञ्चांग प्रणाम् करना चाहिए।"

लामा ने मूर्ति के सामने पंचांग प्रणाम् किया। सभी उपासक-उपासिकाओं ने उनका अनुसरण किया। अन्त में लामा ने यह कहते हुए बुद्ध-पूजा प्रारम्भ की—"ग्यागार-पेन-छेन्-वोद-ला कादिन-छे" (भारतीय महापण्डित तिब्बत के लिए महाकारुणिक हैं)।

कहानी

छन्नक और सिद्धार्थ

डा० प्रेमसिंह चौहान 'दिव्यार्थ'

कृषि-महोत्सव का मांगलिक पर्व, शाक्य कुल का विख्यात् आह्लादकारक त्योहार विशेष उत्साह से मनाने में कपिलवस्तु का राजकुल से लेकर साधारण से साधारण जनतक उल्लास के साथ सज-धज में तल्लीन हो रहा है। नगर की सजावट आज उसके वैभव को चित्रित कर रही है। आज वह अलकापुरी से होड़ लगा रही है। स्त्री, पुरुष, बालक, युवा, वृद्ध सब की वेष-भूषा और सजावट, बनावट मनोमुग्धकारी और वर्णनातीत है। बालक सिद्धार्थ का श्रृंगार माता गौमती ने फूलों और रत्नों के समन्वय से चित्रित परिधानों पर कलात्मक रूप से स्वयं किया है। देवकुमार के सदृश सिद्धार्थ को गोद में लिये वह अनेक राज-रमणियों से सम्मानित सम्वेष्टित महोत्सव भूमि में पधारी हैं।

वृषभों को स्वर्ण रत्नजटित परिधानों से अलंकृत कर होड़ लगाये शाक्य राजकुल के सम्मानित पुरुष स्वर्णफालयुक्त सुन्दर हलों का प्रदर्शन-प्रचालन कृषि भूमि में कर रहे हैं। सुमधुर वाद्यों के साथ कुल-देवियाँ मांगलिक घटों को सिर पर उठाये पुष्पदीप की आभा में उत्सवगान कर रही हैं। राजकन्यायें नृत्य कला-प्रदर्शन द्वारा देवबालाओं की कुशलता का परिचय दे रही हैं। जैसे समस्त संसार का आह्लाद इस भूमि पर सिमिट कर एकत्र हो गया है। महाराज शुद्धोदन का हलचालन वेगवान है। मुकुट की मणि-मुक्ता मालायें हलचालन-वेग से झिलमिला रही हैं—उत्तरासंग भूमि पर घिसटता जाता है, बिना सम्हाले वह अपने कौशल में व्यस्त हैं। अन्य राजपुरुष भी अपने इस कौशल में उन्मत्त हैं। राजकुमार सिद्धार्थ इस आमोद से जैसे विरक्त हैं, उनका चित्त इस उत्सव में भाग नहीं ले रहा है। मौका पाकर वह धीरे से खिसक गये, और सन्निकट एक जामुन वृक्ष की सुन्दर शीतल छाया में ध्यानस्थ हो जा बैठे।

महारानी गौतमी का ध्यान जैसे एकाएक भंग हुआ। सहसा बोल उठीं—सिद्धार्थ! अरे कहाँ गया—देखो तो कोई। यत्र-तत्र, भीड़ में राजकुमार का पता नहीं। खलबली मच गई—राजकुमार-राजकुमार। उत्सव में जैसे

विघ्न आ गया—सारा मधुर दृश्य जैसे एकाएक विषाद में बदल गया। कार्य स्थगित करके सब इधर-उधर राजकुमार की खोज में दौड़ पड़े। महारानी की आँखें डबडबा आईं। सम्मुख खड़े महाराज से बोलीं—आर्य-पुत्र! मेरे प्रमाद के कारण न जाने सिद्धार्थ कहाँ चला गया। शीघ्र खोज कराओ। तुम्हारे पाँव पड़ती हूँ। मेरा चित्त विकल हो रहा है। वेदना को सम्हालते भर्राये स्वर में महाराज ने कहा—शान्त रहें देवी! यहीं कहीं निकट होगा। व्यक्ति सब ओर तो दौड़ पड़े हैं, कातर न हों। इसी समय एक तरुणदासी ने दौड़ते आकर कहा—कुमार जामुन के नीचे बैठे ध्यानस्थ हैं। आश्चर्य कि उनका मुख-मण्डल ऐसी आभा से प्रदीप्त है कि नेत्र ठहर नहीं सकते।

उतावली होकर महारानी उधर दौड़ पड़ीं—अस्त-व्यस्तवसना, विक्षिप्त-सी। वैसे ही महाराज शुद्धोदन। परन्तु जामुन के पास पहुँच कर वे कुमार को शीघ्र गोद में उठा लेने की चेष्टा न कर ठिठक गये। राजकुमार ध्यान-मुद्रा में तल्लीन थे, प्रभामण्डल व्यामप्रमाण आलोकित हो रहा था, भूमि से वह कुछ ऊपर उठे थे। जनसमूह एकत्र हो गया और निस्तब्ध आश्चर्य मुद्रा से राजकुमार को देखने लगा। सभी ने प्रायः उस तेजपुंज को प्रणाम् किया। आगे क्या होता है, सब प्रतीक्षा करने लगे। राजपुरुषों में चर्चा हो उठी—विलक्षण है, राजकुमार। अरे, ठीक महर्षि कालदेवल ने कहा था—वह बुद्ध होगा, बुद्ध। शुद्धोदन को यह आशा छोड़ देनी चाहिये कि वह राजमुकुट धारण करेगा।

अरे, जगत का प्रभु! क्षुद्र राजमुकुट धारण करेगा। व्यर्थ है ऐसी कल्पना। महाराज शुद्धोदन आश्चर्य-चकित दृश्य देखते, तथा यह चर्चा सुन रहे थे। प्रजापती गौतमी तो संज्ञारहित-सी हो रही थी। धीरे-धीरे प्रभामण्डल कुमार की मुद्रा से विलीन होने लगा। शनैः शनैः वह भूमि पर आया। नेत्रों को खोला। देखा, जनसमूह घेरे खड़ा है। मुस्करा कर कुमार ने कहा—क्या है? पूज्यवरों ने उत्सव क्यों भंग कर दिया? कुमार के शब्द सुनकर जैसे प्रजापती को होश आया। दौड़ कर कुमार को गोद में उठा लिया। मुख चूमती विह्वल स्वर में बोली—मेरे बच्चे, सिद्धार्थ!

महाराज ने दीर्घशंकित हृदय से तब छन्नक से धीरे से कहा—सावधान छन्नक! छाया की तरह कुमार के साथ रहो। मुझे भय हो उठा है कि यह गृहत्याग करेगा। तुम्हारा सारा प्रयत्न इसे राजगुण मार्ग पर लाये—यही तुम्हारा कौशल होगा। सिद्धार्थ के सखा! यद्यपि हम सब प्रयत्नशील रहेंगे, परन्तु विशेष रूप से यह दायित्व तुम पर छोड़ता हूँ। छन्नक ने कहा—सदा प्रयत्नशील रहूँगा महाराज!

उत्सव विसर्जन हो गया। चर्चा-विशेष करती भीड़ धीरे-धीरे छट चली। महारानी गोद में कुमार को लिए बिना यान ही पैदल नगर की ओर चल पड़ीं। महाराज शुद्धोदन, छन्नक तथा वरेष्ठ राजपुरुष उनके पीछे-पीछे चल पड़े। महारानी ने राजपथ से चलते प्रजा के अनेकानेक स्वागत अभिवादन प्राप्त कर राजभवन में प्रवेश किया, तब दुंदुभि, तूर्यादि राजवाद्य की ध्वनि सारे नगर में ध्वनित हुई। सर्वत्र नगर में आज राजकुमार के ध्यान की चर्चा थी। अद्भुत है राजकुमार! आश्चर्य है! अवश्य वह बुद्ध होगा। हाँ, महर्षि कालदेवल का वाक्य है—तपस्वी असितमुनि भविष्यदर्शी है। अवश्य, अवश्य, अरे, हम कपिलवस्तु वाले कितने भाग्यशाली हैं। भाई! हम सब तो प्रायः सद्गति पा चुके। हमारे पाप धुल गये। यह पूर्व संस्कार हमारे हैं—हमने भावी बुद्ध के दर्शन पा लिये। शुद्धोदन और गौतमी तो इन्द्र-इन्द्राणी हैं। नहीं, ब्रह्मा-ब्रह्माणी। आदि चर्चा से नगर गुंजायमान रहा।

× × ×

बालार्कमण्डल की किरणें राजकुमार के मुखमण्डल पर पड़ रही थीं। मुकुट की देदीप्त किरणें मणियों से प्रभासित होकर पृष्ठभूमि को इन्द्रधनुष के रंगों से रँग रही थीं। गम्भीर मुद्रा से कुमार जैसे सजग हो उद्यान-पाल की ओर देखकर सुस्मित वाणी से अमृत-सा निर्झर करते हुए बोले—भद्र उद्यानपाल! क्यों इन सुन्दर पुष्पों को तोड़कर मालाकार ग्रंथित कर दिया। जितने

सुन्दर यह लता-शाखा पर उत्फुल्ल थे, वैसे तो अब यह नहीं रहे।

सम्मान्यवर ! पुष्पमाला आप आर्य के वक्षस्थल को सुशोभित कर धन्य हो जायेगी। सुरभित सुमनावली आप आर्य को सुखद होगी। आप इसे धारण करें। तुच्छ सेवक का यह उपहार आप स्वीकार करें। उद्यानपाल ने विनयपूर्वक कुमार को उत्तर दिया।

सौम्य उद्यानपाल ! यह कोमल कुसुमावली हृदय पर धारण करने के कुछ क्षण बाद कुम्हला जायेगी। प्रभा नष्ट हो जायेगी और तब सुगन्धि दुर्गन्धि में बदल जायेगी। ऐसे उपहार का उपक्रम तो व्यर्थ ही किया। आह ! कुछ मुहूर्तों के बाद यह सुन्दर सुमनावली कचरे के ढेर में फेंक दी जायेगी। इसका पुष्पराग घूरे में परिवर्तित हो जायेगा। ओह, परिवर्तन-गति कैसी विचित्र है ! वे पुनः गम्भीर हो गये। कुछ क्षण बाद बोले—उद्यानपाल ! भविष्य में मुझे पुष्पमाला भेंट न करो, मैं अनुरोध करता हूँ। इन्हें डाल पर ही विहँसने का अवसर दो।

दुखित-सा उद्यानपाल बोला—श्रीमान् ! डाल पर भी इन पुष्पों की अन्तिम अवधि वही है—सूख कर झड़ जाना। अतएव श्रीमानों का श्रृंगार पुष्पाभरण से समुचित माना गया है। आखिर नष्ट होने से पहले इनका उपयोग समुचित कर लेना विद्वान् श्रीमानों का काम है।

"विद्वान् श्रीमानों का काम है।" उद्यानपाल के इन शब्दों को दोहराते हुए वे रविशों पर धीरे-धीरे टहलने लगे। मुद्रा गम्भीर थी। उत्तरासंग शिथिल होकर भूमि पर घिसट रहा था। कुमार को इसका ध्यान न था। माली ने धीरे से कहा—

देव ! उत्तरासंग धूलि-धूसरित हो रहा है। मान्यवर का बहुमूल्य परिधान।

सजग होकर कुमार ने कहा—हाँ, हाँ ! अरे, यह तुम्हारा उपहार, लो यह उत्तरासंग तुम धारण करो, सौम्य उद्यानपाल ! कहते हुए उत्तरासंग शरीर से खींच कर माली की ओर हाथ बढ़ाया। निषेधात्मक विनय से हाथ जोड़कर माली ने कहा—

राजवस्त्र, इस क्षुद्र को धारण करने को कह रहे हैं आर्य ! राजकुल की मर्यादानुसार मुझे यह सर्वदा वर्जनीय है......।

वे अनिच्छुक माली के वाक्य पूरा करने से पहले बोल उठे—माली ! ऐसा भी नियम है ? छाया की तरह पीछे रहनेवाले छन्नक ने उत्तर दिया—

कुमार ! आपकी उदारता और प्रेम विख्यात है। लेकिन माली ठीक कह रहा है। तो छन्नक ! हिरण्यादि तो सब ग्रहण करते हैं, फिर वस्त्र का क्यों निषेध है ?

मान्यवर ! वस्त्राभरण कुलों के मर्यादा-चिह्न हैं। राज-आभरण को भृत्य लोग धारण नहीं कर सकते।

बड़ी विडम्बना है छन्नक ! वेश-भूषा में भी असमानता ? मानव समाज में भेद-भाव !

समाज का नियम है—श्रीमान् ! वह विभागीय वर्गों में गठित किया गया है।

हूँ। खैर, पर तुम्हारे द्वारा बार-बार मान्यवर, श्रीमान् आदि मुझे अच्छा नहीं लगता छन्नक ! और मैं चाहता हूँ कि मुझे इस प्रकार कोई सम्बोधन न करे।

नहीं हो सकता श्रीमान् ! यह राजकुल-सम्मान की मर्यादा है।

परन्तु मुझे इससे क्लेश होता है। क्या सिद्धार्थ कहने से तुम्हारा काम नहीं चलता ?

अविनय द्वारा मर्यादा-भंग करने को कोई भद्र तैयार नहीं। आज आप का कैसा विचार है—छन्नक ने अनुतापित हृदय से कहा।

मानव की समानता में मर्यादा बड़ी अकुशल है। अच्छा होता कि मैं राजकुमार न होता। राजकुमार के यह शब्द सुनकर माली और छन्नक आँख फाड़कर उनकी ओर देखने लगे। वे गम्भीर हो गये। बोले—छन्नक चलो, उद्यान में चित्त नहीं लगता।

कहाँ चलना है श्रीमान् ? छन्नक ने पूछा।

शाक्यकुल की राजसभा में। मेरे कुछ प्रश्न होंगे—पण्डितजनों से।

विषय क्या होगा ?

यही मानव समाज की विकृत श्रृंखला।

बड़े भोले महाराज कुमार ! राजसभा इन प्रश्नों पर विचार नहीं कर सकती।

नहीं कर सकती ?

हाँ श्रीमान् !

क्यों ?

पूर्वापर नियम हैं। और आज क्या तो राजकुल, अपितु किसी जाति का समाज भी इस पर चिन्तन नहीं कर सकता।

ठीक ! इनका स्वच्छन्द प्राणी ही विचार कर सकता है।

असम्भव ही है—छन्नक ने कहा।

खैर अब यह विषय हमारी अपनी सीमा का नया विषय होगा।

× × ×

छन्नक ! इस व्यक्ति को क्या हो गया ? श्वेत केश, त्वचा में झुर्रियाँ, झुककर लकड़ी के सहारे चल रहा है।

देव ! यह बुड्ढा हो गया है। कभी यह भी बालक था, युवा हुआ था। धनुष की प्रत्यंचा की टंकार से दिशाओं को गुंजायमान कर देता था। शौर्य और पराक्रम द्वारा बड़े-बड़े युद्धों का मान-भंजन किया है। परन्तु अब यह जीर्ण हो गया है, अपना शरीर-भार सम्हालना भी अब इसे मुश्किल है। काल का यही प्रमाण है।

क्या यह बात सबके लिए है ?

प्राणिमात्र पर अनिवार्य। यह प्राकृतिक नियम है।

ओह ! व्यर्थ है यह मानव जीवन। व्यर्थ का भार अवधियों से गुजर कर यह मानव ढो रहा है। छन्नक ! उस दिन मुझे बड़ा अनुताप हुआ था, जब देवदत्त ने निरीह हंस को बाणविद्ध कर डाला था। हाय, उस सुन्दर प्यारे हंस ने देवदत्त का क्या बिगाड़ा था। वह घटना विस्मृत नहीं हुई थी कि यह दृश्य देखकर तो मैं ग्लानि से भर उठा हूँ। प्रकृति के नियम को धिक्कार है जो प्राणियों पर उत्पात करती है।

क्या कहूँ श्रीमन् ! संसार की परम्परा ही ऐसी है। राजधर्म और क्षात्र-धर्म भी।

परम्परा ! राजधर्म और क्षात्र-धर्म भी क्या कहते हो छन्नक !

हाँ, क्षात्रधर्म आर्यपुत्र ! विडम्बना आपको बहुत सता चुकी—लगता है। अन्यथा राजन्य क्षत्रिय के जगमग मुकुट की शोभा उसके लक्ष्य वेध पर ही अवलम्बित है। उस शिक्षा की परम्परा लघु से गुरु होती है।

छन्नक ! छन्नक !! क्या कहा ? मैं इसे ठीक से जान न सका।

आर्य ! यह आर्यकुमार लक्ष्य भेद की क्रिया उसी प्रकार शनैः शनैः प्राप्त करते हैं—जैसा देवदत्त का उपक्रम था।

छन्नक ! हाय, तुम क्या कह रहे हो ?

महाराज कुमार ! यह क्षात्रधर्मीय लक्ष्यभेद की परम्परा।

कैसी ?

कि लक्ष्य भेदी कुमार पहले पक्षी, फिर साधारण पशु और उपरान्त कठोर पशु पर लक्ष्य कर कठोर प्रहार करता है। सीधे किन्तु छली पशु मृग को वेध कर क्षत्रिय कुमार फिर बराह पर अनुसन्धान करता है, कि वह चोट खाकर आक्रामक बनता है।

अरे कैसा छन्नक ! यहाँ तुम अनूठा प्रसंग लाये—क्या कारण ?

कारण कि शूकर चोट सहकर स्व-शक्ति से प्रहार करता है। क्षत्रिय कुमार उसे निवृत्त कर उसका शक्ति पूर्वक बध करता है।

बध करता है ? हाय क्यों ? क्या वह भी शूकर की नियति ही बन जाता है। छन्नक ! कैसा यह क्षात्र-कीर्ति-कलाप !

महिम ! वह उस प्रहार को सहकर, बचकर, लक्ष्य-वेध कर युद्ध-कला सीखता है। साहस का इन्द्र बनकर तब वह वनराज महासिंह से आखेट युद्ध में विजय लाभ कर पुरुष सिंह बनता है। पौरुष की पराकाष्ठा सिंह दमन है। यह कला साधारण नहीं।

तो यह कला है। कैसी कला ? पशु विजय कला है ?

कुमार ! तब वह युद्ध में पौरुष प्रदर्शित करता है। कवच को वेध कर वीर पुरुष के हृदय के पार शरविद्ध कर विजय-रणश्री का वरण करता शक-बंधी क्षत्रिय शौर्यवान् विख्यात होता है।

मानव का हृदय वेधन कर वीर कहलाता है !

श्रीमन् ! वह वीर पुरुष अजेय बनकर सार्व-भौम सम्राट् हो सकता है। उसकी विजय-पताका चतुर्दिक फहराती है। साम्राज्य सेवी विश्व वैभव सम्पन्न वह महावीर मूर्धाभिषिक्त हो, अपार पौरुषधारा द्वारा संसार का सम्राट् बनता है। क्षत्रिय परम्परा के शौर्य का यही अन्त है।

छन्नक ! बस करो। मानव का हृदय वेधक महावीर ! पशुता से हीनता का प्रवाह लेकर पराकाष्ठा का महान् मानव हिंसक जन्तु और महावीर ! रे !!! मर गईं मानवता। उसकी बखान में लज्जा होनी चाहिये।

आप कुछ कहें, परन्तु वीर आवाहन यही है। क्षात्र-परम्परा ऐसे पौरुष को तरसती है।

छन्नक ! छन्नक !! रुधिर-पिपासु मलिनता का गौरवमय बखान रहने दे, रहने दे। वीरता तो संसार का वेधन हो सकती है।

पर, सदा से यही होता आया है। ऐसा ही होता रहेगा। ठीक है तो पूज्य !

अर्थात् जीना, मरना, रोना, काँदना, मारना और नाश करना ?

हाँ मान्यवर !

ओफ ! धिक्कार है—इस संसार को। मैं इसका प्रतिकार करूँगा।

× × ×

छन्नक ! यह समूह कैसा अनुतापित-सा गमन कर रहा है। और, यह वस्त्रों में लपेट कर पुष्पादि से अलंकृत कर लम्ब शयरा आकर में किस वस्तु को कन्धों पर धारण कर रखा है ?

आर्य ! यह शवयात्रा का समारोह है। पूर्ण आयु को समाप्त कर मानव मर गया है। इसे ज्ञाति कुलवाले श्मशान ले जा रहे हैं—दग्ध कर्म करने को।

पूर्णायु अर्थात् वृद्ध होकर अब यह मृत्यु को प्राप्त हुआ। निष्प्राण हो गया—तुम्हारे कथन का यही अभिप्राय है न छन्नक ?

हाँ कुमार ! परन्तु मृत्यु का क्रम वृद्ध होना ही नहीं है। वह बाल भी, युवा भी किसी अवस्था में मर सकता है—मरता है।

कभी भी क्यों ?

काल का अवधि-प्रमाण नहीं। मृत्यु के लिये आयु की गणना नहीं।

अर्थात् कोई कभी मर सकता है। और ऐसी घटनायें भी तुमने देखी होंगी।

देखी, सुनी, यह तो जानी समझी बात है। खेद है कि आप की माता—महामायादेवी जी आपको सात दिन का छोड़कर ही परलोक सिधारी थीं। राजकुल तथा हम सब प्रजाजन उन्हें याद कर शोकित होते हैं। खास कर ऐसे प्रसंगों पर उनकी याद तो विशेष आती है। खास कर आप के गुणों का स्मरण कर।

क्या, मेरी माँ गत हो चुकीं ? नहीं छन्नक ! मेरी स्नेहमयी माँ गौतमी हैं तो।

देव ! यह नन्द की माता आपकी विमाता हैं। उनका आप पर अटूट स्नेह हो मात्र चिन्तन का आपको अवकाश नहीं देता ! शोक ! महादेवी गत हो चुकी हैं।

ओह छन्नक ! बस करो, रहने दो। एक रहस्य का और पता चला। यह मृण्मय संसार अब तो जैसे मुझे दग्ध कर रहा है। रहने दो कथा-प्रसंग—किसी भी विषय का चिन्तन व्यर्थ है। संसार असार है। इससे बचने का उपाय सोचना ही सार है। चलो, रथ को उद्यान की ओर मोड़ दो।

× × ×

यह मलिन गुदड़ी जैसे भेष में कौन व्यक्ति है छन्नक!

महात्मन् ! यह संन्यासी है। इसने गृह त्याग किया है।

ऐसा करने का अभिप्राय ?

यह संसार से विरक्त है। मृत्यु से बचने का उपाय खोजने को इसने भिक्षाचारी जीवन अपनाया है।

छन्नक ! यह मुझे प्रिय लगता है—बुलाओ तो। इससे बात करूँगा।

नहीं श्रीमन् ! वह किसी के पास बुलाने से नहीं आता। स्वेच्छाचारी विरागी है। राजा-रंक सब समान, संसार का वैभव तृणवत् है उसे।

यह सब से बढ़ कर है। रथ खड़ा करो, मैं स्वयं उससे जा कर पूछूँगा।

कुमार के आज्ञानुसार छन्नक ने रथ खड़ा कर दिया। कुमार उतर पड़े और संन्यासी के निकट जाकर बोले— महात्मन्! मैं राजकुमार सिद्धार्थ आप का सम्मान करता हूँ।

कुमार! क्या अभीष्ट है आपका? आप के प्रति भारी श्रद्धा रखता हुआ भिक्षु मैं प्रतिवेदन में आपका सम्मान करता हूँ।

'महात्मन्! इस भेष और चर्या का कारण क्या जान सकता हूँ?

साधु, साधु, आर्य कुमार! संसार नश्वर है मुझे उससे विराग है। एकान्त-साधना में रत रह कर अमृत-प्राप्ति का उपाय खोज रहा हूँ।

क्या अन्य प्रकार से अमृत की खोज नहीं कर सकते?

नहीं। झंझट से भरे मायावी संसार को त्याग से पार पाना ही शक्य है।

ठीक! परन्तु जीविका के लिये क्या अवलम्ब है?

भिक्षाचार, कुमार! जीविका के अवलम्बन में पड़ा यह संसार मोह और झंझट से उबरने नहीं देता। अमृत प्राप्ति के लिये शुद्ध मार्ग वैराग्य ही है।

धन्यवाद! आप के सत् अभिप्राय को जाना, मुझे रुचा।

कल्याणमस्तु कुमार! सद् प्रयत्न से मृत्यु पर जय-लाभ करो।

संतोष है महात्मन्! शांति मिली आपकी वाणी से। आपका अनुकरण अभीष्ट है।

स्वस्तिपंथाः आप के द्वारा विश्व का कल्याण हो।

संन्यासी का सम्मान सम्मोदन कर कुमार पैदल ही आगे बढ़े। उनके इच्छानुसार ही छन्नक ने रथ का अनुगमन किया। प्रेम-भरे स्वर में छन्नक ने कहा—

कुमार! सदा ही आपका अनुगामी रहूँगा।

ऐसा ही हो छन्नक! मैं तेरी मित्रता का कृतज्ञ हूँ।

यह आप महिम की कृपा कि अनुचर को मित्र मानते हैं। छन्नक अन्त तक आप का अनुगामी होगा।

ऐसा ही हो छन्नक! ऐसा ही हो छन्नक!

शुभ समय का सुलाभ हो महात्मन्!

ऐसा ही हो छन्नक! ऐसा ही। दिशा प्राप्त हुई—भिक्षु का आधार।

अब रथ में आकर विराजें कुमार!

छन्नक! अपने रथ आप बनें।

क्या सुन्दर विचार हैं आपके।

विचार साकार हो, एकमात्र यही आकांक्षा है।

सुदृढ़ विचार साकार होते हैं।

वैराग्य ही सार है।

कल्याण मार्ग।

यह ऐसा ही है छन्नक! मूर्तमान वैराग्य, सिद्ध पथ वैराग्य।

× × ×

राजकुमार सिद्धार्थ ने महाभिनिष्क्रमण कर अनोमा को पार कर वैराग्य धारण किया। राज भेष उतार कर कृपाण से केशों को काट डाला। कंथक अश्व वियोग सहन न कर सका। वह स्वामि-प्रेम में बलिदान हो गया। जैसे हजारों डंक बिच्छुओं ने एक साथ छन्नक पर दे मारे। वेदना व्यथित बोला—

आर्य कुमार! मेरा जीवन किसलिये शेष है—और वह बेहोश होकर गिर पड़ा।

कुमार के करस्पर्श से उसे होश आया। बोला—देव! मैं प्रतिज्ञा बद्ध अनुगामी हूँ।

छन्नक! भावना से कर्तव्य का स्थान ऊँचा है। सिद्धार्थ की सिद्धि के बाद तुम मेरा अनुगमन करना। प्रतिज्ञा याद रहे। हाँ, परन्तु अभी जाकर पिता को मेरे अभिनिष्क्रमण का सन्देश देना। सिद्धार्थ सिद्ध-बुद्ध होकर ही कपिलवस्तु लौट सके—अन्यथा नहीं। कुमार ने छन्नक का प्रबोधन किया और कहा—यह मेरा सामयिक अनुरोध स्वीकार करो।

प्रभु-आज्ञा शिरोधार्य, परन्तु राजकुल में क्या कहूँगा, मुझे कुछ नहीं सूझता।

केवल यही जो मैंने कहा।

कुमार! वेदना विकल करती है। जीवन विदा माँगता है।

उद्देश्य के प्रति उदासीन होना भारी कायरता है। शक्ति-संचय करो छन्नक!

तुम मानव हो सिद्धार्थ ! सखा को कादरता शोभा नहीं देती।

आर्य का आदेश शिरोधार्य। परन्तु वह शक्ति भी संप्राप्त हो कि तब अनुगामी बनूँ।

ठीक है छन्नक ! ऐसा ही होगा।

राजकुमार आगे बढ़ा। छन्नक देखता रहा। आँख से ओझल होने पर बोला—जीवित शव छन्नक ! चलो कपिल-वस्तु लौटो। स्वामी के आदेश का निर्वाह करना है। पुनः अनुगमन करूगा—वे सिद्ध बुद्ध अवश्य होंगे।

× × ×

हा छन्नक ! कुमार का दायित्व तुम पर छोड़ा था। कह कर महाराज शुद्धोदन विकल होकर बोले। छन्नक रुँधे गले से बोला—उनका दायित्व निर्वाह करने को छन्नक-वापस लौटा है। उनके अनुगमन की प्रतिज्ञा शेष है। छन्नक बेहोश होकर गिर पड़ा !

प्राचीन भारत में उद्योग-धन्धा

श्री सुमन वात्स्यायन

प्राचीन भारत की आबादी बहुत कम थी। आज हमें उस समय की जनसंख्या का ठीक-ठीक पता नहीं है; फिर भी इतना तो कहा ही जा सकता है कि आबादी इतनी कम थी कि देश के अधिकांश भाग में जंगल और परती जमीन ही थी। कोई भी किसान, जितनी जमीन चाहे, जोत कर खेती कर सकता था। इसलिये आज की तरह आज से ढाई हजार वर्ष पहले जन-संख्या की वृद्धि का जटिल सवाल नहीं था। अधिकांश जनता खेती पर निर्भर करती थी। गरीबों का भोजन सादा और स्वास्थ्यप्रद था। आज की तरह स्वच्छ हवा और पानी का अभाव नहीं था।

पेशा प्रायः आनुवंशिक था। साधारणतया वंश-परम्परा से किये जानेवाले धन्धा ही लोग पसन्द करते थे। व्यक्ति ही नहीं, सारा परिवार अपने परम्परागत पेशे के नाम पर पुकारा जाता था; जैसे 'सार्थवाह कुल' (मागधी-सत्थवाह कुलं—कारवाँ हाँकने वाले का परिवार) 'धञ्ञवाणिज कुल' (अन्न का व्यापारी परिवार), कुम्भ-कार कुल' (कुम्हार का परिवार) आदि। लड़का अक्सर अपने पिता के पेशे के नाम के साथ ही पुकारा जाता था, जैसे—सत्थवाहपुत्त, लुद्दपुत्त आदि।

यह स्मरणीय है कि परम्परागत पेशा कोई रूढ़ि प्रथा नहीं थी। अपने परम्परागत पेशे को छोड़कर अन्य धन्धा करने में कोई रुकावट नहीं थी। सामाजिक तौर पर भी इसकी पूरी आजादी थी। त्रिपिटक में ऐसे सैकड़ों उदाहरण मिलते हैं जिनमें लोगों ने अपने पैतृक धन्धों को छोड़कर अन्य धन्धे अपनाये हैं। एक विषम परि-स्थिति में पड़ा गरीब तरुण (दुग्गत कुलपुत्त) धनियों की बिल्लियों के लिये मरा चूहा बेचने से अपना जीवन प्रारम्भ करता है और अन्त में वह इतना धनी बन जाता है कि एक सेट्ठि (श्रेष्ठि) की लड़की का पाणिग्रहण तक करने में समर्थ होता है। किन्तु इस तरह के अन-गिनत उदाहरण के बावजूद प्राचीन भारत के आर्थिक जीवन में वंश परम्परागत पेशे का प्रमुख स्थान रहा है और बहुत अंशों में वह आज भी है।

प्राचीन काल में लोगों की जरूरतें आज की तरह असीमित नहीं थीं। इसलिये पुराने जमाने में आज की तरह बड़ी-बड़ी मशीनें और कल-कारखाने भी नहीं थे। आज जिस प्रकार उद्योग-धन्धे कुछ खास जगहों में और कुछ खास व्यक्तियों के हाथों में ही केन्द्रित होते जा रहे हैं, पहले ऐसी स्थिति नहीं थी। आज की तरह उत्पादन, वितरण और मजदूरी की समस्या नहीं थी। एक कार-खानेदार हजारों मजदूरों को उत्पादन में नहीं लगाता था। लगभग सारा उद्योग-धन्धा विकेन्द्रित था। कारी-गर सामान तैयार करते थे और वही प्रायः उपभोक्ता के हाथ बेच देते थे। कुछ ही ऐसे सामान थे जिनमें उत्पा-दक और उपभोक्ता के बीच दलाली होती थी। मजदूरी

देकर काम कराने की प्रथा थी, किन्तु विशेष रूप से यह खेती के कामों में ही होता था। उस समय दास प्रथा थी; इसलिये सम्भवतः अधिक मजदूर रखने की जरूरत नहीं पड़ती हो।

कारीगरों में सब की हालत अच्छी थी, ऐसा नहीं कहा जा सकता है। निस्सन्देह जो कारीगर राजा और जागिरदारों की सेवा में थे, उनकी आर्थिक हालत अच्छी थी; जैसे राजकुम्भकार, राजमालाकार, राजुपट्टाक नलकार आदि। कुछ ऐसे भी शिल्प (सिप्प) थे जिन्हें हीन समझा जाता था और कुछ को उच्च (उक्कट्ठ)। यद्यपि मजदूरों की आर्थिक हालत विशेष अच्छी नहीं थी; फिर भी वे दासों से सुखी थे और आजादी से रहते थे। दासों का क्रय-विक्रय होता था और यह एक लाभ का व्यवसाय था।

दास लोग अधिकतर घरेलू काम-काज करते थे और प्रायः मालिक के परिवार के साथ ही रहते थे। स्त्री और पुरुष दोनों ही दास हो सकते थे। मुख्यतः चार प्रकार के दासों का उल्लेख मिलता है—(१) मातृ-पक्ष से (२) भय वश (३) स्वेच्छा वश और खरीदा हुआ। दास-दासी के बच्चे भी प्रायः पैतृक पेशा ही अपनाते थे धन से खरीदे हुये दासों के तो अनगिनत उल्लेख हैं।

दासों की कीमत स्थान और वैयक्तिक गुण-अवगुण के प्रमाण से भिन्न होती थी। गृहकार्य में अपनी असमर्थता बताकर एक ब्राह्मणी अपने पति को भिक्षा माँग धन इकट्ठा करने को कहती है ताकि वह एक दासी खरीद सके। ब्राह्मण धन इकट्ठा करने जाता है और जब सात सौ कहापण (एक सिक्का) हो जाता है, तब वह उस धन को एक दासी खरीदने के लिये काफी समझता है। वेसन्तर जातक में एक कुलीन पुरुष एक हजार कहापण में बिकता है।

ऋण न चुका सकने पर भी लोग दास बन जाते थे। लड़ाई में पकड़े गये कैदी प्रायः दास बनाकर बेच दिये जाते थे। विजेता को इससे काफी आमदनी बढ़ती थी। सीमान्त गाँवों पर अक्सर हमले होते रहते थे। हमलावर सामान एवं मवेशी के अलावा गाँव वालों को भी पकड़ कर ले जाते थे। दास बनाने के लिये पुरुषों का ही नहीं, स्त्रियों का भी अपहरण किया जाता था।

दान में, दहेज में और दण्ड-स्वरूप भी दास-दासी देने की प्रथा थी। कतिपय अपराधों में न्यायालय अपराधी की सम्पत्ति हरण कर, उसे दास बनाने की भी आज्ञा देता था। राजा किसी कारणवश मन्त्री से नाराज हो जाता है और मन्त्री को दास बना दिया जाता है। कभी-कभी पराजित राजा तक दास बनाकर बेच दिया जाता था। दास का क्रय-विक्रय इतना प्रचलित था कि सिर्फ राजा और धनी लोग ही नहीं, बल्कि साधारण किसान से ब्राह्मण पर्यन्त दास-दासी रखते थे।

शहरों की संख्या और आबादी बहुत कम थी। आज की तरह ही नगर में रहने वाले अधिक विलासी थे। शहरी लोग दैनिक और मासिक वेतन पर भी नौकर रखते थे। दासों की संख्या भी शहरों में काफी थी। बड़े-बड़े किसान दैनिक मजदूरी पर मजदूर रखते थे। किसान अधिकतर अन्न के रूप में ही मजदूरी देते थे। ये मजदूर सुबह से शाम तक दूसरे की मजदूरी करके किसी तरह जीवन पालते थे। इसी तरह शहर के बड़े-बड़े व्यापारी और उत्पादक भी दैनिक मजदूरी देकर मजदूर रखते थे। अगर मजदूर किसी प्रकार की क्षति करे तो उन्हें हर्जाना देना पड़ता था। इन मजदूरों की हालत बहुत खराब थी। मजदूरी का पेशा भी आनुवंशिक-सा हो गया था।

एक मजदूर की मजदूरी एक या आधा मासक (एक सिक्का) से ज्यादा नहीं थी। मागधी लेखों में ऐसा उल्लेख अनेक जगह आता है कि उन्हें जो मजदूरी दी जाती थी वह जीवन-निर्वाह के लिये पर्याप्त नहीं होती थी। आज जैसा कहा जाता है कि जिसका नमक खाना चाहिये उसी के हक में सदा काम करना चाहिये, यह विचार पहले भी था। दिन में मजदूर लोग मालिक

के घर ही प्रायः खाते थे और शाम को अपने-अपने घर चले जाते थे। इन गरीब मजदूरों की बस्ती प्रायः शहर से बाहर होती थी।

मनुष्य जीवन के लिये सबसे आवश्यक वस्तुएँ हैं; अन्न, वस्त्र और आवास। प्राचीन भारत में अन्न का बिलकुल अभाव नहीं था, अकाल की स्थिति के अतिरिक्त अन्य दिनों में अन्न के अभाव में कोई नहीं मरता था। उसी तरह, वस्त्र के अभाव में कोई नंगा नहीं रहता था। हजारों आदमी वस्त्रोद्योग में लगे हुये थे। यद्यपि आज की तरह पहले बड़े-बड़े कारखाने नहीं थे, पर गृहोद्योग होते हुये भी वस्त्रोत्पादन काफी होता था। इसलिये भारत दूसरे देशों को भी कपड़ा भेजता था। भारतीय वस्त्र एशिया और यूरोप के विभिन्न देशों में काफी बिकता था। कपास के अतिरिक्त रेशम, ऊन, अलसी, केले तथा अन्य कितने पेड़ों के रेशे निकाल कर कपड़े तैयार किये जाते थे।

भारत में कोसेय्य (रेशमी) वस्त्र का उत्पादन भी अच्छा था। यद्यपि रेशमी वस्त्र सिर्फ धनी-मानी व्यक्ति ही पहनते थे, फिर भी इसका चलन काफी था। सम्भव है, रेशम का उद्योग यहाँ आसाम-बर्मा के रास्ते चीनसे आया हो। संस्कृत में रेशमी वस्त्र के लिये 'चीनांशुक' शब्द का प्रयोग काफी रूढ़-सा है। दरी, कम्बल, बिछावन, चादर, पर्दा तथा अन्य अनेक प्रकार के सूती, ऊनी और रेशमी कपड़े यहाँ तैयार होते थे। कपास को बिनौले से अलग करना, धुनना, कातना और बुनना भारत के घर-घर में होता था और ज्यादातर ये काम स्त्रियाँ ही करती थीं। लेकिन स्त्रियाँ कपास धुनती ही नहीं थीं, बल्कि करघों पर बैठकर सारे दिन बुनाई भी करती थीं।

लकड़ी का उद्योग भी बहुत बढ़ा-चढ़ा था। मागधी में बढ़ई को वड्ढकी कहते थे। ये बढ़ई लकड़ी के अलावा थोड़ा बहुत पत्थर का भी काम करते थे। जो लोग केवल पत्थर या ईंट का काम करते थे, उन्हें क्रमशः 'पासान कोट्टक' कहते थे, जो भवन-निर्माण के सभी कामोंमें दक्ष होते थे, उन्हें स्थपित (थपित) कहते थे। इनमें जो अपनी कारीगरी में अत्यधिक चतुर थे उन्हें महाबढ़ई ('महावड्ढकी') कहा जाता था।

आज की तरह पहले लकड़ी का अभाव नहीं था। इसलिये साधारण जनों के घर से लेकर बड़े-बड़े राजमहल भी लकड़ी के बनते थे। कहते हैं, मौर्य और गुप्त सम्राटों के राजमहल लकड़ी के ही बने थे। ये राजमहल कई तल्ले के और कलापूर्ण होते थे। इसलिये लकड़ी के काम करने वाले कारीगरों का समाज में बहुत आदर और महत्व था। 'जातक कथा' की एक कहानी के अनुसार 'बढ़ई-नाव में बैठकर शहर के दूर के जंगलों में जाते थे और एक दो या अनेक महलों के मकान वहीं लकड़ी से बनाते थे और फिर उनके ढाँचों को अलग करके बड़ी-बड़ी नावों पर शहर ले आते थे जहाँ वह मकान निश्चित जगह पर खड़ा कर दिया जाता था।''

पुराने जमाने में भारत का व्यापार बहुत उन्नत था। भारतीय कारीगरों द्वारा तैयार माल बैबिलोन, मिस्र, यूनान और दक्षिणी यूरोपीय देशों में खूब बिकते थे। इन व्यापारिक सामानों को दूर-दूर देशों तक पहुँचाने के लिये बड़े-बड़े जहाजों का उपयोग होता था, जिनका निर्माण चतुर कारीगर ही कर सकते थे। नदियों का उपयोग किया जाता था। मौर्य और गुप्त सम्राटों के समय में अनेक विदेशी राजदूत और यात्रियों ने पाटलिपुत्र तक पहुँचने के लिये जल-मार्ग का उपयोग किया था। जहाज कितना लम्बा-चौड़ा बनता था, इसके लिये एक उदाहरण काफी होगा। जिस भारतीय जहाज से प्रसिद्ध चीनी यात्री फाहियान चीन लौटा था, वह इतना बड़ा था कि उसमें व्यापारिक माल के अलावा दो सौ यात्री और उनके छः महीने तक के खाने-पीने के लिए अन्न और मीठा पानी भी साथ था। बड़े-बड़े जहाजों के साथ 'जीवन नौका' या लाइफ बोट भी होते थे।

पुराने भारत की स्त्रियाँ आज की तरह ही गहनों की बड़ी शौकीन होती थीं। इसलिए सोनारों का धन्धा खूब चलता था। सोने के गहने पर बड़ी कारीगरी और सफाई से कीमती पत्थर जड़े जाते थे। हाथ में पहनने का आभूषण अँगूठी (मुद्रिका), हार (माला),

इयरिंग (कुण्डल), मेखला, कायूर, चूड़ामणि आदि गहने बहुत सुन्दर बनते थे।

सर्वप्रथम शक्तिशाली एकछत्र राज्य का निर्माण भारत में ही हुआ था, इसलिए शान-शौकत के उपकरणों का विकास भी यहाँ स्वाभाविक ही था। गहने सिर्फ मनुष्यमात्र के लिए ही नहीं बनते, बल्कि राजा-महराजा और धनी लोग अपने हाथी-घोड़ों तक को सोने-चाँदी के ही आभूषणों से सजाते थे। धनी लोग सोने-चाँदी के कलापूर्ण बर्तनों में ही खाते-पीते थे। सोने-चाँदी की तश्तरियों पर इतनी अच्छी पालिश की जाती थी कि उससे दर्पण का भी काम लिया जा सकता था। महत्वपूर्ण राजकीय घोषणाएँ प्रायः सोने की पट्टी पर लिखी जाती थीं। सोने का धन्धा करने वालों को 'सुवण्णकार' और मणियों का धन्धा करने वालों को 'मणिकार' कहते थे।

बहुत पुराने जमाने से ही भारत के कारीगर विभिन्न धातुओं को मिलाने की विधि जानते थे। सोना-चाँदी के अलावा ताँबा, पीतल, लोहा आदि धातुओं के अनेक प्रकार के सामान बनते थे। लोहे को फौलाद में परिवर्तित करके विभिन्न प्रकार के औजार बनाये जाते थे। नालन्दा की खुदाई में विभिन्न धातुओं को गला कर मूर्तियाँ बनाने की एक भट्टी भी मिली है। बुद्ध-कालीन मगही में भट्टी को 'उफ्का' कहते थे। बारीक से बारीक सूई (सूची) और तन्तु वाद्यों के तार (तंती) भी बनाये जाते थे। धातु के काम करने वालों की प्रायः अलग बस्ती (कम्मार-गाम) बसी हुई थी।

मालवा के बौद्ध अवशेष

श्री कमलसिंह "सरोज"

बौद्ध साहित्य के इतिहास में मालवा प्रदेश का अत्यन्त ही महत्त्वपूर्ण स्थान है। यह निर्मल नर्मदा, चंचल चंबल, विमला वेत्रवती का पुलिन प्रदेश कितनी ही गौरव गाथाओं एवं सांस्कृतिक अवशेषों को अंचल में समेटे उस स्वर्णिम युग का यशोगान कर रहा है। करुणा-मूर्ति भगवान् तथागत के जीवनकाल में ही जब समस्त उत्तराखण्ड उपदेशों की शीतल छाया में शान्ति लाभ कर रहा था, तब इस प्रदेश की पावन पवित्र प्रमुख नगरी उज्जैनी के नरेश चण्डप्रद्योत ने अपने पुरोहित कात्यायन को भगवान् तथागत के समीप भेजा कि वे उन्हें आदर पूर्वक अवन्तिका लिवा लावें, किन्तु महा-पण्डित कात्यायन ने भगवान् की वाणी का अर्थ समझ लिया और सदा के लिए महाकारुणिक की शरण में नत हो गये। उस उपदेश सुधा को उन्होंने उज्जैनी एवं मथुरा में वितरित कर जन कल्याण किया। मधु-पिण्डक कल्यायन एवं पारायण के नाम से अवन्तिका के समीप "मक्करकट" के कानन में निवास कर मंगलमय उपदेशों को प्रसारित करते रहे। जाति-व्यवस्था के अत्याचार के सम्बन्ध में मथुरा-नरेश से इनका वार्तालाप हुआ और उसमें नरेश भी पूर्णतः प्रभावित हुए, जो आज भी 'माधुरीय सुत्त' के नाम से पालिसाहित्य में विद्यमान है। ऋषि दासी और अवन्तिका की पद्मा के त्याग और सम्राट् देवानां प्रियदर्शी की अर्धांगिनी महारानी देवी की धर्म-भावना नारी-जाति के गर्व की वस्तु है। इनके अतिरिक्त पारा सिन्धु के अंचल में नर्मदा तट के माहेश्वर में धमनार, तुम्बवन की गुफाओं तथा साँची के गौरवशाली स्तूप के समीपस्थ साँची से
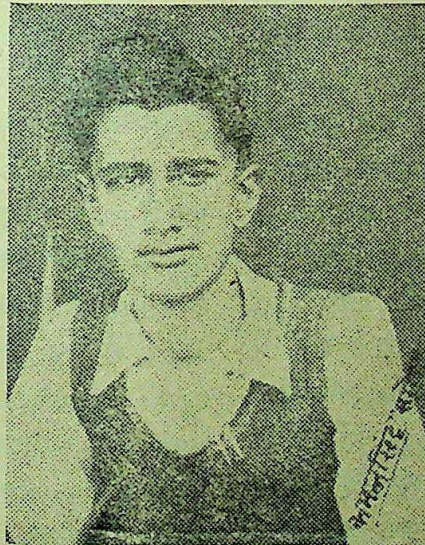
लेखक

दक्षिण की ओर छः मील सोनारी, सोनारी से ६ मील पर शत-धारा में स्तूप व विहारों के भग्नावशेष मालव प्रदेश की धर्म भावना के प्रतीक बनकर करुणा-कलित भावनाओं की ओर प्रेरणा दे रहे हैं। महारानी देवी की जन्मभूमि विदिशा से तीन मील दूर दक्षिण-पूर्व भोजपुर और ९ मील पर स्थित अन्धेर के स्तूपों की निशानी भुलाई नहीं जाती। इस तरह अनेक स्मृति चिह्न एवं गौरव गाथाएँ मालव प्रदेश के अतीत को जगमगा रही हैं।

पुरातत्व एवं ऐतिहासिक खोजों से आशा है कि मालवा पुनः अपने स्वर्णिम अतीत को वर्तमान बनायेगा और महाकारुणिक के मंगलमय उपदेशों का पालन कर जन-जन का जीवन धन्य हो जायेगा।

तिब्बत का पहला विहार

लामा अंगरूप, लाहुली

तिब्बत का इतिहास और संस्कृति छठीं शताब्दी से प्रारम्भ होती है, जिसका श्रेय सम्राट् स्रोंगचन गेम्बो को प्राप्त है। सम्राट् स्रोंगचन तिब्बत के प्रथम पदाधिकारी शासक हुए हैं। आपने ही तिब्बत को शिक्षित और भारत से सांस्कृतिक सम्बन्ध स्थापित किया था। सम्राट् स्रोंगचन के कालतक तिब्बत का आदि इतिहास क्या रहा, इसके लिए कोई प्रमाण नहीं है। सम्राट् स्रोंगचन की पटरानी नेपाल के राजा अंशुवर्मन की पुत्री राजकुमारी भृकुटी थी, जो अपने पिता से दहेज में पायी हुई काष्ठ की बनी शाक्यमुनि, मैत्रेय तथा तारा की मूर्ति साथ में ले गयी थी, जिसकी वह नित्यप्रति पूजा किया करती थी। सम्राट् रानी भृकुटी को बहुत मानते थे। इसलिए रानी के इष्टदेव के लिए पूजास्थान अथवा देवालय स्थापित करने की भावना सम्राट् के मन में आयी अमात्यों की एक बैठक बुलायी गयी। बैठक में देवालय (विहार) स्थापित करने का निश्चय हुआ, परन्तु इसके लिए योग्य भूमि चुनने के लिए सम्राट् की दूसरी रानी चीन की राजकुमारी कोंजो से सम्मति ली गयी, क्योंकि रानी कोंजो ज्योतिष विद्या जानती थी। एक पति की दो पत्नियाँ हों तो वे परस्पर ईर्ष्या करने लग जाती हैं। यह कोई आश्चर्य की बात नहीं है। सम्राट् राजकुमारी भृकुटी को विशेष मानते थे, इसलिए कोंजो के मन में ईर्ष्या की आग धधक रही थी। अब उसे नष्ट कर डालने का सुअवसर हाथ लगा। रानी कोंजो ने देवालय की स्थापना के लिए राजप्रासाद के पूर्व ओर स्थित विशाल और गम्भीर झील को निर्दिष्ट किया। समस्या यह हुई कि झील में देवालय कैसे स्थापित किया जाय? सम्राट् तो अपनी पटरानी को वचन दे चुके थे, अतः इसे टाल भी कैसे सकते! इसलिए सम्राट् ने झील को ईंट-पत्थरों से ढँक कर देवस्थान के लिए योग्य भूमि बनाने का आदेश दिया। सम्राट् स्रोंगचन की गम्भीरता, सुशीलता, पराक्रम तथा जयघोष एक चक्रवर्ती राजा से कम न था, ऐसे सम्राट् के कार्य में विलम्ब की गुंजाइश कहाँ? शीघ्र देव (ल्ह) स्थान (सा) बनकर तैयार हुआ और उसके ऊपर देवालय (विहार) स्थापित किया गया। जो सम्प्रति जोखङ नामक विहार है, वही आदि विहार और रानी भृकुटी के इष्टदेव का पूजा स्थान है।

इस जोखङ के बगल में एक और कोठरी है जिसका वर्ष में केवल एक बार द्वार खोला जाता है। उस समय दर्शकोंकी बड़ी भीड़ रहती है। उस कोठरी में एक कूएँ के बराबर छेद बना है, लोगों का विश्वास है कि यह पाताल जाने का मार्ग है। वर्तमान तिब्बत की राजधानी ल्हासा (देवस्थान) का नाम इसी परम्परासे आता है। कहते हैं कि भविष्य में ल्हासा उसी झील में धँसकर लय को प्राप्त होगा और तब रानी कोंजो का काम पूरा होगा। यहाँ एक विचित्र बात यह देखने को मिलती है कि जोखङ विहार में कोई भी दर्शक जूता-बूट खोल कर प्रवेश नहीं कर सकता अथवा पैर में पहनी हुई वस्तु के साथ ही विहार में प्रवेश करना होता है अन्यथा अत्यन्त अमंगल समझा जाता है। ऐसा क्यों किया जाता है—कुछ समझ

में नहीं आता। यों तो ऐसे पूज्य स्थानों के लिए पवित्रता की आवश्यकता है।

इसके पश्चात् सम्राट स्रोंगचन के काल में ही वर्तमान 'समये' विहार की स्थापना हुई जो बहुत विशाल है। इसके संस्थापक भारत के महायानी पण्डित पद्मसम्भव थे। पद्मसम्भव को इस विहार के स्थापनकार्य में बड़ी कठिनाइयोंका सामना करना पड़ा। कहते हैं कि 'समये' विहार के लिए दिन में जितनी मिट्टी-पत्थर इकट्ठा करते थे रात में भूत-प्रेत उनको यथास्थान पहुँचा देते थे। पद्मसम्भव सिद्ध पुरुष थे, अतः तुरन्त अपने योग और सिद्धिबल से उन भूत-प्रेतों को भी इस कार्य में हाथ बँटाने के लिए बाध्य कर लिया। 'समये' विहार ल्हासा से पूर्व की ओर दो दिन के रास्ते में पड़ता है।

वर्तमान तिब्बत में सहस्रों छोटे-बड़े विहार हैं, जिनमें तीन बड़े विहार हैं; जिनके नाम क्रमशः सेरा, डेपुंग तथा गदन हैं। इनमें कई सहस्र भिक्षु रहते हैं। इन भिक्षुओं के भोजन का प्रबन्ध विहार तथा सरकार की ओर से होता है। यों तो यहाँ के विहार पाँच छः अथवा कई तल्ले के हैं परन्तु यहाँ विहार निर्माण के लिए तीन तल्ले का विधान है। जिसमें सबसे नीचे वाले तल्ले में धर्मपालों की मूर्तियाँ, मध्य में ग्रन्थ (कंग्युर, तंग्युर) और सबसे ऊपर सुगत और बोधिसत्व की मूर्तियाँ स्थापित की जाती हैं। ऐसे विहार अक्सर भूटान में बहुत मिलते हैं। बहुत से विहार त्रिभुजाकार होते हैं। इस विहार को लाल रंग की मिट्टी (जिसे तिब्बती में चग कहते हैं) से पोता जाता है। इस विहार में महाकाल, काली, यम, कुबेर तथा नागराज इत्यादि की मूर्तियाँ रखी जाती हैं जो कि इस समय दैत्य-यक्ष-भूत के रहते हुए भी बौद्ध धर्म में दीक्षा लेने के बाद बुद्ध शासन के रक्षक और पूज्य हो गये हैं।

ल्हासा (देवभूमि) वास्तव में देवस्थान है। यहाँ पहुँचने पर अक्सर लोगों में अनायास श्रद्धा और त्याग की भावना उत्पन्न हो जाती है। इसीलिए तो तिब्बती लोग जीवन में एक बार ल्हासा का दर्शन करना आवश्यक समझते हैं।

तिब्बत में पैतृक सम्पति का अधिकारी बड़े भाई और भूटानमें बड़ी बहन होती है। इसलिए बेचारे छोटे भाइयों को बचपन से ही घर से नाता तोड़ देना पड़ता है और विहारों में भर्ती होकर विद्याध्ययन करने लग जाते हैं। विहारों की शिक्षा राजनीति, विज्ञान, उद्योग तथा व्यवसाय की तो होती नहीं, स्वर और व्यंजन के सीख लेने के बाद अनित्य, दुःख और अनात्म का बोध करा दिया जाता है। भला वह बचपन में पड़ा संस्कार जीवन भर कैसे छूट सकता है? अतः बेचारे छोटे भाई लामा होकर संन्यासी-जीवन व्यतीत करने लगते हैं। इसीलिए तो आज इस देश में लामाओं की संख्या अत्यधिक है।

अशोक की महत्ता

श्री रमाशंकर त्रिपाठी

जब हम भारत के अतीत की ओर दृष्टिपात करते हैं तो एक बात स्पष्ट प्रतीत होती है कि वह अधिकतर गौरवपूर्ण रहा है, यद्यपि उसको कभी-कभी काल के गर्त में गोता भी लगाना पड़ा है। उसका इतिहास पराक्रम, दार्शनिक विचार, धर्म-भावना की एक उज्ज्वल गाथा है। प्राचीन भारत में अनेक ऋषि-तपस्वी-शौर्य-सम्पन्न व्यक्ति तथा प्रतिभाशाली सम्राट् हुए हैं, और आज भी अनेक उच्चादर्श एवं जीवन-कार्यो से प्रेरणा प्राप्त कर सकते हैं। ऐसे ही महान पुरुषों में अशोक की भी गिनती की जाती है। उसके चरित तथा गुणों और सफल उद्योगों का पूर्ण रूप से दिग्दर्शन कराने के लिए ऐतिहासिकों ने उसकी तुलना संसार के विभिन्न देशों के कतिपय शक्तिशाली एवं प्रतापी राजाओंसे की है। कुछ विद्वानों के मतानुसार जैसे रोम के अधिपति कान्स्टेंटाइन (Constantine) ने ईसाई धर्म को अपनाया और उसके प्रसार में सहायता दी, उसी प्रकार अशोक के प्रयत्न से बौद्ध-धर्म की

उन्नति हुई और वह जगत में फैला। ज्ञान तथा सात्विकता में अशोक मार्कस आरेलियस (Marcus Aurelius) के सदृश माना जाता है। और धार्मिक सहिष्णुता एवं सुसंगठित शासन पद्धति के कारण उसकी गणना अकबर जैसे भारतीय नरेशों के साथ की जाती है। इस लेख में हम संक्षेपतः यह दिखलाने का प्रयास करेंगे कि इतिहास के रंग-मंच पर अशोक को इतना ऊँचा स्थान क्यों दिया जाता है।

अशोक की महत्ता जानने के लिए सबसे पहले हमें उसके आदर्शों पर ध्यान देना चाहिए। यहाँ यह कह देना उचित है कि प्रत्येक शासक का यह मूल कर्तव्य है कि वह प्रजा-रक्षण, प्रजा-परिपालन तथा सब के योग-क्षेम का संवर्धन करे। अब प्रश्न यह है कि इस कसौटी पर अशोक कहाँ तक खरा उतरता है। छठें शिलालेख में उसने स्वयं यह घोषित किया है—

"नास्ति हि कंमतरं सर्वलोकहितसा (त्पा) त्र च किंचि पराक्रमामि अहं किंति भूतानं आनंणं गछेयं इध च नानि सुखापयामि परत्रा च स्वर्गं आराधयंतु।"

अर्थात् "सब लोगों की भलाई के अतिरिक्त मुझे अधिक करणीय काम कोई नहीं है। जो कुछ पराक्रम मैं करता हूँ वह क्यों ? इसलिए कि जीवधारियों के ऋण से मुक्त होऊँ, और उन सब को इस संसार में सुख मिले और आगे चलकर स्वर्ग"। इस घोषणा से, जिसमें अशोक ने मनुष्य के तीन ऋणों (ऋषि-ऋण, देव-ऋण, और पितृ-ऋण) के अतिरिक्त राजा के लिए एक चौथे ऋण (जीव-ऋण) की कल्पना की है, दो बातें स्पष्ट प्रतीत होती हैं, प्रथम यह कि अशोक प्राणीमात्र अर्थात् मनुष्य एवं सब जीव-जन्तुओं का कल्याण चाहता था; और दूसरे वह उनके केवल ऐहिक सुखों से ही सन्तुष्ट न होकर यह भी चाहता था कि परलोक में वह भी आनन्द तथा शान्ति प्राप्त करें। इस ध्येय को सामने रखकर अशोक ने अपनी प्रजा तथा अन्य सब जीवों के हित के लिये अनेक प्रकार के उपाय किये। द्वितीय शिलालेख में अशोक ने स्वयं अपने प्रयत्नों का वर्णन किया है। यथा—

सर्वतं (त्र) देवानंपिं (प्रि) यसपिं (प्रि) यदसिनो राजो द्वे चिकीछकता मनुस चिकीछा च पसु चिकीछा च ओसुढानि च यानि मनुसोपगानि च पसो (प) गानि च यत यत नास्ति सर्वतं (त्र) हारापितानि च रोपापितानि च मूलानि च फलानि यत यत नास्ति सर्वतं हारापितानि च रोपापितानि च पंथेसू कूपा खानापिता वं (व्र) छा च रोपापित (ा) परिभोगाय पसु-मनुसानं।

अर्थात् "देवताओं के प्रिय प्रियदर्शी राजा ने सब स्थानों में दो प्रकार की चिकित्साओं का प्रबन्ध किया है; एक मनुष्यों की चिकित्सा का दूसरी पशुओं की चिकित्सा का। मनुष्यों और पशुओं की उपयोगी औषधियाँ जहाँ जहाँ नहीं हैं वहाँ वहाँ वे लाई गईं और लगाई गईं। इसी प्रकार मनुष्यों तथा पशुओं के उपभोग के लिये जहाँ जहाँ फल और मूल नहीं हैं वहाँ वहाँ वे लाये गये और लगाये गये, और मार्गों में कुँयें खुदवाये गये तथा पेड़ लगवाये गये"। सप्तम स्तम्भलेख से यह भी विदित होता है कि अशोक ने यात्रियों के लिये धर्मशालाओं का निर्माण कराया था। आधे कोस में कूप खुदवाये थे, और पशु-मनुष्यों के परिभोग के लिए आम्र वाटिकायें लगवाई थीं।

मगेसु पि मे निगोहानि लोपापितानि छायोपगानि होसंति पसु मुनिसानं अम्बा वाटिक्या लोलापिता अढ (कोसि) क्यानि पि मे उद्पानानि खानापितानि निसि (ढ) या च कालापिता।

यह सब सुकार्य अशोक ने अपने राज्य ही में नहीं किया था, वरंच अपने सामीपस्थ चोल-पांड्य और केरलपुत्र के स्वतन्त्र दक्षिणी राज्यों में तथा सुदूरवर्ती यवन राज्यों में भी किया था (द्वितीय शिलालेख)। त्रयोदश शिलालेख के अनुसार अशोक के समकालीन यवन राजाओं के नाम ये थे। अंतियोकस (Antiochos II Theos of Syria), तुरमय (Ptolemy II Philadelphos of Egypt), अंतकिन (Antigonas Gonatos of Macedonia), मग (Magas of Cyrene) और अलिकसुन्दर (Alexander of Epirus or Corinth)। अतः अशोक की कल्याणकारी नीति स्वदेश तक ही सीमाबद्ध न थी, अपितु वह सर्वत्र विदेशों में भी अपना धन खर्च कर परोपकार करने में निरन्तर उद्यत

रहता था। इसमें तनिक भी सन्देह नहीं कि उसने "वसुधैव कुटुंबकम्" के उच्चादर्श को, जहाँ तक हो सका कार्यरूप में परिणत किया।

अशोक ने प्राणियों के सांसारिक सुख के उपयुक्त साधन ही नहीं एकत्र कर दिये थे अपितु उसने अपने साम्राज्य में जीवहिंसा का भी नितान्त निषेध कर दिया था। वह यह नहीं सह सकता था कि अकारण किसी जीव को क्षति पहुँचे, इसलिए उसने अपने लेखों में "प्राणानं अनारम्भो" (शिला लेख ३, ४, ११; स्तम्भ लेख ७), "प्राणनं संयमो" (शिला लेख ९), "अविहिंसा भूतानम्" (शिलालेख ४, स्तम्भ लेख ७) का उपदेश बारंबार दिया है। पहिले अशोक स्वयं मांसाहारी था और उसकी पाकशाला के लिये प्रतिदिन सहस्रों जीवों का वध होता था, जैसा प्रथम शिलालेख के इस वाक्य से स्पष्ट है।

पुरा महानसम्हि देवानं पि (प्रि) यस पि (प्रि) यदसिनो राञो अनुदिवसं बहूनि पा (प्रा) ण सत-सहर्सा (स्रा) नि आरभिसु सूपाथाय।

किन्तु जब से उसने अहिंसा तथा दयाप्रधान बौद्धधर्म की शरण ली, तब से अन्य सब प्राणियों का वध उसने बिलकुल रोक दिया और कुछ दिनों के लिए केवल एक मृग और दो मोर मारने की आज्ञा दी और वह मृग भी नित्य नहीं मारा जाता था—

से अज यदा अयं धंम लिपी लिखिता ती एवं पा (प्रा) णा आरभरे सूपाथाय द्वो मोरा एको मगो सो पि मगो न धुवो।

यह नियमित हिंसा भी उसकी आत्मग्लानिका कारण थी और उसने शीघ्र ही इन तीनों जीवों के वध को बन्द करने की प्रतिज्ञा की—

एते पि ती (त्री) पा (प्रा) णा पछा न आरभिसरे।

इस प्रकार अपने सिद्धान्तों के वशीभूत होकर अशोक ने अपने जिह्वा-सुख को बिलकुल तिलांजलि दे दी। उसने अपने पूर्वजों की एक प्रथा को भी जीवरक्षा के लिये रोक दिया था। आठवें शिलालेख में वह कहता है कि पहले राजा लोग विहार-यात्रा करने जाते थे। इसमें आखेट तथा अन्य कई प्रकार के "अभीरमकानि" अर्थात मन बहलाने वाली बातें होती थीं, किन्तु ये सब आमोद-प्रमोद उसके सात्विक मन में खटकते थे, इसलिए अशोक ने विहार-यात्रा के स्थान में "धम्म-यात्रायें" चलाईं जिनमें ब्राह्मण-श्रमणों का दर्शन, उन्हें दान, वृद्धों का दर्शन, सुवर्ण-वितरण, जनपद (राज्य) के लोगों का दर्शन, धर्म का उपदेश और धर्मविजय की जिज्ञासा इत्यादि अच्छे काम होते थे। यथा—

अतिकातं अंतरं राजानो विहार-यात्रां अयासु एत मगव्या (व्या) अञानि च एतारिस (।) नि अभिरमकानि अहुंसु सो देवानंपियो पियदसि राजा दसवसा भिसितो संतो अयाय सम्बोधिं तेनेसा धम्म-याता एतयं होति ब्राह्मण समणानं दसणे च दाने च थैरानं दसणे (च) हिरणं-पटिविधानो च जानपदस च जनस दस्पनं धर्मानु (स) स्टी च धमपरिपुछा च।

दया-भाव से प्रेरित होकर अशोक ने प्रथम शिलालेख के अनुसार "समाजों" का भी होना बन्द कर दिया था, क्योंकि इन समाजों में विविध प्रकार के खेल-कूद तथा गाने-बजाने के अतिरिक्त हिंसा अधिक मात्रा में होती थी और मांस का वितरण लोगों में खूब होता था।

न च समाजो कतव्यो (व्यो) बहुकंहि दोसं समाजम्हि पसति देवानंपि (प्रि) यो पी (प्रि) यदसि राजा।

किन्तु एक दूसरे प्रकार के "समाज" थे जिनमें हिंसा नहीं होती थी, और उनको अशोक नहीं रोकना चाहता था।

अस्ति पि तु एकचा समाजा साधु-मता देवानं पि (प्रि) यस पि (प्रि) यदसिनो राञो।

इस बड़ी जीव-रक्षा के कारण वह द्वितीय स्तम्भलेख में यह दावा करता है कि मैंने द्विपद, चतुष्पद और पक्षि-वारिचर पर अनेक अनुग्रह किये, यहाँ तक कि मैंने उनके प्राणों की भी दक्षिणा दी—

दुपद-चतुपदेसु पखि-वालिचलेसु विविधे मे अनुगहे कटे आ पान दाखिनाये।

इस कथन में लेशमात्र भी अतिशयोक्ति नहीं जान पड़ती, क्योंकि अशोक ने पाँचवें स्तम्भलेख में जिन जीवों

के बध का बिलकुल निषेध किया, उनकी सूची से स्पष्ट है कि उसके राजत्व काल में "अहिंसा परमो धर्मः" का मनोहर निनाद चतुर्दिक गूँज रहा था।

अशोक ने अपनी प्रजा के हित तथा सुख-सम्पादन के लिए सतत "धम्म" के प्रचार का भी बीड़ा उठाया। वह स्वयं तो दृढ़ बौद्ध-धर्मावलम्बी था तथापि उसने लोगों का लक्ष्य अपना निजी धर्म नहीं बनाया। यह उल्लेख्य है कि नवें शिलालेख के अनुसार अशोक ने धर्म का जामा पहिने हुए प्रचलित रीति-रिवाजों ("मंगल") को निरर्थक कहकर तिरस्कृत किया है और उनकी जगह उसने लोगों को "धम्म-मंगल" करने का आदेश दिया है। किन्तु "चत्तारि अरियं सच्चानि" "मज्झिम मग्ग" तथा "निब्बान" आदि जो बौद्ध-धर्म के मुख्य सिद्धान्त हैं उनके बारे में अशोक अपने लेखों में बिलकुल चुप है। उसकी धार्मिक नीति संकीर्ण न थी और वह अपनी प्रजा का धर्म-परिवर्तन करने के लिये उत्सुक न था। यदि वह बौद्ध-धर्म ऐसे किसी विशेष धर्म के प्रचार में अपनी सारी सम्पत्ति एवं शक्ति लगा देता तो वह निःसन्देह अपने उच्च पद का दुरुपयोग करता। उसने जिस "धम्म" (धर्म) का सदुपदेश दिया वह सबको ग्राह्य था, और उसमें हमें अशोक की उदारता तथा दूरदर्शिता का पूर्ण परिचय मिलता है। वह दया, दान, सत्य, शौच, मृदुता, साधुता, संयम, भावशुद्धि, कृतज्ञता और दृढ़ भक्ति आदि सद्गुणों को अपनाने के लिए मनुष्यों को उत्प्रेरित करता है। वह यह भी चाहता है कि लोग पाप, निष्ठुरता, क्रोध, मान, ईर्ष्या, इत्यादि दुर्गुणों से दूर रहें और वे माता-पिता गुरुजन और बड़ों की शुश्रूषा करें, और ब्राह्मण, श्रमण, बन्धु, मित्र, परिचित, दास, भृत्य, तथा दुःखी एवं दीन पुरुषों का यथावत् आदर एवं सत्कार करें। वास्तव में ये सिद्धान्त सब धर्मों की सम्पत्ति तथा सार हैं।

संसार के इतिहास में अशोक पहिला सम्राट् था जिसने लोगों को धर्म का तत्व समझाया और उनके चित्त को वाद-विवाद सम्बन्धी बातों से दूर हटाया। वह धार्मिक कट्टरता और द्वेष-भाव को घृणा की दृष्टि से देखता था। वह स्वयं सब धर्मावलम्बियों की पूजा करता था, जैसा बारहवें शिला-लेख से स्पष्ट है—

देवनं प्रियो प्रिय द्रशि रय सव-प्रषंडनि प्रव्रजित (नि) ग्रह थनि च पुजे चि दनेन विविधये च पुजेय।

उसने बौद्धों के अतिरिक्त ब्राह्मण, निर्ग्रंथ तथा आजीवक इत्यादि को अपने दान और मान का सदा भागी बनाया। आजीवकों के लिये तो उसने गया के निकट बराबर नाम के पर्वत में विशाल गुफायें बनवाईं। इसी प्रकार अशोक ने अपनी प्रजा को भी धार्मिक सहिष्णुता का भी मंत्र पढ़ाया। वह चाहता था कि वृथा "अत प्रषंड पुज" (आत्म पाषंड पूजा) अथवा "पर पषंड गरह" (पर पाषंड गर्हा) न हो क्योंकि स्वधर्म प्रेम से प्रेरित होकर दूसरों के सिद्धान्तों की निन्दा सर्वथा अनर्थकारी होती है।

किति अत-पषंड पुज व प (र) पषंड-गर (ह) न व भो सिय (अ) पकरणसि लहुक व सिय तसि तसि प्रकर (णे) पुजेत विय व चु पर-प्रषं (ड) तेन तेन अकरेन ए (वं) करतं अत (प्र) षंड वढेति पर-प्रषंडस पि च उपकरोति तद् अजथ क (र) मि (नो) अतप्र (षंड) क्षणति (पर) प्रषऽस च अपकरोति यो ही कचि यत प्रषड पुजेति (पर) (प्र) षड गरहति सव्रे अत-प्रषड भतिय व किति अत प्रषंड दिपयमि ति सो च पुन तथ करंतं सो पुन तथ करंतं व (ढ) तरं उपहंति।

सबको उचित है कि वाक् संयम ("वचोगुति") रखे और "बहुश्रुत" हो, अर्थात् अन्य धर्मों को श्रद्धापूर्वक सुनने और समझने की चेष्टा करे; जिससे पारस्परिक "समवाय"—मेल-जोल बढ़े। ये कैसे उच्चकोटि के विचार हैं जो आज बीसवीं शताब्दी में भी भारत के साम्प्रदायिक वैमनस्य और झगड़ों को मिटाने के लिये आदर्श सिद्ध हो सकते हैं।

अशोक की एक और विशेषता यह थी कि उसका हृदय प्रजा-वात्सल्य से ओत-प्रोत था और प्रजा के प्रति उसका व्यवहार पिता के तुल्य था। वह कलिंग के दोनों लेखों में महाघोषणा करता है—

सवे मुनिसे पजा ममा अथ पजाये इछामि हकं (किति) स (वे) न (हि) त सुखेन हिदलो (किक) पाललोकिके (न) (यूजेवू) (ति) तथा (सव) (मुनि) सेसु पि (इ) छामि (ह) क।

अर्थात् सब मनुष्य मेरी सन्तान के सदृश हैं और जैसे मैं चाहता हूँ कि मेरी सन्तान इहलौकिक और पारलौकिक सुख का भोग करे उसी प्रकार मैं सबका कल्याण चाहता हूँ। आश्चर्य की बात तो यह है कि उसकी ऐसी भावना केवल अपनी प्रजा के ही प्रति न थी किन्तु वह सीमान्त जातियों पर भी कृपा दृष्टि रखता था। द्वितीय कलिंग लेख में अशोक कहता है—

सिया अंतानं (अ) विजितानं किं छांदे सु लाजा अफेसु ति एताका (वा) मे इछा (अं) तेसु पापुनेयु लाजा हेवं इछति अनु (विगि) नहे (यू) ममियाये (अ) स्वसेयु च मे सुखं मेव च लहे (यू) ममेत (नो) (दु) ख हेवं पापुनेयु ख (मिस) ति ने लाजा ए सकिये खमितवे ममं निमित्तं च धंम चले (यू) ति हिदलोग च पललोग च आलाधये (यू)

अर्थात् "वे मुझसे भय न करें, वरञ्च विश्वास रक्खें। मैं उनको सुख दूँगा और किसी प्रकार का दुःख नहीं दूँगा। यदि उनसे कुछ अपराध भी हो जायगा तो मैं उनको यथाशक्ति क्षमा प्रदान करूँगा। मेरे निमित्त वे धर्मपूर्वक चलें जिससे उन्हें यह लोक और परलोक दोनों प्राप्त हो सके।" अशोक कितना सहन-शील पुरुष था, और उसने अपने कार्य तथा उत्तरदायित्व के क्षेत्र को कितना विस्तृत कर रक्खा था। छठें शिलालेख के अनुसार वह सर्वत्र मनुष्यों को सुख पहुँचाने में संलग्न रहता था, "सर्वत्र च जनस अथे करोमि" उसको अपने सुख-साधन की तनिक भी परवाह न थी, उसकी तो यह इच्छा थी कि उसके जीवन की हर घड़ी लोकहित-सम्पादन में बीते। इस उद्देश्य से उसने यह आज्ञा निकाली—

(स) वे काले भूं (ज) मानस मे ओरोधनम्हि गभागारम्हि वचम्हि व विनितम्हि च उपानेसु च सर्वत (त्र) पटिवेदका स्टिता अथे मे (ज) नसं पटिवेदेथ इति।

अर्थात् "मैंने इस प्रकार का प्रबन्ध किया है कि सब समय, चाहे मैं खाता होऊँ, चाहे रनिवास में होऊँ, चाहे शयनागार में होऊँ, चाहे पशुशाला में, चाहे डाक से लम्बी यात्रा में, चाहे उद्यान में, सर्वत्र प्रतिवेदक-प्रजा सम्बन्धी कार्यों की मुझे निश्शंक सूचना दें।" इतना अधिक परिश्रम करने पर भी कभी अशोक को सन्तोष न होता था—"नास्ति हि मे तो (सो) उ (स्टा) नम्हि अथ-संतीरणाय व"। वह जो कुछ करता था सब लोक-हित के लिये ही—"कतव्व (व्य) मते हि मे स (र्व) लोकहितं" सचमुच उसकी कार्यतत्परता विचित्र थी और उसका प्रजाप्रेम अगाध था।

अशोक की ख्याति एवं महत्ता का एक कारण यह भी है कि उसने अपने राज्य की नीति का पथ बिलकुल बदल दिया। उसके पूर्व प्रायः सभी मगध के राजाओं ने अपनी विजय-पताका चतुर्दिक फैलाने का प्रयत्न किया था। किन्तु उस भयंकर युद्ध की भीषणता एवं क्रूरता ने उसके हृदय पर भारी आघात पहुँचाया। तेरहवें शिलालेख में लिखा है कि कलिंग विजय में—

दि अढ़-म (त्रे) प्रणशत (सह) स्रो (ये) ततो अपवुढ़े शत सहस्रम मते तत्र हते बहु-तवत (के) (व) (मुटे)।

अर्थात् "डेढ़ लाख आदमी बन्दी बनाये गये, लगभग एक लाख मारे गये, और उससे कई गुने आदमी युद्ध सम्बन्धी कठिनाइयों के कारण मरे।" लाखों मनुष्यों को हताहत देखकर और उनके मित्रों तथा बन्धुवर्गों के करुण क्रंदन को सुनकर अशोक दयाभाव से द्रवीभूत हो गया। उसने सोचा रक्तपात से साम्राज्य लिप्सा ही प्रज्वलित होती है, और इस प्रकार लोगों को संत्रस्त करना एक घोर पाप है। फलतः उसने "धम्म विजय" की ओर ध्यान दिया। चतुर्थ शिलालेख के अनुसार फिर "भेरीघोसो अहो धंमघोसो" अर्थात् "भेरीघोस" की जगह "धम्मघोस" सुनाई देने लगी। अशोक ने अपनी शक्ति सार्वजनिक कार्यों में लगाई, और "धम्म" की सरिता वेग से प्रवाहित हुई। उसकी प्रजा में एक नये जीवन का संचार हुआ, और चारों ओर अहिंसा, प्रेम और दया की दुन्दुभी सुनाई पड़ी। इसका परिणाम यह अवश्य हुआ कि अशोक के समय में मगध साम्राज्य के राजनीतिक विस्तार एवं विकास का सूर्य अस्त हो गया किन्तु उसके अथक परिश्रम और उत्साह से "धम्म विजय" की वैजयंती विदेशी यवन राज्यों में भी उड़ी और भारतवर्ष ने

एक उच्चादर्श अपनाया। आज संसार में शान्ति स्थापना की समस्या बहुत जटिल प्रतीत हो रही है। किन्तु अशोक ने एक ही दृढ़ निश्चय से घातक अस्त्रों का नितान्त बहिष्कार कर दिया और सीमान्त जातियों और छोटे-छोटे राज्यों को भी विश्वास दिलाया कि वह उनको लेशमात्र हानि न पहुँचायेगा। अत्यन्त शक्तिशाली होते हुए भी अशोक का यह शान्तिमय संकल्प निस्सन्देह उसकी महानता का एक ज्वलन्त प्रमाण है।

नालन्दा और उसका आस-पड़ोस

श्री भास्करनाथ मिश्र एम० ए०, अध्यक्ष सारनाथ संग्रहालय

१९ वीं शती के आरम्भ में फ्रांसिस बुशनन हैमिल्टन ने बिहार प्रान्त के सभी जिलों की पैमाइश का कार्य आरम्भ किया। पटना और गया जिलों की विज्ञप्ति उसने १८११-१२ में पूरी कर ली। इसमें उसने पटना जिलांतर्गत बिहार-शरीफ नाम के कस्बे से सात मील पश्चिम में स्थित बड़गाँव का भी उल्लेख किया है। उसने लिखा है कि बड़गाँव में प्राचीन दोरहरों (अर्थात् धरहरों) की कई पंक्तियाँ अबतक विद्यमान हैं। वहाँ उसे इधर-उधर बिखरी हुई बहुत-सी प्रस्तर-मूर्तियाँ एवं अन्य बहुमूल्य वस्तुएँ मिलीं। भारतीय पुरातत्व विभाग के प्रथम अध्यक्ष श्री अलेक्जेण्डर कनिंघम ने १८६१-६२ में बड़गाँव का निरीक्षण किया और उसे प्राचीन नालन्दा महाविहार वाला स्थल बताया।[१] १८६४ में कैप्टेन मार्शल ने नालन्दामें थोड़ा-बहुत खनन-कार्य किया। तत्पश्चात् १८७१ में बिहार-शरीफ के तत्कालीन एस. डी. ओ. श्री ए.एम. ब्रॉडले ने नालन्दा के खण्डहरों का सूक्ष्म अध्ययन किया और एक पुस्तक भी प्रकाशित की।[२] १८७२ में कनिंघम फिर नालन्दा आया और अपनी सरकारी विज्ञप्ति तैयार की।[३] लम्बे अर्से के बाद भारतीय पुरातत्व विभाग ने नालन्दा के पुनरुद्धार का कार्य सम्भाला और आज जो कुछ हम नालन्दा के विषय में जानते हैं, उसका श्रेय इसी विभाग को है। इस विभाग ने १९१५-१६ से १९४० तक नालन्दा के रहस्यों का उद्घाटन किया।

उपलब्ध सूत्रों से पता चलता है कि नालन्दा नाम की नगरी राजगृह (वर्तमान राजगिर, जिला पटना) के उत्तर-पूर्व एकाध योजन पर थी और उस समय यह अनेक भवनों तथा शालाओं से सम्पन्न थी।[४] फाहियान पाँचवीं शती के आरम्भ में नालन्दा आया था। उसने लिखा है कि एक एकाकी पहाड़ी (बिहार-शरीफ की पीर पहाड़ी) से एक योजन दक्षिण-पश्चिम नालन्दा विद्यमान् थी।[५] ह्वेनसाँग के विचार से, जो कि सातवीं शती के पूर्वार्द्ध में नालन्दा आया, राजगृह-स्थित राहुल नामक स्तूप से ३० ली (= ६ मील) की दूरी पर नालन्दा विहार था।[६] उसके जीवनी-कार ने नालन्दा को महाबोधि (बोधगया) से सात योजन[७] और इत्सिंग ने, जो सातवीं शती के उत्तरार्द्ध में नालन्दा आया, नालन्दा को महाबोधि (बोधगया) से उत्तर-पूर्व सात योजन से अधिक की दूरी पर अंकित किया।[८]

---

१. ए. कनिंघम—ए. एस. आर. खण्ड १, पृ० ३१ और ३५

२. ए. एम. ब्रॉडले—रुइंस ऑव नालन्दा मोनास्टरीज ऐट बरगाँव (कलकत्ता १८७२)

३. ए. कनिंघम—ए. एस. आर. खण्ड १.

४. महावस्तु अवदान, खण्ड आठ पृष्ठ ५६

५. लेग्गी—'ट्रैवल्स ऑव फाहियान, पृ. ८० (फु. नो. ४) व पृ० ८१.; एच. ए. गाइल्स-'ट्रैवल्स ऑव फाहियान (१९२३), पृ. ४८-४९.

६. वाटर्स—'ऑन युवान च्वांग्स ट्रैवल्स इन इण्डिया', खण्ड २, पृ. १६४.

७. बील—'लाइफ ऑव ह्वेनसाँग', इण्ट्रोडक्शन, पृ. ३८.

८. के. ए. नीलकान्त शास्त्री—'नालन्दा' (जर्नल ऑव दि मद्रास यूनिवर्सिटी, खण्ड १३, सं० २, १९४१) पृ. १५१.

निष्कर्ष यह कि नालन्दा राजगृह से सात मील और बोधगया से ५० मील दूर उत्तर-पूर्व में बसी थी। वर्तमान खण्डहरों की स्थिति भी इस तथ्य की पुष्टि करती है। ये खण्डहर नालन्दा महाविहार के ही हैं, इसका प्रमाण हमें निम्नांकित अभिलेखों से, जो इन्हीं खण्डहरों के गर्त में से खोज निकाले गये हैं, मिलता है :—

(१) [श्रीनाल] न्दायां श्री शुक्रादित्य-कारित—
······हारे चातुर्दिशार्य महा—

अशोक-पुत्री भिक्षुणी संघमित्रा बोधिवृक्ष की शाखा के साथ लंका जाते हुए

भिक्षु संघस्य[1]

एक मिट्टी की मुहर पर यह लेख प्राप्त हुआ है। इसकी लिपि पाँचवीं शती की है, जिससे प्रकट होता है कि नालन्दा विहार पाँचवीं शती में विश्व के कोने-कोने से आये भिक्षुओं के महासंघ के रहने के उपयुक्त एक महानगर था।

(२) कन्नौज-राज श्री यशोवर्म देव (८ वीं शती) के समय के एक शिला-लेख में नालन्दा का वर्णन इस प्रकार है[2] :—

"नालन्दा हसतीव सर्व्वनगरीः शुभ्राभ्रगौरस्फुरच्चैत्यांशुप्रकरीस्सदागमकला विख्यात विद्वज्जना। यस्यामम्बुधरावले हि शिखर-श्रेणी विहारावली मालेवोर्ध्वं विराजिनी विरचिता धात्रा मनोज्ञा भुवः। नाना रत्नमयूखजालखचितप्रासाददेवालया; सद्विद्याधरसंघरम्यवसतिर्धत्ते सुमेरो श्रियम् ॥" (५-८).

अर्थात्—"वैभवशालिनी नालन्दा अपनी समकालीन नगरियों का मानों उपहास-सा कर रही है। यहाँ के विद्वान् उच्च ग्रंथों के ज्ञाता तथा कलाओं के मर्मज्ञ हैं। यहाँ के चैत्यों से शुभ्र—(स्वच्छ प्रकाश प्रस्फुटित होता रहता है। यहाँ के विहारों की भव्य पंक्ति मेघों को पाने का प्रयास करती हैं। विधि के रचे हुए पृथिवी पर के ये विहार विकसित प्रसूनों की भाँति ऊपर उठ जाना चाहते हैं। नालन्दा के अपने प्रासाद है, देवालय हैं,

१. ए. एस. आई. मेमॉयर नं० ६६ (१९४२) पृ० ३८.

२. वही, पृ० ७९

जिनके बहुमूल्य अलंकरणों की किरणें अपने प्रकाश का एक जाल-सा बिछाये उन्हें आलोकित कर रही हैं। यह नालन्दा बौद्ध संघ के भिक्षुओं का रम्य-स्थल है और विद्याधरों की स्थली सुमेरु पर्वत की समता करती है।"

(३) पालवंशीय राजा देवपाल देव (९ वीं शती) के एक ताम्रपत्र में नालन्दा का रोचक उल्लेख है।[१]

(अ) 'सुवर्णद्वीपाधिप महाराज श्री बालपुत्र देवेन दूतक मुखेन वयं विज्ञापिताः यथा मया श्री नालन्दायां विहारः कारितस्तत्र भगवतो बुद्ध भट्टारकस्य प्रज्ञापारमितादि सकल धर्म्मनेत्री स्थानस्यार्थे तत्रैक बोधिसत्त्व गणस्याष्ट महापुरुष पुद्गलस्य चतुर्दिशार्थ भिक्षुसंघस्य बलिचरुसत्रचीवरपिण्डपातशयनासने ग्लान प्रत्यय-भेषज्याद्यर्थं भिक्षुधर्म-रत्नस्य लेखनाद्यर्थं विहारस्य च खण्डस्फुटित समाधानार्थं शासनीकृत्य प्रतिपादिताः (३७-४०).

अर्थात्—श्री देवपालदेव कहते हैं कि "सुवर्णद्वीपाधिप श्री बालपुत्रदेव ने दूतक द्वारा कहला भेजा है कि 'वे नालन्दा में एक विहार की स्थापना करना चाहते हैं।' अस्तु इस विहार की सुव्यवस्था एवं टूटने पर मरम्मत के लिए, इसमें रहने वाले विद्वानों से बौद्ध-ग्रंथ लिखाने के लिए, चारों दिशाओं से आये हुए और इस विहार में ठहरे हुए भिक्षुओं के समागम के लिए शयन, आसन, औषधि वगैरह जुटाने के हेतु यह ताम्रपत्र लिखा गया है।"

कनिंघम ने बड़गाँव को नालन्दा माना है। कतिपय विद्वानों ने इसी कथन को अपना लिया है। एक लेखक के अनुसार तो बड़गाँव नालन्दा के खण्डहरों के पास ही स्थित है। किन्तु तथ्य यह है कि नालन्दा के अवशेषों के एक भाग पर आज का बड़गाँव बसा है। यह लगभग ३ फर्लांग लम्बी बस्ती है जब कि नालन्दा के अवशेष तीन वर्ग मील के घेरे में फैले हुए हैं।

नालन्दा पहुँचने के लिए बुद्ध के समय में एक मार्ग था। कहा जाता है कि बुद्ध जब राजगृह से कुशीनारा के लिए चले तो वे अम्बलट्ठिका होते हुए नालन्दा आये और नालन्दा से पाटलिग्राम (वर्तमान पटना) गये।[२] श्रावस्ती (वर्तमान सहेट-महेट) से राजगृह तक एक लम्बा व्यापारिक मार्ग उनके समय में प्रचलित था। इस मार्ग पर सेतव्य, कपिलवस्तु, कुशीनारा, पावा, हस्तिग्राम, भण्डग्राम, वैशाली, पाटलिग्राम, कोटिग्राम, नालन्दा, अम्बलट्ठिका एवं राजगृह थे।[१] सम्भवतः यह मार्ग राजगृह से आगे लट्ठिवन और उरुवेल (बोधगया) तक जाता था। सातवीं शती से कुछ पहले यह मार्ग ताम्रलिप्ति से वाराणसी जानेवाले मार्ग से उरुवेल में मिल जाता था।

फाहियान पहले बिहार-शरीफ की पीर पहाड़ी गया और वहाँ से नालन्दा पहुँचा। ह्यूनसांग महाबोधि (बोधगया) से लट्ठिवन और वहाँ से राजगृह होता हुआ नालन्दा आया। इत्सिग ताम्रलिप्ति के बन्दरगाह पर उतर कर वहाँ से सीधे महाबोध आया और ह्यूनसांग वाले रास्ते से नालन्दा जा पहुँचा। स्वयं बुद्ध उरुवेल से लट्ठिवन और वहाँ से राजगृह जाते रहते थे।[२]

बंगाल के पालवंशीय राजाओं की छत्रछाया में नालन्दा खूब फूली-फली, किन्तु उस समय के मार्ग का कहीं उल्लेख नहीं मिलता। उद्दण्डपुर (वर्तमान बिहार-शरीफ) पाल राजाओं की राजधानी तथा बौद्ध-शिक्षा का प्रमुख केन्द्र था।[३] नालन्दा से यह सात मील उत्तर-पूर्व बसा था। अस्तु दोनों केन्द्रों के बीच आवागमन का मार्ग अवश्य रहा होगा।

बुशनन हैमिल्टन ने १८११-१२ में नालन्दा आने के लिए बिहार-शरीफ से बेगमपुर और बड़गाँव आनेवाली सड़क पकड़ी थी। आज भी यह सड़क चालू है और सम्भवतः मुगल-काल से ही इसका प्रचलन रहा होगा।

नालन्दा का सबसे महत्त्वपूर्ण भाग आज खना जा चुका है। इसके उत्तर में सूरजपुर तथा बड़गाँव के गाँव स्थित हैं। इन गाँवों के दक्षिण में एक जैन मन्दिर है जो सम्भवतः सौ वर्षों से ऊपर का है। बड़गाँव बिहार-

---

१. वही, पृ० ८८.

२. महापरिनिर्वाण सूत्र (सारनाथ, बनारस, वि. स. १९९८)

१. सुत्तनिपात (पंक्तियाँ १०११-१०१३)

२. वाटर्स—'ऑन युवान च्वांगस् ट्रैवल्स इन इंडिया' खण्ड २, पृष्ठ १४६-४७

३. ए. एस. आई. मेमायर, नं० ६६ (१९४२), पृ० ४०, प्लेट ३ (ई)

शरीफ के हलके का एक प्रसिद्ध तीर्थ-स्थल है। सूर्यकुण्ड और सूर्यमन्दिर इसके प्रसिद्ध स्थानों में से हैं। पालकाल की अनेक देवी-देवताओं की मूर्तियाँ इस गाँव में यत्र-तत्र संचित की हुई हैं। इनमें पंचमुख लिंग, आदि ब्रह्म, अग्नि, सूर्य, विष्णु, गणेश व पार्वती की मूर्तियाँ अद्भुत और विशाल हैं। जैन ग्रन्थों के अनुसार बड़गाँव १६ वीं शती का माना जाता है।[२] अस्तु सम्भवतः ये मूर्तियाँ नालन्दा महाविहार के खण्डहरों पर से बीनकर लाई गई हैं।

बड़गाँव के उत्तर में सूर्यकुण्ड के पूर्व में एक ईंटों का ढूह खड़ा है जो सम्भवतः चैत्य या स्तूप हो सकता है। इसी प्रकार और आगे जाने पर दीर्घाकार चौकोर ढूह देख पड़ते हैं जो विहार ही हो सकते हैं। इन विहारों से लगा हुआ बेगमपुर नामक गाँव बसा है। इस बेगमपुर के पूर्व नालन्दा का सबसे बड़ा तड़ाग दीगी स्थित है। यह एक मील लम्बा और लगभग ३ फर्लांग चौड़ा है। बड़गाँव के पूर्व में पन्सोखर नामक दूसरा तड़ाग है जो दीगी से थोड़ा ही छोटा है। इन दोनों तड़ागों में श्वेत एवं रक्त कमल होते हैं।

नालन्दा के पूर्व में विहारों तथा चैत्यों आदि के ढूह अभी तक अछूते खड़े हैं और इनकी परतों में अभी न जाने क्या-क्या भरा है। इसी दिशा में सारिचक नामक एक गाँव भी है। इसका सम्बन्ध सारिपुत्र की माता सारि से जोड़ा जाता है[३], किन्तु अभी तक इसकी पुष्टि में कोई सामग्री उपलब्ध नहीं हो सकी है।

दक्षिण में कपटिया और मुजफ्फरपुर के गाँव पड़ते हैं। मुजफ्फरपुर के पास एक छोटा-सा ईंटों का स्तूप है। ये गाँव भी नालन्दा के खण्डहरों पर ही बसे हैं। इनके दक्षिण में इन्द्रशेखर नामक एक दीर्घ तड़ाग है जो पन्सोखर से किसी भाँति कम नहीं है। इसी पोखर के दाहिने कूल पर 'नवनालन्दा महाविहार' का भवन बन रहा है।

२. वही, पृ० ४

३. वही, पृ० ५–६

नालन्दा के पश्चिम में कई एक छोटे-छोटे तालाब हैं। साथ ही विहारों के अवशेष भी जहाँ-तहाँ दिखाई पड़ते हैं। लगभग दो मील दूर पर जगदीशपुर का एक ढूह है जो विहार सा लगता है। यहाँ बुद्ध की एक अति-विशाल मूर्ति है। इसमें 'मार-विजय' का दृश्य प्रमुखतः और गौण रूप से उनके जीवन की अन्य घटनाओं का दिग्दर्शन कराया गया है। बंगाल व बिहार में शायद इससे बड़ी मूर्ति और कोई नहीं है। नालन्दा से थोड़ी ही दूर एक विहार के खण्डहरों पर 'नैरात्मा' नामक बौद्ध-देव की एक मूर्ति पड़ी हुई मिली है। मूर्ति खण्डित है; किन्तु ऐतिहासिक दृष्टि से बड़ी महत्त्वपूर्ण है। इसी प्रकार की एक मूर्ति सारनाथ संग्रहालय में भी रक्खी है।

नालन्दा के तालाबों का वर्णन ह्यूनसांग और इत्सिंग ने किया है। अस्तु ये गुप्तकाल से लेकर आज तक नालन्दा तथा उसके आस-पास के काम आते रहे हैं। इनमें से कुछेक तालाब पाल राजाओं के बनवाए हुए होंगे; क्योंकि बंगाल में कई एक बृहदाकार तालाब उन्हीं की संरक्षा में बनाये गये थे। चीनी यात्रियों ने लिखा है कि इन्हीं तड़ागों के किनारे नालन्दा के विशिष्ट भवन खड़े हैं, जिनकी परछाँई इनके जल में पड़ा करती है। इन भवनों में महाविहार के तीन पुस्तकालय रत्न-महोदधि, रत्न-सागर और रत्न-रंजक जग-प्रसिद्ध हैं। नालन्दा के भवनों का निर्माण आस-पास की मिट्टी से हुआ। परिणाम-स्वरूप बड़े-बड़े गड्ढे बन गये। ये ही बाद में दीगी और पन्सोखर बन गए और महाविहार के चातुर्दिशार्य भिक्षु-संघ[१] को स्नानादि की सुविधा भी प्राप्त हो गई। अभी हाल में बिहार सरकार ने दीगी पोखर के किनारों को खूब ऊँचा करके उसमें अपार जल-राशि संचित करली है, जिससे अकाल-पीड़ित इलाकों को सिंचाई के लिए पर्याप्त मात्रा में जल दिया जाता है।

१. नालन्दा के खण्डहरों से प्राप्त हजारों मिट्टी की मोहरों पर बहुधा 'श्री नालन्दा महाविहारे चातुर्दिशार्य भिक्षु संघस्य' वाला लेख अंकित किया हुआ मिलता है।

मनुष्य ने देवताओं को कैसे बनाया ?

भदन्त शासनश्री महास्थविर

कुछ लोगों का कथन है कि मनुष्य स्वतन्त्र होकर संसार में उत्पन्न हुआ है, किन्तु यह बात यथार्थ नहीं है। मनुष्य स्वतन्त्र होकर उत्पन्न नहीं हुआ है, प्रत्युत मानव-विद्या, जीव-विद्या और समाज-विद्या से हमें ज्ञात होता है कि वह स्वतन्त्र होने के लिए उत्पन्न हुआ है।

प्रारम्भ में मनुष्य प्रकृति के पराधीन होकर इस पृथ्वी पर उत्पन्न हुआ। वह धूप, वर्षा, अग्नि, बिजली, वायु, बाढ़, भूचाल, हिंसक जन्तु आदि सचेतन तथा अचेतन सभी प्राकृतिक शक्तियों के अधीन उत्पन्न हुआ और बाद में धार्मिक, आर्थिक, राजनीतिक, मानसिक आदि विविध पराधीनताओं के कारण वह उनका दास-सा हो गया। मनुष्य का प्रकृति के अधीन होना स्वभावतः सिद्ध है। किन्तु, अन्य बातों के अधीन होकर जो वह रहता है, उसमें सारी जिम्मेदारी उसकी ही है।

यद्यपि मनुष्य प्रकृति के अधीन होकर उत्पन्न हुआ है, किन्तु स्वतन्त्र होने की उत्कट अभिलाषा उसका महान गुण है। प्राकृतिक शक्तियों के अधीन होते हुए भी सचेतन और अचेतन, भौतिक और मानसिक सभी शक्तियों पर विजय प्राप्त करके स्वतन्त्र होकर मनुष्य के रहने का प्रयत्न ही उसके स्वतन्त्र होने का विचार है। हम देखते हैं कि मानव की उत्पत्ति के समय से लेकर आजतक के सभी गुण किसी न किसी अंश में उसमें विद्यमान् हैं तथा उसके स्वतन्त्र होने का क्रमिक विकास प्राचीन और दीर्घकालीन है। यदि भली प्रकार विचार किया जाय तो ज्ञात होगा कि मनुष्य के सभी कार्य उसके स्वतन्त्र होने के लिए किये गये अनवरत प्रयत्न के फल हैं। धर्म, धर्म-पद्धतियाँ, आर्थिक-क्रम, राजनीतिक-प्रणाली, सांस्कृतिक और कलात्मक कार्य—सभी इसी के द्योतक हैं। मनुष्य स्वतन्त्र होने के विचार से ही आधुनिक अवस्था को प्राप्त हुआ है।

जीव-विद्या के अनुसार विचार करने पर ज्ञात होता है कि पृथ्वी के सभी जीवों का प्रमुख प्रयत्न जीवित रहने के लिये होता है। मनुष्य का भी जीवित रहने के लिए प्रयत्न करना स्वाभाविक है। अतः उसे संसार में बने रहने के लिए प्रकृति के पराधीन उत्पन्न होकर भी अपनी रक्षा के लिये प्राकृतिक शक्तियों के विरुद्ध प्रयत्न करना पड़ा। अपने मार्ग में बाधक होनेवाली शक्तियों का यदि वह विरोध नहीं कर सकता, तो उसे संसार में रहना कठिन होता। अतः स्पष्ट ज्ञात होता है कि मनुष्य को प्रारम्भ से लेकर आजतक सदा ही प्रकृति के साथ संघर्ष करना पड़ा है। प्रारम्भ में उसका संघर्ष प्राकृतिक शक्तियों के विरुद्ध था, जिससे उसकी शारीरिक शक्ति प्रकट हुई। मनुष्य अपनी मुक्ति का संघर्ष विविध प्रकार से करता आ रहा है, जो इस समय भी विद्यमान् है।

मनुष्य ने शारीरिक स्वतन्त्रता प्राप्ति के लिये जो संघर्ष प्रारम्भ किया, वह जीवित रहने के लिये किया गया उसका मानसिक स्वतन्त्रता प्राप्ति का प्रयत्न था। उसे अविनाशी बनकर रहने के लिये प्राकृतिक शक्तियों से स्वतन्त्रता पाने के लिये उन शक्तियों को बनाये रखना भी आवश्यक हुआ। किन्तु, उन शक्तियों के यथार्थ स्वभाव को न जानकर उन्हें पालना सम्भव नहीं। वस्तुतः काय और मन से बहुत दुर्बल अवस्था में रहने वाले मनुष्य को प्रकृति का यथार्थ ज्ञान नहीं था, अतः यथार्थ ज्ञान न होने के कारण उसे बाह्य और आध्यात्मिक शक्ति न प्राप्त हुई। ऐसा होने पर भी प्रकृति का स्वभाव समझना और उसका पालन करना मनुष्य के लिये अनिवार्य कार्य था। फलतः आदिमानव ने आश्चर्यमयी वस्तुओं का विचार-विमर्श प्रारम्भ किया। इस प्रकार मनुष्य को जीवित रहने के लिये शारीरिक व्यायाम की ही नहीं, प्रत्युत मानसिक व्यायाम की भी आवश्यकता हुई—ऐसा विदित होता है। इस सत्य को यथार्थ रूप से जानते हुए हम लोगों को और भी विशेष बात यह जाननी

चाहिए कि मनुष्य को जीवित रहने के लिए जिस प्रकार आहार ग्रहण करना, श्वास-प्रश्वास करना, आदि स्वाभाविक क्रियायें आवश्यक हैं, वैसे ही चिन्तन करना और विचार-विमर्ष करना भी उसके जीवित रहने के लिए आवश्यक है। चिन्तन और विचार-विमर्ष के बिना मनुष्य का जीवित रहना सम्भव नहीं। 'चिन्तन' मनुष्य का जीव-विद्या के अनुसार एक प्रधान गुण है। मानव को जीवित रहने तथा उसके क्रमिक विकास के हेतु चिन्तन करना परमावश्यक एवं मूल कारण है। इसलिये इस जीव-लोक में अन्य जीवों की अपेक्षा मनुष्य का मस्तिष्क एक अद्भुत ढंग से उन्नतिशील हुआ।

हमें ऐसा ज्ञात होता है कि मनुष्य द्वारा स्वतन्त्र होने के लिए किया गया उसका जीवन-संघर्ष उसकी प्रारम्भिक नींव है। यह संघर्ष शारीरिक और मानसिक दो प्रकार के हैं। प्रकृति को समझने के लिए आदिमानव ने जो मन लगाया वह उसका मानसिक व्यायाम था, जो प्रारम्भ से लेकर आज तक क्रमशः विकसित होते हुए उन्नति को प्राप्त हुआ है। मानसिक क्रमिक-विकास का इतिहास बड़ा ही रोचक है। इतिहास से प्रगट है कि प्राकृतिक शक्तियों के अधीन होकर उत्पन्न हुए मानव द्वारा प्रारम्भ से लेकर इस बीसवीं सदी के परमाणु-युग तक, लोक-प्रभु होने के लिए जितनी भौतिक शक्ति बढाई गई है, वह उसके मानसिक व्यायाम का क्रमिक विकास है। मानव ने मानसिक रूप से जितनी उन्नति की है, भौतिक रूप से भी उतनी उन्नति की है। शारीरिक उन्नति से उसकी मानसिक उन्नति भी हुई है। मनुष्य की यथार्थ उन्नति जानने के लिए हमें यह जानना चाहिए कि चित्त और द्रव्य दोनों की क्रिया एवं प्रतिक्रिया से उनके परस्पर के कार्य सम्पन्न होते हैं।

नेपाल का काशी स्वयंभू चैत्य

प्रारम्भ में मनुष्य ने प्राकृतिक शक्तियों को जानने के लिए मानसिक व्यायाम के रूप में विचार-विमर्ष करना प्रारम्भ किया। सम्प्रति धूप, गर्जन, बिजली, वायु, बाढ़ आदि प्राकृतिक बातों के सम्बन्ध में कोई रहस्य की बात नहीं है, तथापि आजसे तीस हजार वर्ष पूर्व रहनेवाले मानव के मन को गोचर न होनेवाली बड़ी अद्भुत बात थी। वह उस समय जानता था कि यह स्वाभाविक सिद्धि के कारण अपने लिए भला-बुरा भी हो सकता है। अतः प्राकृतिक शक्तियों के दुर्विपाक से बचना उसके लिए आवश्यक प्रतीत हुआ। प्राकृतिक आश्चर्यमयी शक्तियाँ कैसे सिद्ध होती हैं? उनका स्वभाव क्या है? उनके दुष्परिणामों से कैसे दूर रहा जा सकता है? आदि प्रश्नों के लिए मन लगाने वाले आदिमानव को हम लोगों की तरह नवीन-विद्या का सहारा न था। तथापि वह चिन्तन मात्र से उसका उत्तर देता था। फलतः प्राकृतिक वस्तुओं के सम्बन्ध में आदिमानव द्वारा किया गया सम्पूर्ण विचार और विश्वास उसके चिन्तनमात्र से उद्भूत काल्पनिक वस्तु थी। ज्ञान न होने पर मनुष्य अपने द्वारा चिन्तित विचारों को ही अपना सहायक बनाता है। जब आदि मानव ने एक पत्थर के टुकड़े को दूसरे पत्थर के टुकड़े से रगड़ कर अग्नि उत्पन्न किया, तब उसे आकाश में चमकती हुई बिजली विशाल अग्नि-स्कन्ध के रूप में जान पड़ी। उसने विचार किया कि जिस प्रकार हम दो पत्थर के टुकड़ों को रगड़ कर अग्नि उत्पन्न करते हैं, उसी प्रकार आकाशमें चमकनेवाली बिजली एक विशाल अग्नि-स्कन्ध है, जो हमसे किसी अधिक शक्तिमान् व्यक्ति द्वारा उत्पन्न की गई होगी। इस प्रकार आदिमानव ने बिजली रूप अग्नि-स्कन्ध को किसी बड़े देवता या देवताओं से उत्पन्न किया गया समझा था। वह इसी प्रकार अन्य सभी प्राकृतिक वस्तुओं को देवताओं द्वारा निर्मित समझता था। परिणामतः बुद्धिहीन, अज्ञानी, अशरण और दीन आदि-मानव के मनोभाव में उत्पन्न संकल्प मात्र से
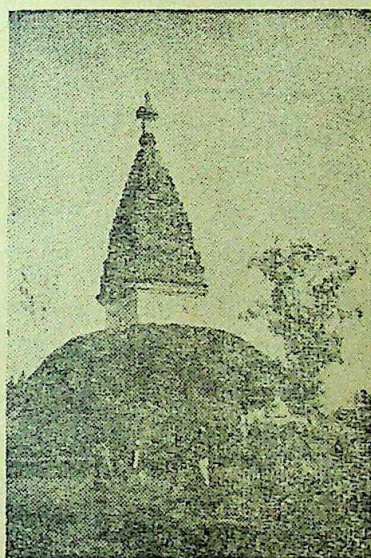
ही प्राकृतिक वस्तुयें देवता मानी जाने लगीं। यह बात सम्प्रति प्रकृति सम्बन्धी सूक्ष्म रहस्य को भी यथार्थ रूप से जानने और समझने की शक्ति रखने वाले हम लोगों को विदित है।

प्राकृतिक वस्तुओं को देवत्व में रखकर अपने मन से देव-परम्परा का निर्माण करनेवाला आदिमानव इस प्राकृतिक शक्ति के कारण अपने लिए अच्छा-बुरा होना, देवताओं की खुशी-नाराजी से सिद्ध होता है—ऐसा निर्णय किया। अतः उसने प्राकृतिक-शक्ति से पीड़ा-रहित जीवन-यापन करने के लिये इन शक्तियों के रूप में दिखाई देनेवाले विविध देवताओं के चित्त को प्रसन्न करना अपना कर्तव्य समझा। देवताओं के चित्त को प्रसन्न करके बुरी दशाओं को भली बनाने के लिये उसने बलि और प्रार्थना द्वारा देवताओं को सन्तुष्ट करने की कल्पना की। (दुर्बल द्वारा सबल को रिश्वत देना यहीं से प्रारम्भ हुआ)। इस कारण यज्ञ, होम, स्तुति, प्रार्थना, पूजा आदि कर्म-काण्डों का आरम्भ हुआ। मनुष्यों में धर्म-भावना की उत्पत्ति भी यहीं से आरम्भ हुई।

हमें विदित है कि मनुष्यों में प्रारम्भ से विकसित हुआ यही धार्मिक-चिन्तन का क्रम है। साधारणतः विचार-विमर्ष करने पर संसार में सर्वत्र सामान्यतः पन्द्रहवीं शताब्दी ईस्वी तक मनुष्यों का आचार-विचार इसी ओर झुका हुआ था। तदुपरान्त मनुष्य ने लोक, जीवन, धर्म और दर्शन के सहारे सोचना-विचारना छोड़कर विज्ञान के अनुसार उन्हें देखना-सोचना आरम्भ किया। इससे पूर्व प्राच्य एवं पाश्चात्य दर्शनों में प्रायः समान विचार और विश्वास हमें दृष्टिगत होते हैं।

पूर्वी देशों के मध्य मनुष्य की चिन्तन-परम्परा सूक्ष्म धार्मिक दर्शन की भाँति भारतवर्ष में ही शीघ्र उन्नति को प्राप्त हुई। भारत में धार्मिक और दार्शनिक साहित्य के ग्रन्थ चतुर्वेद माने जाते हैं, परन्तु वैदिक साहित्य में पूर्वी देशों के आदिमानव की भावनायें सन्निहित हैं। जीवन के लिए स्वतन्त्रता की प्राप्ति, स्वतन्त्रता के लिये अधिक ज्ञानोपार्जन आवश्यक होने के कारण मनुष्य की चिन्तन-धारा कभी भी नहीं रुकी। इसीलिये हम लोग उसकी विचार-परम्परा का क्रमिक विकास देखते हैं। भारत में जब शिष्टाचार उन्नत अवस्था को प्राप्त हुआ, तब उसमें उत्पन्न कुछ बुद्धिमान चिन्तकों के मानसिक व्यायाम के फलस्वरूप उपनिषद् दर्शन प्रादुर्भूत हुआ। वैदिक दर्शन से तृप्त न हुए विद्वानों के मस्तिष्क की उपज ही उपनिषद् दर्शन था। उसे हम लोक और जीवन के यथार्थ अन्वेषण के लिए किया गया प्रयत्न कह सकते हैं। अतः उपनिषद् दर्शन मनुष्य की चिन्तन-परम्परा की एक उच्च अवस्था है।

किन्तु, सम्प्रति हम लोगों को स्पष्ट विदित होता है कि यह मूलधर्म लोक और जीवन के सम्बन्ध में शास्त्रीय चिन्तन-क्रम से रहित है। लोक और जीवन के सम्बन्ध में सर्वप्रथम भगवान् गौतमबुद्ध ने शास्त्रीय मत प्रगट किया। बुद्धमत के पूर्व मनुष्यों में उत्पन्न प्रत्येक धर्म और दर्शन मनुष्य की दीनता को प्रगट करनेवाला था। वह बहुदेववाद, एकदेववाद, द्वैतवाद, अद्वैतवाद आदि अनेक वादों के द्वारा किसी अलौकिक जीव या तत्व के अधीन मनुष्य को मानता था और मनुष्य सदा ही अशरण एवं दीन बना था। किन्तु, भगवान् बुद्ध के दर्शन ने मनुष्य को अन्य शक्ति की पराधीनता से मुक्त करके स्वाधीनता को प्राप्त कराया। यह बुद्ध-दर्शन का परम विशिष्ट लक्षण है—ऐसा मैं मानता हूँ। महाचिन्तक भगवान् बुद्ध ने ही सर्व-प्रथम बतलाया कि मनुष्य की मुक्ति अथवा निरोध उसके अपने ही कार्यों से होता है, किसी बाह्य-शक्ति या प्रेरणा से नहीं। स्वयं प्रयत्न करके प्रत्येक व्यक्ति मुक्त हो सकता है। सभी मनुष्य मुक्ति पाने के लिये योग्य एवं समान हैं। कोई भी व्यक्ति किसी बाह्य शक्ति, परमात्मा, ब्रह्मा या देवता के अधीन नहीं है।

इतिहास से हमें ज्ञात होता है कि लोक, जीव एवं मनुष्य की आध्यात्मिक विमुक्ति के सम्बन्ध में सर्वप्रथम उत्पन्न हुए शास्त्रीय बुद्धमत के भारत में दीर्घकाल तक व्याप्त होने के कारण भारत के प्रधान धर्म वैदिक और वेदान्त दर्शन की नींव हील उठी। किन्तु, मानव जाति के अभाग्य से वह धराशायी नहीं हुआ। शास्त्रीय बुद्धमत क्रमशः ह्रास को प्राप्त हुआ और अशास्त्रीय वैदिक और वेदान्त दर्शन ही पुनः सिर उठा कर स्थिर हो गये।

मनुष्य के बुद्धि-विकास की प्रगतिगामी शक्तिको दबा कर अशास्त्रीय चिन्तन-क्रम को नवजीवन प्रदान करनेवाले भारतीय दार्शनिकों में शंकराचार्य प्रमुख हैं। शंकर ने बौद्ध दर्शन से आलोक ग्रहण किया—ऐसा बहुत लोग कहते हैं, किन्तु यह बात निराधार है। शंकर ने बौद्ध दर्शन के प्रभाव से अभाव को प्राप्त होनेवाले वैदिक एवं वेदान्त दर्शन को पुनः जीवित करने का प्रयत्न किया—ऐसा उनके दार्शनिक विवेचनों से प्रकट है। जो भी हो, बौद्ध धर्म का भारत में ह्रास होना, केवल भारत के लिए ही नहीं, प्रत्युत विश्व के लिए घटित एक महान् खेदजनक घटना है—ऐसा आधुनिक विद्वान् भी मानते हैं।

बौद्धयोगी के पत्र–१०

आत्म-गुणानुस्मरण

प्रिय जिज्ञासु,

मैं समझता हूँ कि तुम बहुत चिन्तित होगे, क्योंकि मैंने अपना पता तुम्हें नहीं दिया था और यहाँ आकर ध्यान-भावना में ही काफी दिन बीत गये। आज कौशाम्बी से मेरा पता लगाते हुए उपासकों का एक झुण्ड जब मेरे पास पहुँचा है, तब तुम्हारा हमें स्मरण हुआ है। मैं कौशाम्बी से सहजाति चला आया और अभी कुछ दिन यहीं रहने का विचार है। यह बड़ा रमणीय प्रदेश है। ऐसे प्रदेश में आकर योगियों का चित्त सहज ही ध्यानस्थ हो जाता है। योगिगण अपने गुणों को स्मरण करते-करते ही महत्फल प्राप्त कर लेते हैं। तुम प्रश्न कर सकते हो कि क्या आत्म-गुणानुस्मरण से भी सुगति प्राप्त हो सकती है? सुगति ही क्या, इससे मार्ग-फल तक प्राप्त किया जा सकता है। यह एक बड़ा सीधा एवं सुगम मार्ग है। इस पर चलकर थोड़े ही दिनों में मुक्ति मिल सकती है।

बुद्धधर्म की यह बहुत बड़ी विशेषता है कि बौद्ध साधक अन्य किसी की शरण न जाकर, दूसरे किसी का भरोसा न कर, त्रिरत्न में अचल श्रद्धा से युक्त हो, आत्म-निर्भर बन, अपने ही गुणों का स्मरण करते हुए सांसारिक दुःखों से मुक्ति पा सकता है। अपने तीन प्रकार के गुणों का अनुस्मरण साधक के लिये उपयोगी होते हैं—(१) शील का अनुस्मरण, (२) त्याग का अनुस्मरण, और (३) देवताओं का अनुस्मरण। तुमने सुना होगा कि जब व्यक्ति की मृत्यु होने लगती है और वह मृत्यु-शय्या पर पड़ा होता है, तब मृत्यु से कुछ ही क्षण पूर्व उसे अपने जीवन में किये हुए सभी पाप-पुण्य दिखाई देते हैं। वह जिस कर्म को अधिक किया रहता है, वह सबसे पहले दिखाई देता है अथवा मृत्यु के समय वह जिसका चिन्तन करता है। उसे दिखाई देनेवाले कर्म के फलानुसार वह सुगति-दुर्गति को प्राप्त होता है। इसलिये जो व्यक्ति अपने सद्गुणों को अनुस्मरण करने का अभ्यास बना लेता है, वह यदि मार्ग-फल नहीं प्राप्त कर सकता है, तो उसे सुगति निश्चय ही प्राप्त होती है। पुराने योगियों ने कहा है कि पृथक्-जनों की गति अनियत होती है, क्योंकि वह मृत्यु के समय जैसा निमित्त देखता है, वैसी ही उसकी गति होती है, किन्तु जिसने अपने गुणों का अनुस्मरण करना सीख लिया है, उसके लिये निश्चय है कि वह सुगति को प्राप्त होगा अथवा अर्हत्व प्राप्त करके परिनिर्वाण को प्राप्त हो जायेगा।

शीलानुस्मृति

जो साधक मुक्ति अथवा सुगति की कामना करते हुए अपने शील का बार-बार स्मरण करता है, उसके उस स्मरण करने को ही शीलानुस्मृति कहते हैं। जो साधक शीलानुस्मृति की भावना करना चाहे, उसे एकान्त स्थान में जाकर अन्य आलम्बनों से चित्त को खींच कर इस प्रकार अपने शीलोंका अनुस्मरण करना चाहिए:—

'मेरे शील अखण्डित, निर्दोष, निर्मल, निष्कलंक, स्वाधीन, विज्ञों द्वारा प्रशंसित, किसी प्रकार की पापेच्छा से रहित और समाधि प्राप्त करानेवाले हैं।'

यह भली प्रकार स्मरण रखना चाहिए कि गृहस्थ साधक को अपने पञ्चशील या अष्टशीलका तथा प्रव्रजित साधक को अपने प्रव्रजित-शीलका अनुस्मरण करना

चाहिए। जिस समय योगी अखण्डित आदि गुणों के अनुसार अपने शीलों का अनुस्मरण करता है, उस समय उसका चित्त राग, द्वेष और मोह में लिप्त नहीं होता है, वह शील के प्रति ही लगा होता है। ऐसा होने पर उसके नीवरण दब जाते हैं और ध्यान के अंग उत्पन्न होते हैं। किन्तु, शील के गुणों की गम्भीरता और नाना प्रकार के शील-गुणों को बार-बार स्मरण करने में लगे होने के कारण वह अर्पणा को न प्राप्त कर उपचार-ध्यान को ही प्राप्त करता है। शील के गुणों के अनुस्मरण से प्राप्त हुआ वह ध्यानशीलानुस्मृति कहा जाता है।

जो साधक शीलानुस्मृति में लगा रहता है, वह शिक्षापदों का गौरव करता है। सदा शील से युक्त रहने का विचार करता है। प्रिय वचन से कुशल-मंगल पूछनेवाला होता है। उसे आत्म-निन्दा का भय नहीं होता। वह अल्पमात्र दोष में भी भय देखता है तथा श्रद्धा आदि गुणों से परिपूर्ण होता है। वह सदा प्रसन्न एवं प्रमुदित रहता है। यदि इस मार्ग पर चलते हुए मार्ग-फल नहीं प्राप्त कर पाता है, तो मृत्यु के पश्चात् निश्चय ही सुगति-परायण होता है। इसलिये बुद्धिमान व्यक्ति को चाहिए कि ऐसी महा-अनुभाववाली शीलानुस्मृति की भावना में कभी प्रमाद न करे।

त्यागानुस्मृति

त्याग कहते हैं दान देने को। जो साधक त्यागानुस्मृति की भावना करना चाहे, उसे अपना स्वभाव दानी बनाने का प्रयत्न करना चाहिए और नित्य दान देने वाला होना चाहिए। दान देने के उपरान्त एकान्त में जाकर अन्य आलम्बनों से चित्त को खींचकर इस प्रकार अनुस्मरण करना चाहिए:—

'मुझे लाभ है, मैंने बड़ा अच्छा किया जो कि कृपणता में लीन लोगों के बीच कृपणता को त्यागकर मैं मुक्त-दानी खुले हाथ देने वाला, दान में रत, याचना करने के योग्य हो, दान और संविभाग में लीन हो विहार कर रहा हूँ।'

दान देने में लीन रहने वाला साधक सोचता है—'मैं सत्पुरुषों के धर्म पर चल रहा हूँ। दाता सबको प्रिय होता है, बहुत से लोग उसका साथ करते हैं, अतः मैं भी प्रिय होऊँगा। मुझे दान के फल अवश्य मिलेंगे।' इस प्रकार विचार करते हुए उसके नीवरण दब जाते हैं, चित्त त्याग के प्रति ही लगा रहता है और ध्यान के अंग उत्पन्न होते हैं। शीलानुस्मृति की भाँति इसमें भी साधक को उपचार-ध्यान ही प्राप्त होता है।

त्यागानुस्मृति में लगा हुआ साधक प्रायः दान देने में ही लगा रहता है। वह निर्लोभी, मैत्री करने वाला, निर्भीक और प्रीति-प्रमोद-बहुल होता है। यदि वह इस भावना से मार्ग-फलको नहीं प्राप्त कर पाता है, तो सुगति-परायण होता है।

देवतानुस्मृति

जो साधक देवतानुस्मृति की भावना करना चाहे, उसे आर्य-मार्ग से प्राप्त श्रद्धा आदि गुणों से युक्त होना चाहिए। तदुपरान्त एकान्त में जाकर चित्त को अन्य आलम्बनों से खींचकर इस प्रकार देवताओं से तुलना करके अपने श्रद्धा आदि गुणों का अनुस्मरण करना चाहिए:—

'चातुर्महाराजिक देवलोक के देवता हैं, तावतिंस के देवता हैं, याम, तुषित, निर्माणरति, परनिर्मित वशवर्ती और ब्रह्मकायिक देवता हैं तथा उनसे ऊपर के भी देवता हैं। जिस प्रकार की श्रद्धा से युक्त हो वे देवता यहाँ से च्युत होकर वहाँ उत्पन्न हुए हैं, मुझमें भी उस प्रकार के शील, श्रुत, त्याग और प्रज्ञा से युक्त हो वे देवता यहाँ से च्युत होकर वहाँ उत्पन्न हुए हैं मुझमें भी उस प्रकार के शील श्रुत, त्याग और प्रज्ञा हैं।'

जिस समय साधक देवतानुस्मृति में लगा होता है, उस समय उसका चित राग, द्वेष और मोह से निर्लिप्त होता है। वह देवताओं के प्रति सीधा लगा होता है। उसके नीवरण दब जाते हैं और उपचार-ध्यान प्राप्त होता है।

देवतानुस्मृति में लगा हुआ साधक देवताओं का प्रिय होता है। वह श्रद्धा आदि में विपुलता को प्राप्त होता है। प्रीति और प्रमोद-बहुल होकर विहरता है। यदि यह मार्ग-फल को नहीं प्राप्त है, तो सुगति-परायण होता है।

अब धीरे-धीरे गर्मी बढ़ रही है। कुछ दिनों के लिये हिमालय की ओर जाने का विचार कर रहा हूँ। इस बार काठमांडू नगर के महास्वयम्भू चैत्य को अभिवादन करके ही वापस आऊँगा। श्वेत-पर्वत (कैलाश) तक यदि जा सकूँगा और बुद्धों के विश्राम एवं स्नान करने के स्थान अनवतप्त दह (मानसरोवर) को देख सकूँगा, तो बड़ा उत्तम होगा। वह प्रदेश कितना पवित्र है, जहाँ कि तथागत देवलोक से भी स्नान और भोजन करने आते थे! योगिराज के आशीर्वाद।

सहजाति महाविहार
२३-४-५४

तुम्हारा—
योगी

यशोधरा के विरह-गीत

श्री अनूप शर्मा एम० ए०

प्रवाहिता थी कुछ दूर सामने
महान धीरा अति चारुगामिनी,
प्रभात की उज्ज्वल ज्योति से जगी
तरंग - तारल्य - तटा - तरंगिणी।
गता उषा की अवशिष्ट लालिमा
अनूप थी अम्बर - बिम्ब-नीलिमा,
विराजती थी सित रोहिणी यथा
प्रसन्न - गंभीर - पदा सरस्वती।
विलोक शोभा दुखसे यशोधरा
लगी नदी से इस भाँति पूछने—
"प्रभूत-तारुण्य-भरे, पयोधि से,
हिमाद्रि-भूते, मिलने कहाँ चली?
मदीय गाथा यदि चित्त दे सुने
शनैः शनैः तू बहती रहे, प्रिये!
विषाद मेरा कुछ-एक न्यून हो,
व्यतीत तेरा पथ हो मुहूर्त्त में।
सजे हुए साज-सिगाँर आज तू
कहाँ, नदी, वल्लभ-भेंटने चली,
न है समीचीन कु-प्रश्न पूछना,
न मैं बनूँगी प्रिय-प्राप्ति-बाधिका।
अतः चली जा सुनती हुई कथा,
दयामयी तू अति-सौख्य-दायिनी,
बनी रहूँगी कब लौं, मुझे बता,
शकेश-प्रत्यागम - दत्त - मानसा ?
न ध्यान आता उनको मदीय है?
न धाम प्यारा अब क्यों रहा उन्हें?
शकेश के स्वागत में वृथा, सखी,
बिछा रही हूँ निज नेत्र पाँवड़े।"
"बना चुकी मानस शिक्थ-तुल्य मैं,
शकेश होते फिर वज्र-तुल्य क्यों?
स्वकीय सन्मूर्ति-समेत चित्त की
चुरा चले चेतनता, कहाँ गये?
अहर्निशा एक शकेश के बिना
व्यतीत होता युग-तुल्य याम था,
अजस्र थी मैं उनको विलोकती
न देखते वे मम ओर आज हैं।"
विलोचनों में उनकी सु-मूर्ति है,
भरा उन्हीं का अनुराग चित्त में,
परन्तु तो भी दृग को रुला चले,
विमोह प्याला मन को पिला चले।
वियोग-मग्ना मुझ भाग्य-हीन के
न अंग ही शासन में रहे, सखी,
अतः कहूँ क्या, अब मैं निराश हूँ,
स-दोषिणी मैं, जगती अ-दोषिणी।"

सम्पादक के नाम पत्र

मध्यप्रदेश में बौद्धधर्म का प्रचार

श्रीमान् सम्पादक जी,

भगवान् बुद्ध के, वैराग्य, त्याग, सदाचार, सत्य, अहिंसा और शान्ति के उपदेश ने संसार में ऐसे महापुरुषों को उत्पन्न किया है, जिन्होंने अपना प्राण तक जोखिम में डालकर बौद्धधर्म का प्रचार किया है, जिसके फलस्वरूप सम्प्रति दुनिया के एक कोने से दूसरे कोने तक बौद्धधर्म फैला हुआ है।

वर्तमान समय में नागपुर के श्री अनन्त रामचन्द्र कुलकर्णीजी का 'मध्यप्रदेश में बौद्धधर्म का प्रचार-कार्य' भी उन भूतकालीन महापुरुषों के धर्म-प्रचार से कम महत्त्व नहीं रखता। श्री कुलकर्णीजी ने संसार के सब सुखों को ठुकराकर मानवमात्र के कल्याण के लिये सन् १९४४ में 'बुद्ध सोसाइटी' की स्थापना की थी। तब से उन्होंने मध्यप्रदेश के गाँव-गाँव में घूमकर यह आवाज उठाते हुए बौद्धधर्म का प्रचार करना प्रारम्भ कर दिया :—

'भारत के सुपुत्रो! उठो, जागो, दुःख का शल्य निकाल कर फेंक दो। जातीयता को नष्ट करो। साम्प्रदायिकता को नष्ट करो। छूआछूत मानना छोड़ो। ब्राह्मणशाही को नष्ट करो। मानव धर्म का प्रचार करो। मनुष्य मात्र से प्रेम करो। भगवान् बुद्ध का जय-जयकार करो।'

अब, उनकी यह आवाज सारे महाराष्ट्र में गूँज उठी है। ऐसा जान पड़ता है कि कुछ ही दिनों में सारा मध्यप्रदेश बौद्ध धर्मावलम्बी हो जायेगा।

मैं जब श्री कुलकर्णीजी से नागपुर में मिला था, तब उन्होंने कहा था—'भगवान् बुद्ध भारत के गौरव तथा अभिमान हैं। सम्प्रति हम इस प्रकार बौद्धधर्म के प्रचार में लगे हैं कि पाँच वर्ष के भीतर ही सारे भारत में बौद्धधर्म का पुनर्जागरण हो जायेगा। वस्तुतः बौद्धधर्म से ही भारत का कल्याण होगा।'

धर्मशाल महेन्द्र
पूँछ (कश्मीर)
२७-४-५४

—डी० टी० लामा

बौद्ध और वेदान्त दर्शन

भगवान् बुद्ध ने एक जगह कहा है, "भिक्षुओ! बिजली के कड़कने पर दो प्राणी नहीं चौंक पड़ते। कौन से दो? एक वन का राजा सिंह और दूसरा क्षीणमल अर्हत्।" वनराज सिंह क्यों नहीं चौंक पड़ता? क्योंकि उसका 'अहं' इतना प्रबल होता है कि उसे अपना कोई प्रतिद्वन्द्वी ही दृष्टि नहीं आता, जिससे वह भय की आशंका करे। क्षीणास्रव अर्हत् क्यों नहीं चौंक पड़ता? क्योंकि जिसे भय उत्पन्न होता है, वह 'अहं' ही उसका पूर्णतः निरुद्ध किया हुआ है। वनराज सिंह और निष्पाप अर्हत्, यही दो प्राणी संसार में पूर्णतः निर्भय हैं।

वनराज सिंह को ही वेदान्त कहना चाहिए। यह आत्म-प्रसार का धर्म है। अपनी क्षुद्र व्यक्तिगत चेतना को इतना प्रसारधर्मी बनाना कि उससे सारा विश्व ढँक जाय, यही वेदान्त है। आत्मदर्शन या आत्मज्ञान का अर्थ है अपने में सारे विश्व और सारे विश्व में अपने को देखना। यहाँ न भय का अवकाश है और न शोक, द्वेष, मोह का। कारण, यहाँ अपने से व्यतिरिक्त कोई दूसरी सत्ता ही नहीं है। मैत्री, करुणा, मुदिता, उपेक्षा, यहाँ सब सधती हैं।

निष्पाप अर्हत, यह बौद्ध साधना का निर्वचन है। अर्हत् देखता है कि इस भौतिक और मानसिक जगत् में सब प्रवाहशील है। जो प्रवाहशील है, वह नित्य नहीं और जो अनित्य है, वह सुख नहीं। अतः चाहे रूप हो, चाहे वेदना, चाहे संज्ञा, चाहे संस्कार, चाहे विज्ञान, चाहे आध्यात्मिक, चाहे बाह्य, चाहे अपना, चाहे पराया—सभी अनित्य है, दुःख है। जो अनित्य है, जो दुःख है, क्या उसके विषय में यह कहना ठीक होगा कि यह मेरा 'आत्मा' (अत्ता) है? नहीं। इसलिए जो भी रूप है, वेदना है, संज्ञा है, संस्कार है, विज्ञान, है, वह सब 'न मैं हूँ', 'न वह मेरा है', 'न वह मेरा आत्मा है।' तथागत का साक्षात्कार किया हुआ अनात्म (अनत्ता) तत्त्व यही है।

वेदान्त जब यह कहता है—"मैं देह नहीं", "मैं इन्द्रिय नहीं", "मैं अहंकार नहीं", "मैं प्राणवर्ग नहीं", "मैं बुद्धि नहीं" तो वह दूसरे शब्दोंमें केवल अनात्म तत्त्व का ही चिन्तन करता है। और दूसरी ओर अनात्मवादी (बुद्ध) के समान आत्म-विस्तार इतिहास में किस आत्मज्ञानी का हुआ है? बौद्ध और वेदान्त दर्शन के समन्वय का मार्ग इसी दिशा से हो कर जाता है।

जैन कालेज, बड़ौत
मेरठ

—भरतसिंह उपाध्याय

सम्पादकीय

बर्मा में छठाँ धर्म-संगायन

आगामी वैशाख-पूर्णिमा के पवित्र पर्व पर बर्मा में छठाँ धर्म-संगायन समारम्भ होनेवाला है, जिसकी तैयारी विगत तीन वर्षों से हो रही है। इस संगायन के लिये 'बर्मा बुद्ध-शासन कौंसिल' को सरकार एवं जनता से पर्याप्त सहायता प्राप्त हुई है। संगायन के निमित्त 'सप्तपर्णी गुहा' नामक एक विशाल भवन निर्मित हुआ है, जो संगायन के पश्चात् बौद्ध विश्वविद्यालय के रूप में परिवर्तित हो जायेगा। इसी गुहा में त्रिपिटक मुद्रण के लिए एक यन्त्रालय की भी स्थापना होगी और बर्मी, हिन्दी तथा अँग्रेजी में त्रिपिटक का अनुवाद प्रकाशित होगा। इस कार्य के सम्पादनार्थ बड़े-बड़े विद्वान् भिक्षु नियुक्त होंगे। उनका एक सम्पादक-मण्डल होगा तथा उनकी सेवा विश्व-बौद्ध-शासन के लिये होगी।

पहला धर्म-संगायन भगवान् बुद्ध के परिनिर्वाण के उपरान्त राजगृह में अजातशत्रु के संरक्षण में सप्तपर्णी नामक गुहा में महाकाश्यप प्रमुख ५०० अर्हत् भिक्षुओं द्वारा सम्पन्न हुआ था। यह संगायन भाद्रकृष्ण २ से प्रारम्भ होकर सात मास में समाप्त हुआ था। इसी धर्म-संगायन में सम्पूर्ण बुद्ध-वचन को संकलित करके तीन पिटकों में विभक्त किया गया था, जिसे 'त्रिपिटक' कहते हैं।

दूसरा धर्म-संगायन भगवान् बुद्ध के परिनिर्वाण के १०० वर्ष पश्चात् कालाशोक की संरक्षता में वैशाली के वालुकाराम महाविहार में रेवत स्थविर प्रमुख ७०० भिक्षुओं द्वारा सम्पन्न हुआ था। यह संगायन वज्जीभूमि के भिक्षुओं के भिक्षु-नियम उल्लंघन एवं कुछ परिवर्तन के कारण हुआ था। जिस विधि-विधान के साथ पहला धर्म-संगायन हुआ था, उसी प्रकार यह दूसरा धर्म-संगायन ८ मास में पूर्ण हुआ था।

तीसरा धर्म-संगायन महाराज अशोक की संरक्षता में भगवान् बुद्ध के परिनिर्वाण के २१८ वर्ष पश्चात् पाटलिपुत्र के अशोकाराम नामक विहार में मोग्गलिपुत्र स्थविर प्रमुख १००० भिक्षुओं द्वारा ९ मास में समाप्त हुआ था। इस संगायन में सम्पूर्ण त्रिपिटक का संशोधन हुआ और बुद्धधर्म की कसौटी के रूप में विभिन्न मतवादों के विरुद्धवाद को प्रकट करने के लिए कथावत्थु प्रकरण का प्रवचन मोग्गलिपुत्र स्थविर द्वारा किया गया, जो बुद्ध-वचन सदृश माना जाता है।

चौथा धर्म-संगायन महाराज कनिष्क की संरक्षता में ५०० भिक्षुओं द्वारा कश्मीर की राजधानी के पास 'कुण्डलवन विहार' अथवा जालन्धर के पास 'कुवन' में सम्पन्न हुआ था। इस धर्म-संगायन के प्रधान भिक्षु अश्वघोष के गुरु पार्श्व तथा वसुमित्र थे। इस संगायन की समूची कृति ताँबे के पत्रों पर संस्कृत में अंकित की गई थी और उन ताम्रपत्रों की पुस्तक को एक स्तूप के अन्दर—जो उसी के लिये बनाया गया था, स्थापित किया गया था। वही महाविभाषा नामक त्रिपिटक का भाष्य था जिसका चीनी अनुवाद आज भी मिलता है। किन्तु, उस स्तूप के अवशेषों का अभी तक पता नहीं चला।

चौथे धर्म-संगायन के समय कनिष्क ने विहारों और चैत्यों की स्थापना करने में अशोक जैसा कार्य किया। उसका बनवाया हुआ एक सौ फुट ऊँचा तेरह मंजिला स्तूप नवीं शताब्दी तक था। यदि वह आज होता तो संसार की अद्‌भुत वस्तुओं में गिना जाता। चौथे संगायन का बड़ा महत्व है क्योंकि इस संगायन के उपरान्त ही बड़े वेग से 'महायान' का प्रसार हुआ।

पाँचवाँ धर्म-संगायन लंका में वट्टग्रामणी अभय (बुद्धाब्द ४५४-४६६) की संरक्षता में आलोक विहार में ५०० अर्हत् भिक्षुओं द्वारा सम्पन्न हुआ था। इस संगायन में त्रिपिटक पालि और उसकी अट्‌ठकथा जिन्हें पूर्व में महामति भिक्षु कंठस्थ करके लाये थे, प्राणियों की स्मृति-हानि को देखकर धर्म की चिरस्थिति के लिये ग्रंथारूढ़ किया गया था।

सम्प्रति छठाँ धर्म-संगायन बर्मा में होने जा रहा है। यह संगायन भी बड़ा महत्वपूर्ण है। इसमें सभी बौद्ध देशों के प्रधान भिक्षु सम्मिलित होने वाले हैं। इस धर्म-संगायन की पूर्व के सभी धर्म-संगायनों से अपनी अलग विशेषता है। यह आगामी वैशाख पूर्णिमा से प्रारम्भ होकर बुद्धाब्द २५०० (१९५६ ई०) में वैशाख पूर्णिमा को समाप्त होगा। इस संगायन के लिये महास्थविरों का निर्वाचन हो चुका है और उनके बैठने के लिये आसन आदि की सारी व्यवस्था भी हो चुकी है। आशा है इस संगायन का सारे विश्व पर प्रभाव पड़ेगा और बौद्धों के विश्वास के अनुसार पुनः बौद्धधर्म का बड़े वेग के साथ संसार में प्रसार एवं उत्थान होगा।

———

बौद्ध-जगत

छठें धर्म-संगायन के लिये दस भिक्षु आमन्त्रित

आगामी वैशाख पूर्णिमा के शुभावसर पर १७ मई सोमवार के दिन बर्मा में होने वाले छठें धर्म-संगायन का समारम्भ होगा। उसमें सम्मिलित होने के लिये प्रत्येक देश से भिक्षु और प्रसिद्ध बौद्ध विद्वान् आमन्त्रित हुए हैं 'बर्मा बुद्धशासन कौंसिल' ने भारतीय महाबोधि सभा के दस भिक्षुओं को भी संगायन में सम्मिलित होने के लिए आमन्त्रित किया है। ये भिक्षु मई के दूसरे सप्ताह के आरम्भ में कलकत्ते से यू० बी० ए० के वायुयान द्वारा रंगून के लिये रवाना होंगे। उनके आने-जाने तथा वहाँ रहने आदि की सारी व्यवस्था बर्मा सरकार करेगी।

इस संगायन में सम्मिलित होने के लिए भारतीय बौद्ध संघ, कुशीनगर भिक्षु संघ एवं बंगाल बुद्धिस्ट असोसियेशन के भी भिक्षु आमन्त्रित हुए हैं। स्मरण रहे यह धर्म-संगायन १७ मई १९५४ से प्रारम्भ होकर वैशाख-पूर्णिमा १९५६ में समाप्त होगा।

श्री देवप्रिय वलिसिंह जापान को—भारत तथा लंका की महाबोधि सभा के प्रधान मन्त्री श्री देवप्रिय वलिसिंह ने गत २८ फरवरी को जापान के लिये प्रस्थान किया। वे वहाँ होने वाले 'प्रशान्त बौद्ध महासम्मेलन' में सम्मिलित होने गये हैं। वे अपने साथ भगवान् बुद्ध की पवित्र अस्थि का कुछ भाग और बोधि-वृक्ष के दो पौधे ले गये हैं, जिन्हें जापानी बौद्धों को अर्पण करेंगे। हम आशा करते हैं कि श्री देवप्रिय वलिसिंह की जापान-यात्रा सफल होगी और जापान तथा भारत का सम्बन्ध दृढ़ होगा।

स्याम के राजकुमार सारनाथ में—गत २३ मार्च को स्याम के राजकुमार छले रमपोल सारनाथ आये। महाबोधि सभा की ओर से आपका शानदार स्वागत किया गया। स्वागत समारोह में स्थानीय स्कूलों के बच्चे और अध्यापक भी सम्मिलित हुए थे। मूलगन्ध कुटी विहार में सभा हुई। भिक्षु संघरत्न ने आपका स्वागत करते हुए भारत और स्याम के सांस्कृतिक सम्बन्ध पर प्रकाश डाला। राजकुमार ने स्वागत के उत्तर में कहा कि मुझे बहुत दिनों से इन स्थानों के दर्शन की इच्छा थी। यों तो मैंने अपने जीवन के ११ वर्ष लन्दन अमेरिका तथा यूरोप के अन्य देशों में बिताये हैं और संसार की पूर्ण रूप से तीन बार परिक्रमा की है किन्तु मैं श्रद्धाधिक्य होते हुए भी बौद्धतीर्थों के दर्शन नहीं कर सका था। यह हमारे जीवन का बहुत महत्वपूर्ण समय है जो मैं भारत के बौद्धतीर्थों का दर्शन करने आया हूँ। भारत के प्रति मेरे हृदय में बड़ा ही सम्मान है। इसीलिए मैंने अपने पुत्र विशाख को अन्यत्र न भेजकर भारत में ही अध्ययनार्थ भेजा है। वह इस समय कालिंपांग में शिक्षा पा रहा है।

आगे राजकुमार ने कहा कि आपको यह जानकर आश्चर्य होगा कि हाल में ही हमारे देश में जो प्राचीन स्थानों की खोदाई का कार्य हुआ है उनमें से एक बहुत बड़ी बुद्ध-मूर्ति मिली है, जो भारत से कभी हमारे देश में ले जायी गयी थी। उस पर प्राचीन कुटिल अक्षरों में 'ये धम्मा हेतु पभवा' आदि श्लोक लिखे हुए हैं।

राजकुमार ने अपनी पहनी हुई माला को निकाल कर सबको दिखलाया, जिसमें भगवान् बुद्ध की दर्जनों मूर्तियाँ जड़ी हुई थीं और उसे राजकुमार ने अपने हृदय से लगाकर रखा था। राजकुमार की इस श्रद्धा को देखकर सभी आश्चर्यचकित हो गये।

अन्त में भिक्षुओं ने परित्रपाठ करके राजकुमार को आशीर्वाद दिया। भिक्षु संघरत्न ने महाबोधि सभा की ओर से राजकुमार को कुछ ग्रन्थ प्रदान किये।

राजकुमार छले रमपोल ने २५ मार्च को कार से कुशीनगर के लिए प्रस्थान किया।

लंका के संसदीय शिष्टमण्डल का स्वागत—गत २३ मार्च को ४ बजे अपराह्न में लंका का संसदीय शिष्टमण्डल सारनाथ आया। महाबोधि सभा की ओर से शिष्टमण्डल का मूलगन्ध कुटी विहार में स्वागत किया गया। मण्डलके प्रमुख एवं लंका संसद के अध्यक्ष (स्पीकर) श्री अलबर्ट पेरीज ने इस स्वागत के लिए हार्दिक प्रसन्नता प्रगट की। भिक्षु संघरत्न ने भारतीय महाबोधि सभा की ओर से स्वागत भाषण किया। लंका के कोट्टेगलकिस्स प्रदेश के एम० पी० श्री डी० ए० जयसिंह ने स्वागत का उत्तर देते हुए कहा कि आज सारनाथ में पहुँचकर हम लोगों की यात्रा सफल हो गयी।

भगवान् बुद्ध के ही कारण हम लोग भारत को पवित्र देश मानते हैं। हमारे लिए बौद्ध स्थानों का जितना बड़ा महत्त्व है, उतना अन्य किसी स्थान का नहीं है। भारत में महाबोधि सभा के भिक्षु कष्ट सहकर भी जो तथागत के सन्देशों का प्रचार करते हैं, उनके लिए हम हृदय से धन्यवाद देते हैं और दीर्घजीवन की कामना करते हैं।

शिष्टमण्डल के सदस्य भारत, लंका, तिब्बत, कम्बोडिया, नेपाल आदि के भिक्षुओं से मिलकर बहुत प्रसन्न हुए। शिष्टमण्डल के ईसाई तथा मुसलमान सदस्यों ने भी बड़ी श्रद्धा के साथ पुष्पादि से भगवान् बुद्ध की पूजा की।

स्यामी विद्वन्मण्डल सारनाथ में—२२ मार्च को प्रातः काल स्याम का एक विद्वन्मण्डल सारनाथ आया, जिसमें स्याम के सूचना विभाग के डाइरेक्टर श्री सांग पेयेनोथाई भी थे। श्री करुणा कुशलाशय मण्डल के मार्ग-दर्शक थे, जिन्होंने कि सारनाथ में रहकर हिन्दी भाषा का लगभग पाँच वर्षों तक अध्ययन किया है और इस समय स्याम सरकार के अनुवाद विभाग में हिन्दी अनुवादक का कार्य करते हैं।

पण्डित विजया लक्ष्मी मूलगन्धकुटी विहार सारनाथ में बुद्ध-पूजा कर रही हैं। उनकी बगल में भिक्षु-संघरत्न और भिक्षु सद्धातिस्स खड़े हैं।

ये लोग कलकत्ता से वायुयान द्वारा सीधे नेपाल गये थे। वहाँ से वायुयान द्वारा ही भैरहवा आये। फिर लुम्बिनी तथा कुशीनगर का दर्शन कर सारनाथ पधारे। महाबोधि सभा के मन्त्री भिक्षु संघरत्न ने आप लोगों को एक बुद्धमूर्ति, जातक चित्रावली एवं अन्य कई उपहार भेंट किये।

वज्राचार्यों का चूड़ाकर्म—१० अप्रैल को प्रातः १० बजे मूलगन्धकुटी विहार सारनाथ में नेपाल के दो वज्राचार्य बालकों का चूड़ाकर्म संस्कार भिक्षु शासनश्री द्वारा सम्पन्न हुआ। ये बालक कृष्णमान वज्राचार्य और इन्द्रमान वज्राचार्य क्रमशः १५, और १३ वर्ष की अवस्था के हैं। ये पटना में शिक्षा पा रहे हैं। इनके पिता श्री हीरामान वज्राचार्य और माता श्रीमती सागर माया इन्हें लेकर यहाँ आये थे। श्री हीरामान आर० पी० एफ० पटना में सूबेदार हैं।

चूड़ाकर्म के उपरान्त भिक्षु अश्वघोष नेपाली और भिक्षु धर्मरक्षित के उपदेश क्रमशः नेपाली और हिन्दी में हुए। इन भिक्षुओं ने अपने उपदेशों में चूड़ाकर्म-संस्कार और नेपाली बौद्धों की संस्कार-पद्धति पर प्रकाश डालते हुए सारनाथ में चूड़ाकर्म होने की प्रशंसा की।

स्मरण रहे नेपाल के सभी शाक्यवंशीय बौद्धों का चूड़ाकर्म संस्कार काठमाण्डू के ८, पाटन के १५, भातगाँव के ५ विहारों में ही होता है। पश्चिमी नेपाल के तानसेन-पाल्पा, पोखरा, बागलुंग, पूर्वी नेपाल के भोजपुर, चैनपुर, और उत्तरी नेपाल के सांगु, त्रिशूली आदि नगरों से बौद्धों को काठमाण्डू आदि तीन नगरों में ही जाना पड़ता है। वहाँ जाने के लिए उन्हें बड़ी कठिनाइयाँ होती हैं। बहुत से बौद्धों को तो चूड़ाकर्म के लिए ही अपनी सारी सम्पत्ति को गिरो रख देना पड़ता है। क्योंकि वहाँ का चूड़ाकर्म-संस्कार बड़ा ही खर्चीला है।

श्री हीरामान ने अपने बालकों का चूड़ाकर्म संस्कार सारनाथ में करके नेपाल के लिए एक क्रान्तिकारी कदम उठाया है। यद्यपि काठमाण्डू, पाटन और भातगाँव के रूढ़िवादी वज्राचार्यों को यह बात अच्छी नहीं लगेगी, किन्तु नेपाल के अन्य भागों एवं नगरों के सभी बौद्ध इस कार्य की प्रशंसा करेंगे। आशा है सारे नेपाल के बौद्ध अपने-अपने यहाँ चूड़ाकर्म-संस्कार कराना प्रारम्भ कर देंगे और एक बहुत बड़े घातक सामाजिक बन्धन से मुक्त हो जायेंगे।

भिक्षु संघरत्न लंका को— महाबोधि सभा सारनाथ के मन्त्री तथा 'धर्मदूत' के व्यवस्थापक भिक्षु संघरत्न जी १३ वर्षों के पश्चात् अपनी मातृभूमि लंका के लिए गत ३० मार्च को प्रस्थान किये। सारनाथ में प्राइमरी स्कूल के बच्चों एवं अध्यापकों तथा भिक्षुओं द्वारा आपकी शानदार विदाई की गयी। बनारस कैण्ट स्टेशन पर इतनी भीड़ आपकी विदाई के समय उपस्थित हो गई थी कि लोगों को देखकर आश्चर्य होता था।

भिक्षु संघरत्न

स्मरण रहे आप लंका की कई बौद्ध समितियों द्वारा निमन्त्रित होकर गये हैं और वहाँ जुलाई तक रहेंगे।

मद्रास में स्वागत—११ अप्रैल को मद्रास पहुँचने पर भिक्षु संघरत्न का मद्रास के राज्यपाल श्री श्रीप्रकाश द्वारा भव्य स्वागत किया गया। भिक्षु संघरत्न ने राज्यपाल महोदय को कुछ बौद्ध ग्रन्थ एवं बुद्धमूर्ति भेंट किये और राजभवन में राज्यपाल के विशेष आग्रह पर भोजन करके लंका के लिए प्रस्थान किया।

भिक्षु संघरत्न का स्वागत मद्रास में भारतीय महाबोधि सभा तथा दक्षिण भारतीय बौद्ध समिति की ओर से भी किया गया। हम आशा करते हैं कि भिक्षु संघरत्न की अपनी मातृ-भूमि की यह यात्रा पूर्णरूप से सफल होगी और वे भारतीय बुद्धशासन की अधिकाधिक सेवा के लिये पुनः शीघ्र ही वापस लौटेंगे।

महाबोधि कालेज के नये प्रिंसिपल—सारनाथ के महाबोधि कालेज के भूतपूर्व प्रिंसिपल श्री केशरीकुमार राय के जमशेदपुर चले जाने के पश्चात् लगभग दो वर्षों तक कालेज का कार्य वाइस प्रिंसिपल की देख-रेख में होता रहा है। गत मास में महाबोधि विद्यापरिषद् ने कालेज के वाइस प्रिंसिपल श्री बालेश्वर प्रसाद एम० ए० को प्रिंसिपल नियुक्त कर दिया। आशा है अब कालेज का कार्य भली प्रकार सम्पादित होगा।

फ्रांस में बौद्ध विहार— कुमारी जी० कान्स्टाण्ट लौंसबेरी ने, जो 'लेस एमिस द बौद्धिज्म' की अध्यक्षा हैं, प्रसन्नता का यह समाचार भेजा है कि उन्होंने पेरिस में बौद्ध-विहार के लिए एक भवन ले लिया है, जिससे कि फ्रांस के बौद्धों को सहायता प्राप्त हो सके।

कुशीनगर-समाचार—भगवान् बुद्ध की परिनिर्वाण भूमि कुशीनगर से अन्त्येष्टि-संस्कार-स्थान रामाभार तक गत वर्ष ५५,०००) व्यय कर राज्य सरकार ने एक दो मील लम्बी पक्की सड़क बनवायी। इस वर्ष भिक्षु धर्मरक्षित के सुझाव के अनुसार उत्तर प्रदेशीय सरकार ने उसे पीच-रोड बनाने के लिये ४०,०००) स्वीकार किया है और सड़क को पीच-रोड बनाने का कार्य आरम्भ हो गया है।

शीघ्र ही कुशीनगर में नल-कूप लगने जा रहा है। बिजली की लाइन भी एक मास के अन्दर ही कुशीनगर पहुँच जायेगी। यह लाइन देवरिया से कसया तक पहुँच चुकी है।

कुशीनगर भिक्षु संघ, भारतीय बौद्ध संघ तथा धर्मोदय सभा के अध्यक्ष भदन्त चन्द्रमणि महास्थविर एवं भिक्षु धर्मरक्षित भी बर्मा के छठें संगायन में सम्मिलित होने के लिये विशेष रूप से आमंत्रित हुए हैं।

शिक्षा-शुल्क लंका से मिलेगा—लंका के भिक्षु

पोतुविल गुणरत्न ने अपने दिवंगत पिता श्री के० डी० चार्ल्स पोतुविल की स्मृति में महाबोधि पुण्य-पाठशाला सारनाथ के ५ छात्रों को प्रति वर्ष शिक्षा-शुल्क देना स्वीकार किया है तथा इस वर्ष पूरे वर्ष का शुल्क प्रदान कर दिया है। आपने पालि भाषा की परीक्षा में प्रथम आनेवाले प्रत्येक कक्षा के छात्रों को भी पुरस्कार देने का वचन दिया है।

आपके पिता लंकाके एक बड़े धनी व्यक्ति थे। उन्होंने अपने जीवनकाल में वहाँ दर्जनों पुरस्कार दिये और अनेक मठ-मन्दिर बनवाये। आपके ज्येष्ठ पुत्र लंका सरकार के राजस्व-विभाग के अन्तर्गत मन्त्री हैं।

आपने पोतुविल कस्बे के अस्पताल को १० एकड़ भूमि प्रदान की है तथा ५०,०००) में एक सुन्दर पुष्करिणी बनवायी है।

भिक्षु पोतुविल गुणरत्न आज कल सारनाथ में आये हुए हैं और वहाँ रह कर हिन्दी भाषा का अध्ययन कर रहे हैं।

श्री के० डी० चार्ल्स पोतुविल

संयुत्त निकाय प्रकाशित—सुत्त-पिटक का तीसरा ग्रंथ संयुत्त निकाय दो भागों में छप कर प्रकाशित हो गया। इस ग्रन्थ के हिन्दी अनुवादक हैं भिक्षु जगदीश काश्यप एम० ए० और त्रिपिटकाचार्य भिक्षु धर्मरक्षित। पहला भाग ५०० पृष्ठों का और दूसरा ३५० पृष्ठों का है। दोनों का मूल्य क्रमशः ७) एवं ५) है।

आसम के १० भिक्षुओं की ट्रेनिंग सारनाथ में—८ मई को बनारस के जिला विद्यालय निरीक्षक आसाम सरकार का तार पाकर सारनाथ आये और यहाँ के भिक्षुओं से मिलकर सारनाथ के 'अन्तरराष्ट्रीय बौद्ध विद्यालय' की संचालन-संहिता से परिचय प्राप्त किया। उन्होंने बतलाया कि आसाम सरकार वहाँ से १० भिक्षुओं को सारनाथ में ट्रेनिंग के लिए भेजना चाहती है। उनका सारा व्यय सरकार वहन करेगी। वे भिक्षु अन्तरराष्ट्रीय बौद्ध विद्यालय में तीन वर्ष तक रह कर शिक्षा प्राप्त करेंगे।

स्मरण रहे सारनाथ के इस विद्यालय के प्रिंसिपल भिक्षु शासनश्री और वाइस-प्रिंसिपल त्रिपिटकाचार्य भिक्षु धर्मरक्षित हैं। इसमें पालि, तिब्बती, हिन्दी, सिंहली आदि भाषाओं का अध्ययन-अध्यापन किया-कराया जाता है।

भारतीय-बौद्ध-बन्धुत्व—हम कुछ पाठकोंके सुझाव के अनुसार अपने सभी भारतीय बौद्धों को सूचित करते हैं कि वे अपना स्थायी पता सदा हमें प्रेषित किया करें, जिसे हम 'धर्मदूत' में प्रकाशित किया करेंगे। इस प्रकार परस्पर पत्र-व्यवहार में किसी को भी कठिनाई न होगी। प्रायः लोग सम्पादक से एक दूसरे का पता पूछा करते हैं, ऐसा होने से पता जानने की दिक्कत दूर हो जायगी।

हम अपने सभी बन्धुओं को इस समिति की ओर से निम्नलिखित सूचनायें दे रहे हैं:—

१. एक सुशीला गुणवती शिक्षित बौद्ध-कन्या के लिये योग्य वर की आवश्यकता है। कन्या की अवस्था २१ वर्ष है। वह अँग्रेजी मैट्रिक और हिन्दी तथा मराठी में मिडल परीक्षा उत्तीर्ण है। हिन्दी एवं अंग्रेजी टाइपराइटिंग में प्रथम क्लास की स्टेनो है। वह एक सरकारी आफिस में १२५) मासिक पर टाइपिस्ट का कार्य करती है।

वर की अवस्था २८ से ३५ वर्ष तक की होनी चाहिए। वह बौद्ध, विद्वान्, स्वस्थ, साहित्य प्रेमी तथा शीलवान् होना चाहिए। विवाह परस्पर साक्षात्कार के उपरान्त होगा।

२. एक अँग्रेजी मैट्रिक तथा हिन्दी विशारद परीक्षा उत्तीर्ण कन्या के लिये वर की आवश्यकता है। वर में उपर्युक्त सभी गुण अपेक्षित हैं।

विवाह के इच्छुक अपने पूर्ण परिचय एवं फोटो के साथ इस पते पर पत्र-व्यवहार करें:—

सम्पादक 'धर्मदूत'
पोस्ट बाक्स नं० १०
सारनाथ, बनारस।
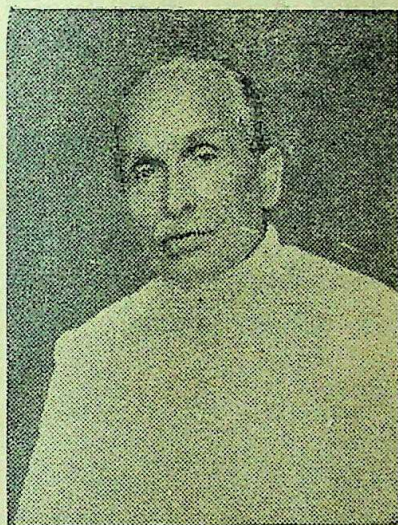
अजमेर-समाचार—अजमेर में कोलिय बौद्धों द्वारा धर्म-प्रचार-कार्य बड़ी तत्परता एवं लगन के साथ किया जा रहा है। प्रति रविवार को बौद्ध बस्तियों में धर्म-गोष्ठी होती हैं और लोगों को बौद्धधर्म बतलाया जाता है।

इधर कुछ दिनों से महिला-विभाग भी खोला गया है। इस विभाग की मंत्रिणी उपासिका सावित्री थैन हैं। महिलाओं में धर्म-प्रचार का कार्य प्रति रविवार को प्रातः काल होता है।

तँवर जी का जन्मोत्सव—गत २६ अप्रैल को अजमेर के मायापुरी में 'कोलिय बौद्ध समिति, के अध्यक्ष तथा 'कोली-राजपूत, के सम्पादक श्री मोहन कुमार नाथूसिंह तँवर का जन्मोत्सव ससमारोह मनाया गया। उक्त अवसर पर उपासिका सावित्री एवं श्री राहुल सुमन छावरा ने उन्हें कुछ धर्म-ग्रन्थ, बुद्ध-प्रतिमा और अनेक उपहार भेंट किये। तँवर जी ने अपने जन्मोत्सव के उपलक्ष में कोलिय बौद्ध समिति तथा कोली राजपूत हितकारिणी सभा को अर्थ-दान दिये।

सारनाथ के तीन भिक्षु वर्मा को—बर्मा में होने वाले छठें धर्म-संगायन में सम्मिलित होने के लिये सारनाथ से भिक्षु धर्मरक्षित, भदन्त शासनश्री महास्थविर और भिक्षु सद्धातिस्स १२ मई को प्रस्थान किये। आप लोग लगभग एक मास बर्मा में रहेंगे।

बुद्ध-जयन्ती महोत्सव—प्रति वर्ष की भाँति भगवान् बुद्ध के जन्म, ज्ञान प्राप्ति और महापरिनिर्वाण की पुण्य-तिथि वैशाख पूर्णिमा के अवसर पर दिनांक १६ एवं १७ मई को बुद्धगया, लखनऊ, मद्रास, कलकत्ता, बम्बई, नई दिल्ली, कालिंपोंग आदि स्थानों में भारतीय महाबोधि सभा की ओर से बुद्धजयन्ती महोत्सव मनाया जायेगा।

अजमेर में कोलिय बौद्ध समिति की ओर से बुद्ध-जयन्ती महोत्सव की जोरदार तैयारी हो रही है। भिक्षुओं के बर्मा चले जाने के कारण कुशीनगर एवं सारनाथ के बुद्धजयन्ती महोत्सव स्थगित कर दिये गये हैं। कुशीनगर में रथ-यात्रा एवं मेला मात्र होंगे। स्मरण रहे, कुशीनगर में प्रतिवर्ष वैशाख पूर्णिमा से ज्येष्ठ पूर्णिमा तक एक बृहद् मेला लगता है, जिसमें दूर-दूर से दूकानें आती हैं और प्रतिदिन कई सहस्र लोगों की भीड़ होती है। मेला दर्शनीय होता है।

प्रकाशक—भिक्षु एम० संघरत्न, महाबोधि सभा, सारनाथ, (बनारस)

मुद्रक—ओमप्रकाश कपूर, ज्ञानमण्डल यन्त्रालय, कबीरचौरा बनारस ।

धर्मदूत

महा बोधि सभा सारनाथ का मुख पत्र

जुलाई १९५४

विषय-सूची

'धर्मदूत' के नियम—

१—"धर्मदूत" भारतीय महाबोधि सभा का हिन्दी मासिक मुखपत्र है; जो प्रति पूर्णिमा को प्रकाशित होता है।

२—"धर्मदूत" के ग्राहक किसी भी मास से बनाये जा सकेंगे।

३—पत्र-व्यवहार करते समय ग्राहक-संख्या एवं पूरा पता लिखना चाहिये, ताकि पत्रिका के पहुँचने में गड़बड़ी न हो।

४—लेख, कविता, समालोचनार्थ पुस्तकें (दो प्रतियाँ) और बदले के पत्र सम्पादक के नाम तथा प्रबन्ध सम्बन्धी पत्र और चन्दा व्यवस्थापक के नाम पर भेजना चाहिये।

५—किसी लेख अथवा कविता के प्रकाशित करने या न करने, घटाने-बढ़ाने या संशोधन करने का अधिकार सम्पादक को है। बिना डाकखर्च भेजे अप्रकाशित कविता या लेख लौटाये न जा सकेंगे। जिस अङ्क में जिनका लेख या कविता छपेगी वह अङ्क उनके पास भेज दिया जायगा।

६—"धर्मदूत" में केवल बौद्धधर्म, कला, संस्कृति, साहित्य, पुरातत्व आदि सम्बन्धी लेख ही प्रकाशित किये जा सकेंगे।

७—किसी लेखक द्वारा प्रकटित मत के लिये सम्पादक उत्तरदायी नहीं है।

८—"धर्मदूत" का वार्षिक मूल्य ३) और आजीवन ५०) है।

व्यवस्थापक
"धर्मदूत" सारनाथ, बनारस

चरथ भिक्खवे चारिकं बहुजनहिताय बहुजनसुखाय लोकानुकम्पाय अत्थाय हिताय सुखाय देवमनुस्सानं। देसेथ भिक्खवे धम्मं आदिकल्याणं मज्झे कल्याणं परियोसानकल्याणं सात्थं सव्यञ्जनं केवलपरिपुण्णं परिसुद्धं ब्रह्मचरियं पकासेथ। महावग्ग, (विनय-पिटक)

'भिक्षुओ! बहुजन के हित के लिये, बहुजन के सुख के लिए, लोक पर दया करने के लिये, देवताओं और मनुष्यों के प्रयोजन के लिये, हित के लिये, सुख के लिये विचरण करो। भिक्षुओ! आरम्भ, मध्य और अन्त—सभी अवस्था में कल्याणकारक धर्म का उसके शब्दों और भावों सहित उपदेश करके, सर्वांश में परिपूर्ण परिशुद्ध ब्रह्मचर्य का प्रकाश करो।'

सम्पादकः—त्रिपिटकाचार्य भिक्षु धर्मरक्षित

वर्ष १९	सारनाथ,	जुलाई	बु० सं० २४९८ ई० सं० १९५४	अङ्क ३

बुद्ध-वचनामृत

'बुद्ध की दया सब पर'

"एक समय भगवान् नालन्दा में पावारिक-आम्रवन में विहार करते थे। तब असिबन्धक पुत्र ग्रामणी जहाँ भगवान् थे वहाँ आया और बोला—'भन्ते! भगवान् सभी प्राणियों के प्रति शुभेच्छा और दया से विहार करते हैं न?' 'हाँ, ग्रामणी! बुद्ध सभी प्राणियों के प्रति शुभेच्छा और दया से विहार करते हैं।' 'भन्ते! तो क्या बात है कि भगवान् किसी को तो बड़े प्रेमसे धर्मोपदेश करते हैं और किसी को उतने प्रेम से नहीं?' 'ग्रामणी! तो तुम ही से मैं पूछता हूँ, जैसा समझो कहो। ग्रामणी! किसी कृषक गृहस्थ के तीन खेत हों—एक बड़ा अच्छा, एक मध्यम, और एक बड़ा बुरा, जंगल, ऊसर। ग्रामणी! तो क्या समझते हो, वह कृषक गृहस्थ किस खेत में सर्वप्रथम बीज बोयेगा?' 'भन्ते! वह सर्वप्रथम पहले खेत में बीज बोयेगा, उसके बाद मध्यम में और उसके बाद बुरे खेत में बोयेगा भी और नहीं भी बोयेगा। सो क्यों? यदि नहीं तो कम से कम गाय बैल की सानी तो निकल आवेगी न?' 'ग्रामणी! जैसे वह पहला खेत है वैसे ही हमारे भिक्षु-भिक्षुणियाँ हैं। उन्हें मैं धर्म का उपदेश करता हूँ। सो क्यों? क्योंकि ये मेरे ही शरण में अपना त्राण समझ कर विहार करते हैं। ऐसे ही मध्यम खेत की भाँति उपासक उपासिकाओं को उपदेश करता हूँ और अन्तिम बुरे खेत की भाँति दूसरे मतवाले श्रमण, ब्राह्मण और परिव्राजकों को। क्योंकि उपासक-उपासिकाएँ मुझे त्राण समझ कर विहार करते हैं और दूसरे मतवाले श्रमण, ब्राह्मण और परिव्राजक कहीं एक बात भी समझ पाये तो यह दीर्घकाल तक उनके हित और सुख के लिए होगा।"

यह कहने पर असिबन्धक पुत्र ग्रामणी भगवान् से बोला—'भन्ते! मुझे जीवन पर्यन्त शरण में आया उपासक स्वीकार करें।"

—संयुत्त निकाय ४०.७

छठीं 'बौद्ध संगीति'—विश्व-धर्म का अनुष्ठान

श्री जितेन्द्र सिंह

ऐतिहासिक दृष्टि से इस शताब्दि का सबसे महत्त्वपूर्ण धार्मिक एवं सांस्कृतिक समारोह गत वैशाख पूर्णिमा (सोमवार १७ मई) को बर्मा की राजधानी रंगून में प्रारम्भ हुआ। पड़ोसी राष्ट्र होने के साथ ही तथागत की साधन भूमि होने के कारण भारतीय गणराज्य के नागरिकों की सहज सहानुभूति इस समारोह के साथ है।

शताब्दियों पूर्व प्रथम बौद्ध संगीति भगवान् बुद्ध के निर्वाण के उपरान्त राजगृह की चट्टानों पर हुई थी। संगीति ने 'धम्म' के मूल सिद्धान्तों का आकलन किया। विश्व को तथागत का सन्देश मिला और भिक्षुओं को उनका आदेश।

राजगृह की पहाड़ियों से वैशाली के आम्रवन तक हमारे प्राचीन इतिहास की एक महत्त्वपूर्ण कड़ी है। वैशाली में आयोजित द्वितीय बौद्ध संगीति ने 'संघ' की एकता एवं भिक्षु समुदाय के अनुशासन पर बल देकर बौद्धधर्म के विकास का पथ-निर्देश किया।

तृतीय संगीति सम्राट अशोक के राज्यकाल में पाटलिपुत्र में हुई। मोग्गलिपुत्त तिस्स की अध्यक्षता में आयोजित इस संगीति ने राष्ट्रीय धर्म की आधार-शिला को ही नहीं दृढ़ किया वरन् उसे विश्वधर्म में परिणत करने का व्रत लिया। इसी संगीति के पश्चात् अशोक के पुत्र भिक्षु महेन्द्र ने धम्म-प्रचारार्थ सिंहल के लिए प्रस्थान किया। नए पथ बने, दिशाएँ सिमटीं और तथागत का सन्देश लेकर धर्मदूत कश्मीर एवं गान्धार में, हिमालयवर्ती देशों में एवं यवन देशों में जा बसे। सुवर्णभूमि (बर्मा) में भी धर्म का सन्देश और अधिक व्यापक रूप से प्रचारित हुआ। चट्टानों और पत्थरों पर उत्कीर्ण 'धम्मविजयी' अशोक के अभिलेख आजतक अहिंसा, करुणा एवं मैत्री के इस विश्वधर्म के अभियानों की गाथा संजोए हैं।

उत्तरी अनुश्रुतियों के अनुसार सर्वास्तिवादी शाखा की एक बौद्ध संगीति कनिष्क के राज्यकाल में भी हुई।

यह स्वाभाविक था कि विश्वधर्म के रूप में प्रसारित हो जाने पर बौद्ध संगीतियाँ भारत के बाहर विश्व के अन्य भागों में भी हों। बौद्ध परम्परा के अनुसार ईसा के पूर्व प्रथम शताब्दि में चतुर्थ बौद्ध संगीति सिंहल द्वीप में हुई। इस ऐतिहासिक संगीति में तथागत के वचन प्रथम बार लिपिबद्ध किए गए। कुमार महेन्द्र द्वारा प्रदीप्त धम्मज्योति सिंहल की गौरवज्योति बनी और चतुर्थ बौद्ध संगीति की सफलता ने विश्व इतिहास में इस हँसते हुए द्वीप को एक अनोखा स्थान प्रदान किया।

सुवर्ण भूमि बर्मा को यह सौभाग्य मिला कि पाँचवीं बौद्ध संगीति उसके विशाल क्रोड में मुस्कराते हुए नगर माण्डले में आयोजित की गई। वहीं ७२९ संगमरमर की चट्टानों पर तथागत के वचन एवं सन्देश अंकित किए गए। एक शाश्वत धर्म को मानवता की यह शाश्वत भेंट थी। सदियाँ बीत जाने पर भी तथागत के मूल-धर्म की शुभ्रता आज तक बर्मा में सुरक्षित है। स्वतन्त्र बर्मा की सरकार ने छठीं बौद्ध संगीति का आयोजन पुनः अपने यहाँ करके अपने ऐतिहासिक दायित्व का निर्वाह किया है।

नए युग का प्रारम्भ

आगामी १९५६ ई० की वैशाख पूर्णिमा को तथागत के संवत्सर की पचीसवीं शती पूर्ण होगी। समस्त बौद्ध जगत का ऐसा विश्वास है कि उस पुण्यतिथि से बौद्धधर्म के विकास का एक नया युग प्रारम्भ होगा और विश्व तथागत के 'धम्म' के प्रकाश में सच्ची शान्ति का मार्ग खोजने में समर्थ होगा।

इस ऐतिहासिक क्रान्ति की पृष्ठ-भूमि प्रशस्त करने

के लिए बर्मा की सरकार ने छठीं बौद्ध संगीति का आयोजन इस वर्ष की वैशाख पूर्णिमा से किया है। बर्मा के भिक्षुओं और बौद्ध विद्वानों के साथ भारत, सिंहल, स्याम तिब्बत, नेपाल इत्यादि देशों के भिक्षु तथा विद्वान प्रतिनिधि इस संगीति में सम्मिलित होकर तथागत के धर्म को एक नया रूप देंगे। मौलिक पालि ग्रन्थों का प्रामाणिक संस्करण प्रस्तुत कर बौद्ध धर्म के संदेश को सर्वजनसुलभ बनाकर यह संगीति तथागत की वाणी को विश्वगंगा बनाएगी। भारत के लिए यह विशेष गौरव की बात है कि संगीति बर्मी भाषा तथा लिपि के साथ हिन्दी भाषा तथा देवनागरी लिपि में भी त्रिपिटक को प्रस्तुत करने का प्रयत्न करेगी।

इस संगीति की पृष्ठ-भूमि ऐतिहासिक ही नहीं सामयिक भी है। १ अक्तूबर १९५१ को बर्मा संघ की संसद ने इस आशय का प्रस्ताव सर्वसम्मति से पारित किया।

"राष्ट्रों एवं सरकारों द्वारा केवल भौतिक विकास द्वारा मानवीय समस्याओं को हल करने के अपूर्ण प्रयासों को ध्यान में रखते हुए यह संसद अपना दृढ़ मत व्यक्त करती है कि आज आध्यात्मिक एवं नैतिक अभ्युदय के ऐसे साधनों पर जोर देने की आवश्यकता है, जिनसे लोभ, द्वेष एवं मोह का निराकरण हो सके और तज्जन्य हिंसा, विनाश एवं अशान्ति की ज्वाला से मानवता को मुक्ति मिल सके।"

अणुबम एवं उद्‌जन बम के इस युग में आध्यात्मिक तथा नैतिक अभ्युदय की कितनी आवश्यकता है यह विश्व का प्रत्येक नागरिक जानता है। इस नये अभियान में तथागत की वाणी ही हमारा मूल मन्त्र बन सकती है। बर्मा की बुद्ध शासन परिषद् ने इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए अनेक प्रयास किए हैं।

स्वतन्त्र बर्मा के प्रधान मन्त्री श्री थाकिन नू ने भगवान् के प्रमुख शिष्यों सारिपुत्त और मोग्गल्लान के पवित्र फूलों का भव्य स्वागत कर तथा 'विश्वशान्ति पगोडा' में उनके पावन अवशेषों को समाहित कर समस्त एशिया में बौद्ध संस्कृति के पुनरुत्थान को एक नई दिशा दी। पर 'विश्व शान्ति पगोडा' की पवित्र छाया में छठीं बौद्ध संगीति' का आयोजन कर बर्मा के अभिनव 'अजातशत्रु' ने हिंसा विनाश एवं अशान्ति से पीड़ित मानवता की मुक्ति का अन्तर्राष्ट्रीय अनुष्ठान किया है। तथागत की की अवतारणा, सम्बोधि एवं समाधि (निर्वाण) की पूर्णिमा इस अनुष्ठान को सफल यज्ञ में परिणत करेगी, इसमें सन्देह नहीं है।

लुम्बिनी के उपवन की नीलाभ करुणा, सम्बोधि स्थल (बोधगया) की दिव्य विभा एवं निरभ्र कुशीनगर की शान्तिगरिमा, रंगून की बौद्ध संगीति को शोभा, श्री एवं अन्तर्ज्योति से मण्डित करे, यही प्रत्येक भारतीय नागरिक की शुभ कामना है।

गत वर्ष वैशाख पूर्णिमा के अवसर पर तथागत की सम्बोधि भूमि में बर्मा के मान्य राजदूत श्री महाश्रे सिथु यू क्यिन ने विश्वास एवं गर्व से घोषित किया था—'एशिया में बौद्ध संस्कृति का पुनर्जागरण एक नए भविष्य का द्योतक है।' आशा है रंगून में आयोजित छठीं बौद्ध-संगीति आगामी दो वर्षों में एशियाई बौद्ध धर्म को पुनः विश्व धर्म का रूप देने में समर्थ होगी। सन् १९५६ में शताब्दियों बाद आने वाली ऐतिहासिक वैशाख पूर्णिमा का यही सच्चा अभिनन्दन होगा।

दुःख का अस्तित्व, दुःख का कारण, दुःख का निरोध तथा दुःख के निरोध का उपाय—आर्य अष्टांगिक मार्ग—इन चार आधार शिलाओं पर बुद्ध का मानवीय दर्शन अवलम्बित है। सम्यक् दृष्टि, सम्यक् संकल्प, सम्यक् वाक्, सम्यक् कर्म, सम्यक् आजीव, सम्यक् श्रम, सम्यक् स्मृति एवं सम्यक् समाधि—ये मुक्ति मार्ग के आठ चरण हैं, जिनका अनुसरण कर मानवमात्र सुख प्राप्त कर सकता है। जहाँ एक ओर तथागत ने आत्ममुक्ति के इस सरल पथ का निर्देश किया और भिक्षुओं तक को अपनी आत्मा के द्वीप के प्रकाश में चलने की प्रेरणा दी वहाँ उन्होंने अपने समस्त अनुयायियों को मानवता के सामूहिक कल्याण के लिए अग्रसर होने का आदेश किया।

भगवान् बुद्ध के सम्मुख वस्तुतः विश्वधर्म का ही स्वप्न था, जब उन्होंने कहा:—

"भिक्षुओ, सर्वसाधारण के हित के लिए, लोगों को सुख पहुँचाने के लिए, उन पर दया करने के लिए तथा

देवताओं और मनुष्यों का उपकार करने के लिए घूमो। भिक्षुओ, आरम्भ, मध्य और अन्त—सभी अवस्थाओं में कल्याणकारक धर्म का, उसके शब्दों और भावों सहित, उपदेश करके सर्वांश में परिपूर्ण परिशुद्ध ब्रह्मचर्य का प्रकाश करो।"

यह सौभाग्य की बात है कि बर्मा में वैशाख पूर्णिमा के पवित्र अवसर पर आयोजित छठीं बौद्ध संगीति की परिणति एक अन्तर्राष्ट्रीय बौद्ध विश्वविद्यालय के रूप में होगी। आशा है यह विश्वविद्यालय तथागत के विश्वधर्म के प्रसार का शाश्वत केंद्र बनेगा।

बौद्धधर्म का छठाँ धर्म-संगायन

भिक्षु धर्मरक्षित

गत १७ मई १९५४ को वैशाख पूर्णिमा के पवित्र पर्व पर बर्मा में बौद्धधर्म का छठाँ धर्म-संगायन आरम्भ हो चुका है जिसकी तैयारी विगत तीन वर्षों से हो रही थी। इस संगायन के लिए 'बर्मा बुद्ध शासन कौंसिल' को सरकार एवं जनता से पर्याप्त सहायता प्राप्त हुई है। संगायन के निमित्त 'पासाण गुहा' नामक एक विशाल भवन निर्मित हुआ है। जो संगायन के पश्चात् बौद्ध विश्वविद्यालय के रूप में परिवर्तित हो जायगा। इसी गुहा में त्रिपिटक मुद्रण के लिए एक यंत्रालय की भी स्थापना होगी और बर्मी, हिन्दी तथा अंग्रेजी में त्रिपिटक का अनुवाद प्रकाशित होगा। उनका एक सम्पादक-मंडल होगा तथा उनकी सेवा विश्व-बौद्ध शासन के लिए होगी।

आज तक बौद्धधर्म के पाँच संगायन हो चुके हैं। संगायन को ही 'संगीति' भी कहते हैं। संगायन का तात्पर्य एक साथ धर्मग्रंथों का पाठ करना है। जब-जब बौद्धधर्म सम्बन्धी विवाद उत्पन्न हुए, तब-तब धर्म-संगायन हुए। संगायन का प्रमुख उद्देश्य धर्म सम्बन्धी विवाद का निराकरण एवं बुद्ध शासन का संशोधन होता है।

पहला संगायन

पहला धर्म संगायन भगवान् बुद्ध के परिनिर्वाण (ई० पूर्व ५४३) के उपरान्त राजगृह में अजातशत्रु के संरक्षण में सप्तपर्णी नामक गुहा में महाकाश्यप प्रमुख ५०० अर्हत् भिक्षुओं द्वारा सम्पन्न हुआ था। यह संगायन भाद्रपद कृष्ण २ से प्रारम्भ होकर सात मास में समाप्त हुआ था। इसी धर्म संगायन में सम्पूर्ण बुद्ध वचन को संकलित करके तीन पिटकों में विभक्त किया गया था, जिसे 'त्रिपिटक' कहते हैं। विनयपिटक के 'पंचशतिका स्कन्ध' में इस संगायन का वर्णन आया हुआ है। सुमंगल-विलासिनी में तो तिथियों के साथ विस्तारपूर्वक इसका उल्लेख किया गया है।

भगवान् बुद्ध का परिनिर्वाण वैशाखपूर्णिमा को प्रातःकाल हुआ था। मल्लों ने सप्ताह भर उनके शरीर की पूजा की। उसके पश्चात् सप्ताह भर चिता जलती रही। तदनन्तर सप्ताहभर संस्थागार में अस्थियों को रखकर उनकी पूजा की गई। इस प्रकार इक्कीस दिन व्यतीत हो गये। ज्येष्ठ मास के शुक्ल पक्ष की पंचमी को अस्थियों का बँटवारा हुआ।

अस्थि विभाजन के दिन जब सभी भिक्षु एकत्र हुए थे, तब महाकाश्यप ने भिक्षुओं से कहा—'आवुसो! एक समय मैं पाँच सौ भिक्षुओं के साथ पावा और कुशीनारा के बीच रास्ते में जा रहा था। मार्ग से हटकर मैं एक वृक्ष के नीचे बैठा। उस समय एक आजीवक कुशीनारा से मंदार का पुष्प लेकर पावा की ओर जा रहा था। मैंने दूर से ही उसे आते देखा और पास आने पर उससे पूछा—'आवुस! हमारे शास्ता (गुरु) को जानते हो?'

'हाँ, आवुस जानता हूँ। श्रमण गौतम को परिनिर्वाण प्राप्त हुए आज एक सप्ताह हुआ। मैंने यह मन्दार पुष्प वहीं से लिया है।'

इस बात को सुनकर जो भिक्षु विमुक्त न थे वे रोने

और विलाप करने लगे, किन्तु जो विमुक्त थे वे शान्ति पूर्वक संसार की अनित्यता पर विचार करने लगे।

'आवुसो! उस समय सुभद्र नामक एक वृद्ध अवस्था में प्रव्रजित भिक्षु उस परिषद् में बैठा था। उसने भिक्षुओं से कहा—'आवुसो! मत शोक करो, मत रोओ हम सुमुक्त हो गए। उस महाश्रमण से पीड़ित रहा करते थे। अब जो हम चाहेंगे सो करेंगे, जो नहीं चाहेंगे उसे नहीं करेंगे।' अच्छा हो आवुसो! हम धर्म और विनय का संगायन करें। सामने अधर्म प्रकट हो रहा है, धर्म हटाया जा रहा है। अधर्मवादी बलवान हो रहे हैं, धर्मवादी दुर्बल हो रहे हैं। विनयवादी हीन हो रहे हैं।

'तो भन्ते! आप स्थविर भिक्षुओं को चुनें।'

तब आयुष्यमान् महाकाश्यप ने एक कम ५०० अर्हत् चुने। भिक्षुओं ने आयुष्मान् महाकाश्यप से कहा—'भन्ते! यह आयुष्मान् आनन्द यद्यपि अर्हत् नहीं हैं तो भी राग, द्वेष, मोह, भय और अगति में पड़ने योग्य नहीं हैं। इन्होंने भगवान् के पास बहुत धर्म और विनय प्राप्त की है, इसलिए भन्ते! स्थविर आयुष्मान् आनन्द को भी चुन लें।' तब आयुष्मान् महाकाश्यप ने आयुष्मान् आनन्द को भी चुन लिया। तब स्थविर भिक्षुओं ने सोचा कि 'संगायन कहाँ हो?' उन्होंने निश्चय किया— 'राजगृह में वर्षावास करते हुए धर्म संगायन होगा, किन्तु दूसरे भिक्षु राजगृह न जाएँ।' तब संघ को ज्ञापित किया गया—'आवुसो संघ! सुने, यदि संघ को पसन्द है, तो संघ इन पाँच सौ भिक्षुओं को राजगृह में वर्षावास करने धर्म और विनय के संगायन करने की सम्मति दे और दूसरे भिक्षुओं को राजगृह में न बसने की।'

प्रथम मास में टूटे-फूटे की मरम्मत की गई। दूसरे मास में संगायन प्रारम्भ हुआ। तब तक आयुष्मान् आनन्द ने भी अर्हत्व प्राप्त कर लिया था। संगायन का कार्य इस प्रकार आरम्भ हुआ—

आयुष्मान् महाकाश्यप ने संघ को ज्ञापित किया—'आवुसो, संघ! सुने, यदि संघ को पसन्द है तो मैं उपालि से विनय पूछूँ?'

आयुष्मान् उपालि ने भी संघ को ज्ञापित किया—'भन्ते' संघ! सुने, यदि संघ को पसन्द है, तो मैं आयुष्मान् महाकाश्यप से पूछे गए विनय का उत्तर दूँ।' तब महाकाश्यप ने उपालि से पूछा—'आवुस, उपालि? प्रथम पाराजिका कहाँ प्रज्ञप्त की गई?'

'भन्ते! राजगृह में।'

'किसको लेकर?'

'सुदिन्न कलन्दपुत्र को लेकर।'

'किस बात में?'

'मैथुन धर्म में।'

इस प्रकार सम्पूर्ण विनय पिटक समाप्त किया गया। तदुपरान्त आयुष्मान् आनन्द से धर्म (सूत्र) पूछा गया और उसे भी समाप्त किया गया। अन्त में सभी भिक्षुओं ने पूरे धर्म और विनय का संगायन (पाठ) किया और उन्हें तीन पिटकों में विभक्त कर दिया।

दूसरा संगायन

दूसरा धर्म संगायन भगवान् बुद्ध के परिनिर्वाण के १०० वर्ष पश्चात् कालाशोक की संरक्षता में वैशाली के वालुकाराम महाविहार में रेवत स्थविर प्रमुख ७०० भिक्षुओं द्वारा सम्पन्न हुआ था। यह संगायन वज्जीभूमि के भिक्षुओं के भिक्षु नियम उल्लंघन एवं कुछ परिवर्तन के कारण हुआ था। जिस विधिविधान के साथ पहला धर्म संगायन हुआ था, उसी प्रकार यह दूसरा धर्म संगायन ८ मास में पूर्ण हुआ था। इस संगायन का भी विस्तृत वर्णन पिटक के 'सप्तशतिका स्कन्धक' में आया हुआ है।

भगवान् बुद्ध के परिनिर्वाण के सौ वर्ष बीतने पर वैशाली निवासी वज्जिपुत्तक भिक्षु दस वस्तुओं का प्रचार करते थे—'भिक्षुओ! (१) श्रृंगी लवणकल्प, (२) अनुमतिकल्प, (३) द्वि अंगुल कल्प, (४) ग्रामान्तर-कल्प, (५) आवास-कल्प, (६) आचीर्ण-कल्प, (७) अमथित-कल्प (८) जलोगीपान, (९) अदशक और (१२) जातरूप-रजत (सोना-चाँदी) विहित है।' ये सभी बातें धर्म विरुद्ध थीं, अतः आयुष्मान् यश काकण्ड पुत्तके प्रयत्न से दूसरा धर्म-संगायन इनको दबाने के लिए किया गया। इस संगायन में राजगृह, पावा, अवन्ती, दक्षिणायन, मथुरा, सोरेय्य,

संकाश्य कन्नौज; उदुम्बर, अग्गलपुर, सहजाति, वैशाली आदि के ७०० भिक्षु सम्मिलित हुए थे, इसलिए इस संगीति को 'सप्तशतिका' कहते हैं। इस संगायन में पश्चिमी प्रदेश के रेवत, सम्भूत साणवासी, यश काकण्डपुत्त और सुमन तथा पूर्वी प्रदेश के सर्वकामी, साढ़, क्षुद्र शोभित और वार्षभग्रामिक—ये आठ भिक्षु विवाद-निर्णायक चुने गये थे। आयुष्मान् रेवत ने संघ के बीच आयुष्मान् सर्वकामी से उक्त १० बातों को पूछा था और सर्वकामी ने उनकी व्याख्या की थी। अन्त में सम्पूर्ण भिक्षु संघ ने धर्मसंगायन किया था।

तीसरा संगायन

तीसरा धर्मसंगायन महाराज अशोक की संरक्षता में भगवान् बुद्ध के परिनिर्वाण के २१८ वर्ष पश्चात् पाटलिपुत्र के अशोकाराम नामक विहार में मोग्गलिपुत्र तिस्स स्थविर प्रमुख १००० भिक्षुओं के द्वारा ९ मास में समाप्त हुआ था। इस संगायन में सम्पूर्ण त्रिपिटक का संशोधन हुआ था और बुद्धधर्म की कसौटी के रूप में विभिन्न मतवादों के विरुद्धवाद को प्रकट करने के लिए 'कथावत्थुप्पकरण' का प्रवचन मोग्गलिपुत्त तिस्स स्थविर द्वारा किया गया था, जो बुद्ध-वचन सदृश माना जाता है। इसी संगायन के उपरान्त धर्मप्रचारक भिक्षु बाह्य देशों में भेजे गए थे तथा अशोक ने ८४,००० विहारों और स्तूपों का निर्माण कराया था। इस संगायन का वर्णन दीपवंस, महावंस और समन्तपासादिका में मिलता है। इन ग्रंथों के अनुसार यह संगायन भिक्षु-संघ में उत्पन्न १८ निकायों के विवाद को शान्त करने के पश्चात् हुआ था। महावंस में लिखा है—'राजा अशोक ने मनोरम अशोकाराम में सारे भिक्षु संघ को इकट्ठा किया। राजा ने स्थविर मोग्गलिपुत्त तिस्स सहित एकान्त में एक कनात की ओट में बैठ एक-एक मत के भिक्षु को बारी-बारी से बुलाकर पूछा—'भन्ते! बुद्ध का मत क्या था?' उन्होंने अपने-अपने मत के अनुसार कहा। राजा ने उन सब मिथ्या-दृष्टियों की प्रव्रज्या छीन ली। इस प्रकार निकाले हुए भिक्षुओं की संख्या ६०,००० हुई।'

राजा ने धार्मिक भिक्षुओं से पूछा—'बुद्ध का क्या वाद था?' उन्होंने उत्तर दिया—'बुद्ध विभक्तवादी थे।' तब राजा ने स्थविर मोग्गलिपुत्त तिस्स से पूछा—'भन्ते क्या सम्बुद्ध विभक्तवादी थे?' उन्होंने 'हाँ' कहा। फिर राजा ने सन्तुष्ट हो स्थविर से कहा—'भन्ते! अब संघ शुद्ध हो गया है, इसलिए संघ उपोसथ करे।' संघ की रक्षा का प्रबन्ध करके राजा नगर को लौट आया। तब सारे संघ ने एकत्र होकर उपोसथ किया।

स्थविर ने बहुसंख्यक भिक्षु-संघ में से १००० बुद्धिमान, षड्भिज्ञ, त्रिपिटक के जानने वाले भिक्षुओं को धर्म संगायन करने के लिए चुना और उनके साथ अशोकाराम में ही धर्म-संगायन किया। महाकाश्यप स्थविर तथा यश-स्थविर ने जैसे उन दो धर्म संगायनों को कराया, वैसे ही तिस्स स्थविर ने भी यह तीसरा धर्म-संगायन कराया।

संगायन समाप्त करके बुद्ध धर्मप्रकाशक स्थविर मोग्गलिपुत्त तिस्स ने भविष्य को देखते हुए प्रत्यन्त प्रदेशों में बुद्ध धर्म के प्रचारार्थ कार्तिक मास में नव मण्डलों में इन महाप्रतापी स्थविरों को भेजा।

(१) मज्झन्तिक स्थविर कश्मीर और गान्धार को भेजे गए। (२) महादेव स्थविर महिषमण्डल (खानदेश) को, (३) रक्षित स्थविर वनवासी (मैसूर) को, (४) यवन धर्मरक्षित अपरान्त देश (बम्बई-सूरत) को, (५) महाधर्मरक्षित स्थविर महाराष्ट्र को, (६) महारक्षित यवन देश में, (७) मज्झिम स्थविर हिमवन्त (हिमालय) प्रदेश को, (८) सोण और उत्तर स्थविर स्वर्णभूमि (पेगू, बर्मा) को और (९) अशोकपुत्र महामहेन्द्र स्थविर इट्टिय, उत्तिय, सम्बल और भद्रशाल के साथ लंका को। तीसरे संगायन का यह बड़ा ही महत्त्वपूर्ण कार्य था। इसी संगायन के बाद बौद्धधर्म का बाह्य देशों में काफी प्रचार हुआ।

चौथा संगायन

चौथा धर्मसंगायन लंका में वट्टगामणी अभय (बुद्धाब्द ४५४-४६६) की संरक्षता में आलोक विहार (लंका) में ५०० अर्हत् भिक्षुओं द्वारा एक वर्ष में सम्पन्न हुआ था। इस संगायन में त्रिपिटक पालि और उसकी अट्ठकथा, जिन्हें पूर्व में महामति भिक्षु कण्ठस्थ करके

लाये थे, प्राणियों की स्मृति-हानि को देखकर धर्म की चिरस्थिति के लिए ग्रन्थारूढ़ किया गया था। वर्त्तमान त्रिपिटक का क्रम इसी संगायन की देन है।

किन्तु, महाराज कनिष्क की संरक्षता में ५०० भिक्षुओं द्वारा कश्मीर की राजधानी के पास 'कुण्डलवन विहार' में महायान का जो प्रसिद्ध संगायन हुआ था, वह भी चौथे संगायन के नाम से प्रसिद्ध है जिसके प्रधान भिक्षु अश्वघोष के गुरु पार्श्व तथा वसुमित्र थे।

इस संगाय की समूची कृति ताँबे के पत्रों पर संस्कृत में अंकित की गई थी और उन ताम्रपत्रों की पुस्तक को पत्थर की मंजूषा में बन्द करके एक स्तूप के अन्दर—जो उसी के लिए बनाया गया था, स्थापित किया था। वही महाविभाषा नामक त्रिपिटक का भाष्य था, जिसका चीनी अनुवाद आज भी मिलता है किन्तु उस स्तूप के अवशेषों का अभी तक पता नहीं चला।

इस धर्म-संगायन के समय कनिष्क ने विहारों और चैत्यों की स्थापना करने में अशोक जैसा कार्य किया। उसका बनाया हुआ एक सौ फुट ऊँचा तेरहमंजिला स्तूप नवीं शताब्दी तक था। यदि वह अब होता तो संसार की अद्भुत वस्तुओं में गिना जाता। इस संगायन का बड़ा महत्त्व है, क्योंकि इस संगायन के उपरान्त ही बड़े वेग से 'महायान' का प्रसार हुआ।

इस संगायन में ५०० अर्हत्, ५०० बोधिसत्व और ५०० विद्वान् सम्मिलित हुए थे। इस संगायन में सभी निकायों को मिलाने का प्रयत्न किया गया था और विनय तथा सूत्र का संस्कृत में अनुवाद किया गया था। इसका वर्णन हुएनसांग तथा बु-स्टोन ने भी किया है। धर्म और विनय के संगायन के बाद उनका नाम उपदेश-शास्त्र तथा विभाषा-शास्त्र रखा गया था। विभाषा-शास्त्र को आज भी चीनी लोग 'कश्मीरशी' कहते हैं।

पाँचवाँ संगायन

पाँचवाँ धर्म-संगायन बर्मा के सुप्रसिद्ध राजा मिंडो के समय में सन् १८५७ ई० में माण्डले नगर में हुआ था, जिसमें बर्मा के प्रायः सभी विद्वान् महास्थविर सम्मिलित हुए थे। संगायन के पश्चात् 'कुथोडाव' नामक स्तूप का निर्माण करके उसके चारों ओर ७२९ संगमरमर की चट्टानों पर पूरा त्रिपिटक अंकित करा दिया गया था, जो आजतक विद्यमान है और बड़ा ही भव्य है। यह बौद्ध-जगत् के लिए एक विचित्र एवं चिरस्थायी वस्तु है। अतः इस पाँचवें संगायन का अन्य संगायनों से कम महत्त्व नहीं है।

छठाँ धर्म संगायन

सम्प्रति छठाँ धर्म संगायन लगभग ९७ वर्षों के ही पश्चात् पुनः बर्मा में हो रहा है। इसमें भारत, लंका, बर्मा, चीन, जापान, स्याम, मलाया, अनाम, लाओस, कम्बोडिया, नेपाल, अण्डमान, तिब्बत, लद्दाख, यूरोप, अमेरिका, मंचूरिया और आस्ट्रेलिया के प्रधान भिक्षु सम्मिलित हुए हैं, जिनकी संख्या २५०० है। यह धर्म संगायन पूर्व के सभी धर्म संगायनों की अपेक्षा विशेष महत्त्वपूर्ण है। यह वैशाख पूर्णिमा से प्रारम्भ होकर बुद्धाब्द २५०० (१९५६ ई०) में वैशाखपूर्णिमा को समाप्त होगा।

बौद्धों का विश्वास है कि बुद्धाब्द २५०० के पश्चात् सारे संसार में बुद्धधर्म का बड़े वेग से प्रचार होगा और इस धर्म की बहुत उन्नति होगी। बौद्धों की यह धारणा आज से लगभग एक हजार वर्ष पूर्व से चली आ रही है। इसीलिए बुद्धाब्द २५०० में संसार के सभी बौद्ध अपने-अपने यहाँ महोत्सव करनेवाले हैं। बर्मा के छठें धर्म संगायन में भी यही भावना निहित है। देखा गया है कि प्रत्येक धर्म संगायन के उपरान्त बौद्धधर्म की जागृति हुई है। अतः आशा और विश्वास है कि इस धर्म संगायन का भी सारे विश्व पर प्रभाव पड़ेगा और बौद्धों की मान्यता के अनुसार पुनः बौद्ध धर्म का बड़े वेग के साथ संसार में प्रसार एवं उत्थान होगा।

वेद और यज्ञ

भदन्त आनन्द कौसल्यायन

भारतीय संस्कृति अथवा विकृति के इतिहास में वेदों और यज्ञों का अपना स्थान रहा है। 'वेद' और 'यज्ञ' शब्द की आधुनिक आध्यात्मिक व्याख्याओं का 'इतिहास' से विशेष सम्बन्ध नहीं रहा। 'पुरानी बोतलों में नई शराब भरने के' नये प्रयत्न एक चीज हैं और 'इतिहास' सर्वथा दूसरी।

समय था कि वेद, यज्ञ और ब्राह्मण एक तिन-टंगी मेज की तरह भारतीय जन-जागरण पर 'पेपर-वेट' बने पड़े थे। तीनों अन्योन्याश्रित। वेद यज्ञों का समर्थन करते, वेद और यज्ञ दोनों ब्राह्मणों की अनिवार्य आवश्यकता का बखान करते और ब्राह्मण वेदों तथा यज्ञों का माहात्म्य गाते रहते।

ऐसे ही समय में भारतीय-इतिहास का बौद्ध क्रान्ति से परिचय हुआ। उसके लिये यह आवश्यक था कि वह जनता के मन में ईश्वर-निर्मित कहे जानेवाले 'वेदों' के प्रति अनास्था उत्पन्न करे, 'स्वर्ग-लाभ कराने वाले' पशु-घातक यज्ञों का खोखला-पन प्रकट करे और अपने आप को 'ब्रह्मा के मुख से उत्पन्न' कहने वाले अर्थ-लोलुप ब्राह्मणों के प्रति अश्रद्धा पैदा करे। भूरिदत्त-जातक की ये कुछ गाथायें उसी बौद्ध जन-क्रान्ति का एक भूला हुआ पृष्ठ है—

कलिं हि धीरानं कटं मगानं
भवन्ति वेदज्झगतानरिट्ठ,
मरीचि धम्मं असमेक्खितत्ता
मायागुणा नातिवहन्ति पञ्ञं ॥१॥

[हे अरिट्ठ ! वेदाध्ययन धैर्यवान पुरुषों का दुर्भाग्य है और मूर्खों का सौभाग्य है। ये (वेद त्रय) मृग-मरीचिका के समान हैं। सत्यासत्य का विवेक न करने से मूर्ख इन्हें सत्य मान लेते हैं। ये मायावी (वेद) प्रज्ञावान को धोखा नहीं दे सकते ॥१॥]

वेदा न ताणाय भवन्तिरस्स
मित्तद्दुनो भूतहुनो नरस्स,
न तायते परिचिन्नो च अग्गि
दोसन्तरं मच्चं अनरियकम्मं ॥२॥

[मित्र-द्रोही और जीव-नाशक (= भ्रूण हत्यारे?) को वेद नहीं बचा सकते। द्वेषी, अनार्य-कर्मी आदमी को अग्नि-परिचर्या भी नहीं बचा सकती ॥१॥]

सब्बं चे मच्चा सधना सभोगा
आदीपितं दारुतिणेन मिस्सं,
दहं न तप्पे असमत्थतेजो
को तं सुभिक्खं दिरसज्ज कुरिया ॥३॥

[यदि आदमी अपने सारे धन और सारे भोगों को लकड़ी और घास से मिलाकर जला डालें, तो भी इस आग की तृप्ति नहीं होती। हे द्विरसज्ञ ! इस आग को कौन पर्याप्त भोजन दे सकता है? ॥३॥]

यथापि खीरं विपरिणाम धम्मं
दधि भवित्वा नवनीतम्पि होति,
एवम्पि अग्गी विपरिणाम धम्मो
तेजो समोरोहति योगयुत्तो ॥४॥

[जिस प्रकार दूध परिवर्तन-शील है, दही होकर मक्खन भी हो जाता है; उसी प्रकार अग्नि भी परिवर्तनशील है। वह दो अरणियों[1] के संघर्ष से उत्पन्न हो जाता है ॥४॥]

न दिस्सते अग्गिमनुप्पविट्ठो
सुक्खेसु कट्ठेसु नवेसु चापि,
नामत्थमानो अरणीनरेन
नाकम्मना जायति जातवेदो ॥५॥

१. परस्पर रगड़ कर आग पैदा करने की लकड़ी।

[जब तक सूखी या नई लकड़ी में आग ऊपर से न डाली जाय, तब तक वह कहीं नहीं दिखाई देती। जब तक आदमी ने अरणियों को न रगड़ा हो तब भी नहीं दिखाई देती। जबतक कोई ऐसा आदमी जिसके पास आग हो, आग पैदा करने का कर्म न करे तबतक आग पैदा नहीं होती ॥५॥]

सचेहि अग्गि अन्तरतो वसेय्य
सुक्खेसु कट्ठेसु यवेसु चापि,
सब्बानि सुस्सेय्युं वनानि लोके
सुक्खानि कट्ठानि च हज्जलेय्युं ॥६॥

[यदि नई या सूखी लकड़ी के अन्दर ही आग हो तो संसार के सारे जंगल सूख जायें और सूखी लकड़ी में आग लग जाये ॥६॥]

करोति चे दारुतिणेन पुञ्ञं
भोजं नरो 'धूमसिखिं पतापवं,
अंगारिका लोणकरा च सूदा,
सरीर दाहापि करेय्युं पुञ्ञं ॥७॥

[यदि आदमी प्रतापी आग को लकड़ी-घास खिलाने से 'पुण्य' करता हो तो कोयले बनाने वाले, नमक बनाने वाले, भोजन बनाने वाले और श्मशान में मुर्दे जलाने वाले—सभी 'पुण्य' ही करते हैं ॥७॥]

अथ चे हि एते न करोन्ति पुञ्ञं
अज्झेनमग्गिं इध तप्पयित्वा,
न कोचि लोकस्मिं करोति पुञ्ञं
भोजं नरो धूमसिखिं पतापवं ॥८॥

[यदि ये 'पुण्य' नहीं करते तो फिर संसार में कोई भी आदमी वेद-मन्त्रों से आग को भोजन कराने वाला 'पुण्य' नहीं करता ॥८॥]

कथं हि लोकापचितो समानो
अमनुञ्ञगन्धं बहुन्नं अकन्तं,
यदेव मच्चा परिवज्जयन्ति
तदप्पसत्थं दिरसञ्ञ भुञ्जे ॥९॥

[हे द्विरसज्ञ ! यह कैसे है कि जिसे तुम संसार में 'पूज्य' कहते हो, वह ऐसी अप्रिय, असुन्दर वस्तुओं का भोजन करे, जिन्हें सामान्य प्राणी त्याग देते हैं ॥९॥]

२

सिखिं ही देवेसु वदन्तिहेके
आपं मिलक्खा पन देवमाहु,
सब्बेव एते वितथं भणन्ति
अग्गी न देवञ्ञतरो न चापो ॥१०॥

[कुछ कहते हैं कि 'अग्नि' देवता है, कुछ म्लेच्छ (मिलखा ?) कहते हैं कि 'पानी' देवता है। यह सभी अयथार्थ कहते हैं। न 'अग्नि' देवता है और न 'पानी' देवता है ॥१०॥]

निरिन्द्रियं सन्तं असञ्ञकायं
वेस्सानरं कम्मकरं पजानं,
परिचरिय मग्गिं सुगतिं कथं वजे
पापानि कम्मानि पकुब्बमानो ॥११॥

[जो इन्द्रिय-रहित है, जो चेतना-रहित है, जो लोगों का खाना पकाना आदि काम करता है, उस अग्नि की परिचर्य्या करने से कोई भी पापी किस प्रकार स्वर्ग जा सकता है ? ॥११॥]

सब्बाभिभूताहुध नीतिकत्था
अग्गिस्स ब्रह्मा परिचारकोति,
सब्बानुभावी च वसी किमत्थं
अनिम्मितो निम्मितं वन्दितस्स ॥१२॥

[अपनी जीविका चलाने के लिये (ब्राह्मणों ने पहले तो) कहा कि ब्रह्मा सब को अभिभूत करनेवाला है (तथा सारे लोक का निर्माता है) और फिर यह भी कहा कि ब्रह्मा भी अग्नि की पूजा करता है। जब वह सर्वश्रेष्ठ है और सब उसी के वश में हैं तो वह स्वयं किसी के द्वारा अनिर्मित होता हुआ भी अपने ही निर्मित अग्नि की क्यों पूजा करता है ॥१२॥]

हस्सं अनिज्झानखमं अतच्छं
सक्कारहेतु पकिरिंसु पुब्बे,
ते लाभसक्कारे अपातुभोन्ते
सन्थम्भितो जन्तुहि सन्ति धम्मं ॥१३॥

[यह हँसी का विषय है, यह गम्भीरता पूर्वक विचार करने योग्य नहीं है, यह असत्य है। पूर्व समय में (ब्राह्मणों ने) सत्कार प्राप्ति के हेतु ही उन बातों का प्रचार किया है। जब उन्हें, पर्य्याप्त लाभ-सत्कार न मिला

तो उन्होंने उस (कथन में) पशुओं को भी सम्मिलित करके (अर्थात् पशु बलि का प्रतिपादन कर) अपने शान्ति-धर्म को जड़ बना दिया ॥३॥]

अज्झेन मरिया पठविं जनिन्दा
वेस्सा कसि परिचरियञ्ज्व सुद्दा
उपागु पच्चेक यथा पदेसं
कतागु एते वसिनाति आहु ॥१४॥

[और यह जो कहा—उस हाब्रह्मा ने इन्हें बनाया और ब्राह्मणों के लिए अध्ययन, क्षत्रियों के लिए राज्य जीतना, वैश्यों के लिए कृषि तथा शूद्रों के लिए तीनों वर्णों की सेवा का विधान बनाया। ये नियमानुसार अपने-अपने कर्म को प्राप्त हुए ॥१०॥]

एतञ्च सच्चं वचनं भवेय्य
यथा इदं भासितं ब्राह्मणेहि,
ना खत्तियो जातु लभेथ रज्जं
ना ब्राह्मणो यन्त पदानि सिक्खे
नाञ्जत्र वेस्सेहि कसिं करेय्य
सुद्दो न मुञ्चे परपेसिताय ॥१५॥

[यदि इन ब्राह्मणों का उक्त कहना सत्य हो तो किसी अक्षत्रिय को कभी राज्य प्राप्त न हो, कोई अब्राह्मण कभी (वेद-) मन्त्र न सीखे और वैश्यों के अतिरिक्त कभी कोई खेती न करे और शूद्र कभी दूसरों की सेवा करने से मुक्त न हो ॥१५॥]

यस्मा च एतं वचनं अभूतं
मुसाचिया ओदरिया भवन्ति,
तदप्पपञ्ञा अभिसद्दहन्ति
पस्सन्ति तं पण्डिता अत्तभावं ॥१६॥

[इनका यह कथन ठीक नहीं है और पेट के लिए ये झूठ बोलते हैं। मूर्ख लोग इनके कहने का विश्वास कर लेते हैं। लेकिन जो पण्डित हैं वे स्वयं देख लेते हैं कि यह कथन कितना सदोष है ॥१६॥]

खत्या न वेस्सा न बलिं हरन्ति
आदाय सत्थानि चरन्ति ब्राह्मणा,
तं तादिसं संखुभितं विभिन्नं
कस्मा ब्रह्मा नुज्जु करोति लोकं ॥१७॥

[क्षत्रिय और वैश्य 'बलि' नहीं देते हैं और ब्राह्मण शास्त्र लिए घूमते हैं। इस प्रकार के "गड़-बड़" लोक को ब्रह्मा क्यों नहीं ठीक करता ? ॥१७॥]

सच्चे हि सो इस्सरो सब्ब लोके
ब्रह्मा बहू भूतपति पजानं,
माया मुसावज्ज मदेन चापि
लोकं अधम्मेन किमत्थ कासि ॥१८॥

[यदि वह ब्रह्मा सब लोगों का 'ईश्वर' है और सब प्राणियों का स्वामी है तो उसने लोक में यह माया, झूठ, दोष और मद क्यों पैदा किये हैं ? ॥१८॥]

सचे हि सो इस्सरो सब्ब लोके
ब्रह्मा बहू भूतपति पजानं,
अधुम्मियो भूतपति अरिट्ठ
धम्मे सति यो विदही अधम्मं ॥१९॥

[यदि वह ब्रह्मा सब लोगों का 'ईश्वर' है और सब प्राणियों का स्वामी है तो हे अरिट्ठ ! वह स्वयं अधार्मिक है, क्योंकि उसने "धर्म" के रहते 'अधर्म' उत्पन्न किया ॥१९॥]

ये विद्रोही-गाथाएँ यहीं और यूँ ही समाप्त नहीं होतीं। किन्तु विस्तार-भय से हम यहीं पूर्ण-विराम चिह्न लगा देते हैं।

बौद्धधर्म जनधर्म और युग धर्म है

श्री रामचरण लाल एम० ए०

बौद्धधर्म के पहले अनेक धर्मों का प्रादुर्भाव हो चुका था। बौद्धधर्म के बाद भी अनेक धर्मों ने जन्म लिया। उदाहरण के लिए पूर्ववर्ती धर्मों में ब्राह्मण व जैन का, और परवर्ती धर्मों में ईसाई व इस्लाम का नाम सरलता और स्पष्टता से लिया जा सकता है। किन्तु यदि संख्या और श्रेष्ठता दोनों दृष्टियों से हम विचार करें तो हमें यह पुष्ट करने में हिचक न होगी कि सामान्य जन के अंतस्तल में जिस गहराई तक बौद्धधर्म प्रवेश पा चुका है, उतना अन्य कोई धर्म नहीं। यदि हम समय पर ध्यान दें, तो निश्चय ही बौद्धधर्म अन्य धर्मों की अपेक्षा युग-धर्म कहलाने का अधिकारी है। हम पहले बौद्धधर्म को जनधर्म के रूप में लेते हैं।

व्यवहार में प्राणी मात्र को समान करने के लिए और परमार्थ में उसे निर्वाण की प्राप्ति कराने के लिए ही भगवान् बुद्ध पृथ्वी पर उतरे थे। उन्होंने मायादेवी की गोद का इसलिए परित्याग किया कि वह जन-जन को माया का परित्याग करना सिखा सकें, उन्होंने शुद्धोदन से इसलिए विदा ली कि शुद्ध-बुद्ध बनकर समस्त सृष्टि को शुद्ध-बुद्ध बना सकें; उन्होंने यशोधरा का तिरस्कार इसलिये किया कि वह वसुन्धरा का सम्मान कर सकें, विशेषकर उस गर्भधरा (नारी) का जिसके लिए ब्राह्मण धर्म में कोई स्थान नहीं था; राहुल के किलकन-क्रन्दन से मुख इसलिये मोड़ लिया कि विश्व के क्रन्दन की ओर मुख मोड़ सकें। इन सभी ऐतिहासिक कार्यों में शाक्य-मुनि की सफलता का साक्षी इतिहास स्वयं है।

बुद्ध के मध्यम मार्ग पर चलकर कोई भी अविद्या से मुक्ति पा कर निर्वाण की प्राप्ति कर सकता है। अविद्या ही सब कष्टों का मूल है। जरा-मरण का कारण है। अतिवाद को त्यागकर और मध्यम मार्ग को ग्रहण करके कोई भी नर-नारी ऐहिक-लौकिक सुखों की पराकाष्ठा प्राप्त कर सकता है। ब्राह्मण धर्म की तपस्या में, जैन धर्म की अहिंसा में, इस्लाम के बुलन्द मजहबी नारे में, एवं ईसाई धर्म की सरल भौतिकता में सब जगह हमें 'अतिवाद' का दोष मिलता है। लेकिन बौद्धधर्म को यह दोष छू तक नहीं पाया है, क्योंकि सुख दुःख दोनों के 'अतिवाद' का अतिक्रमण करके ही सिद्धार्थ बुद्ध बन पाये थे। बुद्धगया का बोधिवृक्ष मध्यम मार्ग का सत्य-शाश्वत स्तम्भ है।

सामान्य जन को तारनेवाले बुद्ध ने सुरवाणी (संस्कृत) को त्यागकर जनवाणी (पालि) को अपनी देव-वाणी का माध्यम बनाया। ईसाई, इस्लाम, ब्राह्मण धर्म आदि किसी की भी भौतिक धार्मिक पुस्तकें जन-भाषा में नहीं लिखी गई। लेकिन बौद्धधर्म का सम्पूर्ण साहित्य जनता की बोल-चाल की भाषा में लिखा गया। आर्थिक, सामाजिक, धार्मिक किसी भी दृष्टि से बौद्धधर्म में ऊँच-नीच का भाव नहीं है। सभी स्त्री-पुरुष समान हैं, सबके लिए निर्वाण की सीधी सीढ़ी लगी हुई है।

बौद्धधर्म की शिक्षाओं को प्रियदर्शी सम्राट् अशोक ने भारत के कोने-कोने में शिलाओं और शिलास्तम्भों पर खुदवाकर उन्हें पार्थिव रूप में भी अजर-अमर बना दिया; पारमार्थिक रूप में तो वे जन्म से ही अजर-अमर थीं। उनमें किसी प्रकार परिवर्त्तन-परिवर्द्धन का दोष नहीं आ सकता। इस प्रकार बौद्धधर्म की शिक्षाएँ हृदय और नेत्र दोनों को समान रूप में सुलभ हैं।

मस्तिष्क और हृदय का सुन्दर समन्वय किसी अन्य धार्मिक-सामाजिक प्रवर्तक में नहीं मिलता; अशोक की भाँति भिखारी सम्पूर्ण भारत का चक्रवर्ती सम्राट् भी नहीं मिलता। यदि बुद्ध न होते तो मस्तिष्क और हृदय की उच्चतम विभूतियों को हम एक व्यक्ति में न पाते; यदि अशोक न होते तो संसार का सर्वप्रसिद्ध सम्राट् इतिहास को साधु के रूप में न मिलता। इस प्रकार हम देखते हैं कि बुद्ध के 'हृदय' ने और अशोक के 'हाथ' ने बौद्धधर्म को जनधर्म एवं युगधर्म बना दिया है।

कहानी

विस्मृता वधू

सुश्री कुमारी विद्या

कपिलवस्तु के राजोद्यान में विधु-युत नभ के नीचे ज्योत्स्ना की धवल माधुरी तृण-वीरुधों पर रजत कुसुम के मंजुल मकरंद बिखेर रही थी। मधुर चाँदनी के आलोक में विहग-बालिका-सी शशि-किरणें खेलती, ठिठकती, छिटकती, मुस्काती नील निलय में जा निद्रा के मृदुल अंक में सो जाती थीं। कितना सौंदर्य था, कितना माधुर्य उस उपवन में। वहीं एक पुष्पित तरु के नीचे स्फटिक के शुभ्र-शिलाखण्ड पर बैठी नील परिधान से सुशोभित विद्युत कुसुम-सी सौंदर्यमयी तरुणी वीणा के पतले तारों को चम्पक कलिका-सी सुकोमल उँगलियों से झंकृत कर रही थी। झंकार का वेग बढ़ा, साथ ही उँगलियों की गति भी। फिर एक मींड़—उपवन के तंद्रिल वातावरण में मधुरिमा बिखर गई। सब कुछ स्तब्ध-सा; रह गई थी वीणा की मधुर स्वर लहरी। तभी किसी की पद-ध्वनि सुनकर उँगलियाँ रुक गईं। तरुणी ने सम्हल कर देखा, आगन्तुक को निहारते ही मधुबरसाती पलकें नत हो गईं। युवक का हृदय उल्लास से विभोर हो गया, उसका अस्फुट स्वर था—"क्षमा करो शुभे! राज्योत्सव कार्यों में विलम्ब हुआ और तुम्हें इतनी प्रतीक्षा करनी पड़ी।"

"किन्तु भावी महाराज को प्रजा के लिये भी ध्यान देना होगा। और यह उन कर्तव्यों का प्रारम्भ है।" मधुऋतु की कोकिला-सी मधुर स्वर में तरुणी बोल उठी।

युवक राजकुमार नन्द उसके समीप बैठ गये। तभी एकाएक तरुणी उदास हो गई। कोमल करों के हेम-कंकणों की नोकों पर जटित हीरक कणिकाओं पर चन्द्र किरणों का नृत्य क्षण भर के लिये बन्द हो गया। धवल श्यामल अभ्रखंड ने शशि को क्षण भर के लिए छिपा लिया। किन्तु अभ्र सरक गया। ज्योत्स्ना विहँस उठी। तरुणी के हृदयेश्वर ने कहा—"अचानक ही ये विषाद के बादल क्यों?"

तरुणी सिहर उठी; फिर धीरे से बोली—"आर्या (गोपा देवी) की स्मृति विह्वल कर देती है। कहीं आप भी अपने अग्रज की भाँति मुझे बिलखती न छोड़ जायँ। आज आर्य यहाँ होते तो कितना हर्ष होता।"

युवक राजकुमार हँस पड़े—"शुभे! ऐसा न होगा। शाक्यकुमार दिये हुए वचन को नहीं तोड़ते।" यह सुनकर तरुणी वधू लिच्छवि कुमारी नन्दपत्नी सुन्दरिका ने सन्तोष की साँस ली। चाँदनी विहँस उठी और हँस पड़े कुमार नन्द अपनी प्रणयिनी का भोलापन देखकर। तरुणी का सस्मित मुख लज्जा से अरुण हो गया।

× × ×

कपिलवस्तु के पुण्य प्रासाद में नगर की पथ वीथियों में पुनः उल्लास-सा आ गया। कुमार नन्द ने वृद्ध महाराज शुद्धोदन एवं ममतामयी देवि प्रजापती के अनुरोध से राज्य कार्य सम्हालना स्वीकार कर लिया। तभी सुना गया भगवान् बुद्धत्व प्राप्त कर अपनी मंगलमयी वाणी से पीड़ित तृषित प्राणिमात्र को शान्ति एवं करुणा का वरदान देते हुए कपिलवस्तु के समीप कानन में पधारे हुए हैं। अनुज का स्नेह, माता की ममता, नागरिकों की श्रद्धा उमड़ पड़ी। सभी ने सोचा—यदि भगवान् कपिलवस्तु नगरी में पधारते तो यह धन्य हो जाती। नव-वधू तरुणी नन्द-पत्नी सुन्दरिका ने देखा, सुना, निर्विकार कजरारे नयनों ने निहारा—ममतामयी महादेवी प्रजापती का पुत्र स्नेह, श्वेत केशों से शोभित वृद्ध महाराज की मूक वेदना और अपनी युवती जीजी गोपा का त्याग, कसक और मौन आहें! उनका हृदय कातर हो उठा—यदि भगवान् एक बार ही पधारते तो कितना उल्लास, कितना हर्ष मुखरित हो जाता। कितनी आकांक्षायें, आशायें विकसित हो जातीं। इसके हृदयेश्वर (नन्द) ने भी चाहा था अपने अग्रज के समीप जावें किन्तु सुन्दरी सुन्दरिका का कोमल हृदय, नववधू

था मूक स्नेह, अपना वचन, उन्हें पद-पद पर रोक रहा था। शाक्यवंश की वधू सुकोमला नारी का विशुद्ध नारी-हृदय रो पड़ा। पलकें भींग गईं। उन्होंने चाहा अपने हृदय के देवता से भगवान् के समीप जाने को कह दें। किन्तु हृदय ने कहा उनके श्रीचरणों के समीप जाकर कौन लौटा है। एक ओर उनका सुख था दूसरी ओर समस्त कपिलवस्तु का उल्लास। दुग्ध-फेन-सी धवल कोमल शैया पर पड़ी वे सोचती रहीं। अन्त में उन्होंने निश्चय कर ही लिया। धीरे-धीरे निशि की अन्तिम प्रहर की शीतल समीरलहरी ने उन्हें स्वप्नों की रानी के मृदुल अंक में सुला दिया।

× × ×

भगवान् के कल्याणकारी उपदेशों के श्रवण करने में उनके हृदय के समस्त तार झंकृत हो उठे थे। उषा ने मंगल कुंकुम की श्री बिखेर दी। कलरवों के मधुर स्वरों से वे जगीं। जैसे बालारुण रवि की रश्मियाँ काषाय परिधान से सुशोभित भगवान् बुद्ध के पावन संदेश को पाकर हर्ष विभोर हो गई थीं। विश्व का कण-कण मानों उस भावना को प्रतिध्वनित कर रहा था कि सभी के कल्याण में निज का भी कल्याण है। सुन्दरिके! वे स्वयं मुग्धा सी कह पड़ीं—'तो जावें, वे अवश्य जावें और भगवान् को यहाँ आने का निमन्त्रण दें। उन्हें पता भी न था कि कब से उनके हृदयेश्वर नन्द उनके समीप खड़े हैं। उस अस्फुट स्वर को सुनते ही वे हर्ष से गद्गद् हो उनकी जलदागमसमीरकंपितपल्लव सदृश कोमल हथेलियों को अपने हाथों में लेकर कहा—"मुझे विदा दो शुभे! मैं उन्हें यहाँ लिवा लाने में समर्थ हो सकूँ।" नयनों की मूक भाषा में स्वीकृति दे दी।

× × ×

कुमार नंद गये, प्रकृत के उस पावन अंचल में जहाँ हरित भूमि पर तरुवर की शीतल छाया में स्फटिक शिलाखंड पर अवस्थित महाकारुणिक भिक्षु-संघ को ज्ञान का दान दे रहे थे। कुमार नंद का मस्तक उनके श्री चरणों में नत हो गया और वहीं उस अखंड आनन्द में उन्होंने सदा के लिए काषाय ग्रहण कर लिया। उस सरला वधू सुन्दरिका ने सुना, उसके पति काषाय धारण कर त्रिरत्न की शरण में चले गये। अपने हृदय की व्यथा को भुलाकर उनका गम्भीर स्वर था—'भवतु सब्ब मंगलं!"

कालान्तर में उन्होंने भी महादेवी प्रजापती, त्यागमयी देवी गोपा सहित काषाय धारण कर प्रथम भिक्षुणियों में स्थान प्राप्त किया।

शाक्य वंश की उस सरला त्यागशीला वधू की कथा विस्मृत-सी हो गई है, किन्तु संस्कृत साहित्य में आज भी वह गौरव-गाथा 'सौदरानंद' के रूप में उनका यशोगान कर रही है। धन्य था उनका त्याग, उनकी करुण कलित भावना, जिन्होंने यौवन के प्रथम प्रहर में स्वयं अपने को नहीं किन्तु अपने हृदयेश्वर को भी धर्म की शरण में अर्पित कर दिया था।

बुद्धकालीन भारत में उद्योग-धन्धा

श्रीमती उषा वात्स्यायन

भारत सदा से अपने सुन्दर और बारीक वस्त्र के लिये प्रसिद्ध रहा है। प्राचीन काल में भारत में बने सूती और विशेष रूप से रेशमी वस्त्र विदेशी बाजारों में बहुतायत से बिकते थे। वस्त्रोद्योग हमारे देश का एक अत्यधिक उन्नत और विस्तृत व्यवसाय रहा है। इस व्यवसाय में हजारों आदमी लगे रहते थे। यद्यपि आज की तरह पहले बड़े-बड़े मिल और कारखाने नहीं थे, पर वस्त्र-उत्पादन एक गृह-उद्योग होते हुए भी उत्पादन की मात्रा बहुत अधिक थी। इसलिये अपने देश को पर्याप्त कपड़ा सप्लाई करने के बाद विदेश भी भेजा जाता था। भारतीय वस्त्र एशिया ही नहीं, यूरोप के बाजारों में भी काफी बिकते थे।

प्राचीन भारत में सभी तरह के कपड़े बनते थे—मोटे और बारीक से बारीक। कपास के अलावे अलसी, केले तथा अन्य कितने ही प्रकार के वृक्षों के छिलके से

रेशे निकाल कर सूत तैयार किया जाता था और फिर विभिन्न किस्म और रंग के कपड़े तैयार किये जाते थे। काशी अपने बारीक और आकर्षक वस्त्र के लिए सदा से प्रसिद्ध रहा है। पालि साहित्य में 'कासिकं च मुदु वत्थं' (काशी का मुलायम वस्त्र) का उल्लेख अनेक जगह हुआ है। वहाँ के बने वस्त्रों की कीमत बहुत होती थी। यह एक कहावत हो गई थी जैसे 'सौ हजार रुपये (सत-सहस्सग्घनिकं) में मिलने वाला काशी का कपड़ा।' वस्त्रोत्पादन के और भी अनेक केन्द्र थे। पर और धन्धों की तरह इसका भी कोई संगठित कारखाना नहीं था। यह भी एक विकेन्द्रित उद्योग था।

सूती कपड़े के अतिरिक्त कोसेय्य (रेशमी) वस्त्र का भी उत्पादन बहुतायत से होता था। यद्यपि रेशमी वस्त्र सिर्फ धनीमानी लोग ही पहनते होंगे, फिर भी इसका चलन खूब था। रेशमी कपड़े पर सोने का काम बहुत सुन्दर होता था। राजा और सभासद आदि इस तरह के कीमती कपड़ों का काफी उपयोग करते थे। सजावट के लिये राजा के हाथी और घोड़े को भी जड़ी का कपड़ा ओढ़ाया जाता था। रेशम का उद्योग संसार में चीन और भारत में बहुत प्राचीन काल से चला आया है। सम्भव है कि रेशम उद्योग भारत में चीन से ही आया हो। संस्कृत में रेशमी वस्त्र के लिये 'चीनांशुक' शब्द का प्रयोग काफी रूढ़ सा हो गया है।

जिस तरह काशी सूती और रेशमी वस्त्र के लिये प्रसिद्ध था। उसी तरह गान्धार और कोडुम्बर ऊनी वस्त्र के लिए मशहूर स्थान थे। ऊन के अनेक प्रकार के वस्त्र बनते थे। शीत प्रदेशों में इसकी अच्छी खपत थी। दरी, बिछावन, चादर, पर्दा तथा अन्य अनेक प्रकार के सूती, रेशमी और ऊनी कपड़े तैयार होते थे। सच पूछा जाय तो कृषि के बाद सबसे अधिक उन्नत व्यवसाय वस्त्रोत्पादन ही था। कपास को बिनौले से अलग करना, धुनना, कातना और बुनना भारत के घर-घर में होता था। यह काम ज्यादातर स्त्रियाँ ही करती थीं। कहा भी 'इत्थीनं कप्पासपोत्थनं धनुका।' लेकिन स्त्रियाँ कपास धुनती ही नहीं थीं, बल्कि कर्वे पर बैठकर सारे दिन बुनती थीं और (बुनने से ही उनका काम) कम होता जाता था—यथापि तन्ते वितते यं यं देव्युपवीयति अप्पकं होति वेतब्बं। वस्त्र व्यवसायी को पालि में 'दुस्सका' कहते थे। इस धंधे में निश्चय ही हजारों कारीगर लगे होंगे।

आज की तरह प्राचीन काल में भी भारत अपने खनिज पदार्थों के लिए खूब सम्पन्न था। अब हमारी सरकार इस प्राकृतिक धन को विकसित करने का प्रयत्न कर रही है। किन्तु उस समय की आवश्यकतानुसार यह पर्याप्त विकसित उद्योग था। सोना, चाँदी, ताँबा, पीतल, लोहा, सीसा, स्फटिक (फटिक) मणि, हीरा आदि अनेक प्रकार के धातु, बहुतायत से पाई जाती थीं। कच्चे माल को खान से निकालने, उन्हें साफ करने, गलाने और तैयार माल को योग्य बनाने के तरीके भारतीय कारीगर खूब अच्छी तरह जानते थे। धातुओं के अतिरिक्त सैकड़ों किस्म के अन्य खनिज पदार्थ भी भारतीय खानों से निकलते थे। संखिया, हरताल, सुरमा, सिंदूर आदि चीजों का भी अच्छा उत्पादन होता था। नालन्दा की खोदाई में धातुओं को गलाने की भट्ठी और विभिन्न चीजों को बनाने के साँचे भी प्राप्त हुए हैं।

वस्त्र और धातु-उद्योग के अतिरिक्त छोटे-मोटे सैकड़ों ऐसे गृह-उद्योग थे जिनमें हजारों चतुर कारीगर और मजदूर लगे थे। समाज में शराब पीना बुरा माना जाता था, फिर भी इसका आम रिवाज था। इसलिए शराब बड़े पैमाने पर तैयार और खर्च होती थी। उत्सव और त्यौहारों के अवसर पर लोग खूब शराब पीते थे। भात, फल के रस, सोमवृक्ष और गन्ने के रस से ज्यादातर शराब तैयार की जाती थी। कहा गया है कि शराब की दूकान (सुरापण) रात दिन खुली रहती थी। किन्तु स्मरण रखना चाहिए कि शराब के विरुद्ध काफी प्रचार किया जाता था। बुद्ध ने सुरापान की सख्त मनाही की है (सुरमेरय मज्ज पमादट्ठाना वेरमणी सिक्खापदं समादियामि)।

नमक, चीनी, गुड़, तेल, मछली और मांस का भी व्यवसाय अच्छा होता था। नमक अधिकतर समुद्र के पानी और खारी मिट्टी से बनाया जाता था। गन्ने से रस निकाल कर गुड़ और चीनी काफी मात्रा में तैयार

होती थी। नमक की तरह यह भी अन्तर्प्रान्तीय व्यावसायिक वस्तु थी। कोल्हू का मौजूदा रूप बहुत प्राचीन है। मछली और मांस (मच्छ मांस) की खपत खूब थी। ताजे मच्छ मांस के अलावा यह सुखा कर भी बेचा जाता था। सूखा मांस बहुत दिनों तक रहता था। पर श्रमणों के उदय से मच्छ मांस भक्षण प्रशंसनीय नहीं समझा जाता था। खुले में जानवर नहीं काटे जाते थे। आज की तरह पहले भी कसाई-घरों (सूना) का प्रचार था।

प्राचीन भारत में भी आज की तरह प्रसाधनों का काफी प्रचार था। इत्र-फुलेल (अगरु-तगरु) सुगन्धित तेल, पाउडर (चुण्ण), क्रीम आदि का खूब इस्तेमाल होता था। हाँ, आज की तरह शृंगारिक वस्तुएँ समस्त गन्दी चीजों से ही नहीं बनती थीं। स्त्रियाँ नख और अंगुलियाँ रँगने के लिए अनेक प्रकार के रंगों का प्रयोग करती थीं। शृंगारिक प्रसाधनों के लिए अच्छा बाजार था। माली (मालाकार) सुन्दर और सुगन्धित फूलों की माला बनाकर बेचते थे। लोग बड़े शौक से माला खरीद कर पहनते थे। सुगन्धित फूलों से इत्र बनाकर बेचनेवाले को "गन्धिक" कहते थे। गन्धिक का धन्धा सदा से भारत में उन्नत रहा है। आज भी गाजीपुर, बनारस और कन्नौज आदि में सैकड़ों, हजारों आदमी इत्र का धंधा करते हैं।

चमड़े के व्यवसाय में भी बहुत अच्छे-अच्छे कारीगर हो चुके थे। जंगल की बहुतायत होने के कारण लोग शिकार खूब करते थे। राजा महाराजा और धनी वर्ग तो शौकिया शिकार करते थे, किन्तु हजारों ऐसे आदमी थे जिनकी जीविका ही शिकार पर निर्भर थी। इन व्यावसायिक शिकारियों को पालि में लुद्दक और 'निसाद' कहा गया है। शिकारी धनुष-बाण, भाला, कांटा, बर्छी और जाल आदि लेकर जंगल में दूर-दूर तक जाते थे। खरगोश और हिरण से लेकर बाघ, सिंह एवं हाथी को पकड़ा जाता था। शिकार में मारे गये जानवरों के माँस के अतिरिक्त चमड़ा, सींग और हाथी के दाँत खूब महँगे बिकते थे। चमड़े का उपयोग सिर्फ जूता बनाने में ही नहीं होता था, बल्कि इससे सुन्दर-सुन्दर थैला, तरकस, घोड़े का जीन, रस्सी, कोड़ा और छावा आदि भी बनाते थे। धनी लोगों के जूते बहुत चित्रित होते थे।

प्राचीन भारत में शिक्षा की हालत बहुत अच्छी थी। इसलिये शिक्षकों (आचार्य) का पेशा करनेवालों की भी कमी नहीं थी। गाँव-गाँव में विद्यालय थे जिनमें बौद्धिक ज्ञान के अतिरिक्त अनेक प्रकार के शिल्प भी सिखाए जाते थे। बड़े-बड़े नगरों में और भी बड़े और विभिन्न विषयों की शिक्षा दी जाती थी। यद्यपि उस समय शिक्षा का क्षेत्र इतना विस्तृत नहीं था फिर भी कहीं-कहीं १६ और कहीं-कहीं ६४ विद्याओं का उल्लेख आता है। वैद्यक और ज्योतिष का खूब प्रचार था। चिकित्सा में दवा और चीड़-फाड़ दोनों पद्धतियाँ काम में लायी जाती थीं। अनेक प्रकार की दवाइयाँ तैयार होकर बाजार में बिकती थीं।

मकान कहाँ, कैसा और किस ओर का बनना चाहिये—इसे जाननेवालों को पालि ग्रन्थों में 'वत्थु विज्जाचरिय' (वास्तुविद्याचार्य) कहा गया है। आज की भाषा में हम इन्हें इंजीनियर कह सकते हैं।

चार अनुस्मृतियाँ

प्रिय जिज्ञासु,

मैंने लिखा था कि हिमालय की ओर जाने का विचार है, किन्तु संघ के आह्वान पर छठें धर्म-संगायन में सम्मिलित होने के लिए बर्मा चला आना पड़ा। संघ की आज्ञा सर्वोपरि है। मुझे उसका पालन करना आवश्यक था। मैं अपने सब्रह्मचारियों के साथ ट्रेन से कलकत्ता आया और वहाँ से वायुयान द्वारा रंगून। बर्मा की 'बुद्धशासन कौंसिल' ने सारा प्रबन्ध पहले से ही कर रखा था। मुझे यहाँ बड़े-बड़े योगियों से मिलकर बड़ी प्रसन्नता हुई। 'पाषाण गुहा' में एक अर्हत् भिक्षु का भी दर्शन हुआ। वह मेरे पास ही बैठे थे। पहले तो मैं उनसे परिचित नहीं था, किन्तु कुछ परिचित योगियों द्वारा जान-पहचान हो गई। तुम्हें जानकर आश्चर्य न होगा कि यहाँ २५०० भिक्षुओं में से संगायन करने के लिए ५०० संगीतिकारक भिक्षुओं का निर्वाचन हुआ, जिनमें मैं भी चुना गया और त्रिपिटक-संशोधक भिक्षुओं में भी रख लिया गया। तीन दिन तक संगायन में सम्मिलित होने के पश्चात् मैं यात्रा करने बाहर चला गया। यह यात्रा भी वायुयान द्वारा ही हुई। माण्डले, मैंगो, सगाँई, अमरपुर, न्याबू, पगान, च्यौं, पेगू आदि बर्मा के प्रसिद्ध एवं ऐतिहासिक नगरों को देखने के पश्चात् रंगून के सभी स्थानों का दर्शन किया। 'स्वेडगों पगोडा' की पूजा तो अनेक बार की। कबाये का सुन्दर प्रदेश, पगोडा, पाषाण गुहा और विहार बड़े भव्य हैं। आजकल संगायन में आये हुए ५००० भिक्षुओं से यह प्रदेश रातों-दिन परिपूर्ण रहता है। बर्मा सरकार, बर्मा की जनता एवं बर्मा का भिक्षु-संघ सभी इस पुनीत कार्य के लिए धन्यवाद के पात्र हैं।

यहाँ रहते हुए मुझे तुम्हारा स्मरण हो आया। यदि तुम भी आये होते तो बड़ा उत्तम होता। मैंने यहाँ देखा है कि उपासक-उपासिकायें तक चार-स्मृतियों की भावना किया करती हैं, भिक्षुओं और अनागारिकाओं की क्या बात। यदि तुम भी इनका अभ्यास कर लो तो बड़ा अच्छा हो। मरणानुस्मृति, कायगतास्मृति, आनापान-स्मृति और उपशमानुस्मृति यही चार स्मृतियाँ हैं, जिनकी भावना कर योगी लोग योग की पराकाष्ठा को प्राप्त करते हैं और उपासक-उपासिकाएँ पुण्य-संचय कर सुगति-परायण होती हैं।

मरणानुस्मृति

जो योगी मरणानुस्मृति की भावना करना चाहे, उसे पहले 'मरण' को समझ कर उसकी भावना-विधि सीखनी चाहिए। जीवितेन्द्रिय का नष्ट होना ही मरण कहा जाता है। यह दो प्रकार का होता है—काल-मरण और अकाल-मरण। पुण्य के क्षय होने पर, आयु के समाप्त होने पर अथवा दोनों के ही क्षय हो जाने पर काल-मरण होता है। अकाल-मरण दूषी मार, कलाबु राजा आदि के महापातक कर्मों के कारण चित्त-प्रवाह के उपच्छेद से होता है।

मरण की भावना करने की इच्छावाले योगी को एकान्त में जाकर, चित्त को अन्य आलम्बनों से खींचकर 'मरण होगा', 'जीवितेन्द्रिय का उपच्छेद होगा' या 'मरण, मरण' कहकर भली प्रकार मन में विचार करना चाहिए। भली प्रकार से विचार न करनेवाले को प्रिय-जन की मृत्यु का स्मरण करने में शोक उत्पन्न होता है। अप्रिय-जन की मृत्यु के अनुस्मरण में प्रसन्नता होती है। मध्यस्थ-जन की मृत्यु के अनुस्मरण में मृतक को जलाने वाले व्यक्ति के मृतक को देखने के समान संवेग नहीं होता तथा अपनी मृत्यु के अनुस्मरण में तलवार उठाये जल्लाद को देखकर भीरु स्वभाववाले व्यक्ति के समान भय होता है।

यह सारी बातें उसे ही होती हैं जो स्मृति, संवेग और ज्ञान से विरहित होता है। अतः इधर-उधर मारे

गये अथवा मरे हुए प्राणियों को देखकर, प्राणियों के मरण का विचार करके स्मृति, संवेग और ज्ञान से युक्त होकर 'मरण होगा' आदि ऊपर कहे गये प्रकार से मन में करना चाहिए। ऐसा मन में करनेवाला योगी ही भली प्रकार मन में करता है। इस प्रकार अनुस्मरण करते हुए बार-बार मन में करने से चित्त एकाग्र होता है। मरणालम्बन की स्मृति बनी रहती है। नीवरण दब जाते हैं। ध्यान के अंग उत्पन्न होते हैं। आलम्बन के स्वभाव-धर्म और संवेग उत्पन्न करनेवाला होने से अर्पणा को न प्राप्त करके उपचार प्राप्त ही ध्यान होता है।

इस मरणानुस्मृति में लगा हुआ योगी सदा अप्रमत्त होता है। जीवित रहने की इच्छा को त्यागता है। पाप की निन्दा करनेवाला होता है। वह जोडू-बटोरू नहीं होता है। उसे अनित्य का ख्याल सदा बना रहता है। वह मरते समय भय और संमोह रहित होकर मरता है। यदि वह इसी जन्म में निर्वाण को नहीं प्राप्त करता है, तो मरने पर सद्गति प्राप्त करता है। इसलिए योगी को चाहिए कि ऐसी महा-अनुभाववाली मरणानुस्मृति की भावना करने में कभी प्रमाद न करे।

कायगतास्मृति

शरीर के बत्तीस भागों को मन में करने को ही कायगतास्मृति कहते हैं। इसकी भावना करनेवाला योगी इसी शरीर को पैर के तलवे से ऊपर और मस्तक के केश से नीचे, चमड़े से घिरे, नाना प्रकार की गन्दगियों से भरे हुए देखता है। वह इस प्रकार विचार करता है :—

'अत्थि इमस्मिं काये केसा, लोमा, नखा, दन्ता, तचो; मंसं, नहारु, अट्ठि, अट्ठिमिञ्जं, वक्कं; हदयं, यकनं, किलोमकं, पिहकं, पप्फासं; अन्तं, अन्तगुणं, उदरियं, करीसं, मत्थलुङ्गं; पित्तं, सेम्हं, पुब्बो, लोहितं, सेदो, मेदो; अस्सु, वसा, खेलो, सिंघानिका, लसिका, मुत्तन्ति।'

[इस शरीर में हैं केश, लोम, नख, दाँत, त्वक् (= चर्म); माँस, स्नायु (= नस), हड्डी, हड्डी के भीतर की मज्जा (= गुद्दी), वृक्क; हृदय (= कलेजा), यकृत, क्लोमक, प्लीहा (= तिल्ली), फुफ्फुस; आँत, पतली आँत, उदरस्थ, (वस्तुयें), पाखाना, मस्तिष्क; पित्त, कफ, पीब, लोहू, पसीना, मेद (= वर), आँसू, वसा (= चर्बी), थूक, पोंटा, लसिका, (=केहुनी आदि जोड़ों में स्थित तरल पदार्थ) और मूत्र।]

योगी विचार-पूर्वक मनन करते हुए इस शरीर में कोई मोती, मणि नहीं देखता है, प्रत्युत अत्यन्त दुर्गन्ध, घृणित, अशुभ नाना प्रकार के केश, लोम आदि गन्दगी को ही देखता है।

योगी को चाहिए कि पहले वह त्वक् पञ्चक (=केश, लोम, नख, दाँत, त्वक्) आदि का विभाग करके सीधे और उलटे पाठ करे। 'केसा, लोमा, नखा, दन्ता, तचो' कहकर फिर उलटे 'तचो, दन्ता, नखा, लोमा, केसा' कहे।

उसके पश्चात् वृक्क-पञ्चक में 'मंसं, नहारु, अट्ठि, अट्ठिमिञ्जं, वक्कं' कहकर फिर उलटे 'वक्कं, अट्ठिमिञ्जं, अट्ठि, नहारु, मंसं' कहे।

उसके पश्चात् फुफ्फुस-पञ्चक में 'हदयं, यकनं, किलोमकं, पिहकं, पप्फासं', कहकर फिर उलटे 'पप्फासं, पिहकं, किलोमकं, यकनं, हदयं' कहे।

इसी प्रकार तदुपरान्त मस्तिष्क-पञ्चक में 'अन्तं, अन्तगुणं, उदरियं, करीसं, मत्थलुंगं' को सीधे-उलटे कहे और उसके पश्चात् मेद-छक्क में 'पित्तं, सेम्हं, पुब्बो, लोहितं, सेदो, मेदो' का सीधा-उलटा पाठ करके मूत्र-छक्क का पाठ करे 'अस्सु, वसा, खेलो, सिंघानिका, लसिका, मुत्तं'।

इस प्रकार सैकड़ों-हजारों बार बोल-बोल कर पाठ करना चाहिए। बोल-बोलकर पाठ करने से कर्मस्थान अभ्यस्त होता है और चित्त इधर-उधर नहीं दौड़ता है। भाग प्रगट होते हैं। बोल-बोल पर पाठ करने के समान ही मन से भी पाठ करना चाहिए। बोल-बोल कर किया हुआ पाठ मन से किये हुए पाठ का प्रत्यय होता है।

योगी को अनुरूप स्थान में विहार करते हुए, छोटे-छोटे विघ्नों को दूर कर कायगतास्मृति की भावना में लगना चाहिए। पहले उसे केशों में निमित्त ग्रहण करना चाहिए। एक या दो केश को उखाड़कर हथेली पर रख

करके उसके रंगका विचार करना चाहिए। टूटे हुए स्थान पर भी केशों को देखना चाहिए। पानी के बर्तन में या भोजन-पात्र में भी देखा जा सकता है। केशों को देखने के समान सम्पूर्ण त्वक् पञ्चक को भी देखकर निमित्त ग्रहण करना चाहिए। निमित्त को ग्रहण करके प्रतिकूल होने का विचार करना चाहिए—'ये केश रंग से भी प्रतिकूल हैं, बनावट से भी, गन्ध से भी, आशय से भी, अवकाश से भी। इसी प्रकार सब भागों में प्रतिकूलता का विचार करना चाहिए। बार-बार विचार करते हुए क्रम से अर्पणा उत्पन्न होती है।

इस कायगतास्मृति में लगा हुआ योगी काम-वासना की इच्छा को दबानेवाला होता है। उसे उदासी भी नहीं होती है। वह भयभीत नहीं होता है। प्राण हरनेवाली शारीरिक वेदनाओं को वह सहर्ष सह लेता है। वह चारों ध्यानों तथा छः अभिज्ञाओं को प्राप्त करता है। इसलिये प्राचीनकाल के महायोगियों ने कहा है—'वे अमृत का परिभोग करते हैं, जो कायगतास्मृति का परिभोग करते हैं।'

इसलिये ऐसी अनेक गुणवाली कायगतास्मृति में योगी को मन लगाकर जुटना चाहिए।

पत्र लम्बा हो गया। ९ बज रहे हैं। स्नान करके भोजन करने जाना है और फिर संगायन में सम्मिलित होना है। संगायन प्रतिदिन १२ बजे प्रारम्भ होता है और ५ बजे तक चलता है। अतः मैं अब स्नान करने जा रहा हूँ। देखो, सब योगी स्नान करने चल दिये। शेष दो अनुस्मृतियों के सम्बन्ध में अगले पत्र में लिख भेजूँगा। आज इतना ही बस। योगीराज के आशीर्वाद।

पुब्बविदेह चौं,
कबाये, रंगून
२८-५-५४

तुम्हारा—
योगी

लोक में आग लगी है

घर में आग लग जाने पर,
जो अपने असबाब बाहर निकाल लेता है,
वह उसकी भलाई के लिए होता है;
नहीं तो वह वहीं जलकर राख हो जाता है।
उसी प्रकार इस सारे लोक में आग लग गई है,
जरा की आग, और मर जाने की आग,
दान देकर बाहर निकाल लो,
दान दिया गया अच्छी तरह रक्षित रहता है।
दान देने से सुख की प्राप्ति होती है,
नहीं देने से उसे ऐसा ही होता है;
चोर चुरा लेते हैं या राजा हर लेते हैं,
या आग लग जाती है या नष्ट हो जाता है।
और, आखिर में तो सब ही छूट जाता है,
यह शरीर भी, और साथ साथ सारी सम्पत्ति,
इसे जान बूझकर पण्डित पुरुष,
भोग भी करते हैं और दान भी देते हैं।
अपने सामर्थ्य के अनुकूल देकर और भोग कर,
निन्दा रहित हो स्वर्ग में स्थान पाता है।

—संयुत्त निकाय १. ५. १

बौद्ध-जगत्

देश-विदेश में बुद्ध-जयन्ती महोत्सव की धूम

इस वर्ष भारत के विभिन्न स्थानों में बुद्धजयन्ती महोत्सव बड़ी धूमधाम के साथ मनाया गया। विदेशों में भी बुद्धजयन्ती महोत्सव की बड़ी धूम रही। इस वर्ष बुद्धजयन्ती महोत्सव मनाये गये स्थानों की बढ़ती हुई संख्या को देखकर ऐसा विश्वास होता है कि बौद्ध धर्म का स्वतः बड़े वेग से प्रचार हो रहा है। लोगों की दृष्टि बौद्धधर्म और भगवान् बुद्ध की शिक्षाओं की ओर लगी हुई है। वे उसे स्वतः अपनाते जा रहे हैं।

सारनाथ—१७ मई को सारनाथ के मूलगन्ध कुटी विहार में प्रातः ८ बजे प्रो० चन्द्रिकासिंह उपासक की अध्यक्षता में बुद्धजयन्ती महोत्सव मनाया गया। श्री बालेश्वरप्रसाद, श्री रामूसिंह, श्री उदयनारायण पाण्डेय, श्री काशीप्रसाद श्रीवास्तव आदि कई विद्वानों के भाषण हुए। सब वक्ताओं ने बौद्धधर्म की विशेषताओं पर प्रकाश डाला।

सन्ध्या समय मन्दिर में प्रदीप पूजा हुई थी तथा भिक्षु गुणरत्न ने सूत्रपाठ किया।

कलकत्ता—भारतीय महाबोधि सभा की ओर से कलकत्ते के धर्मराजिक विहार में बुद्ध जयन्ती मनाई गयी। प्रातः ६ बजे से ११ बजे तक बुद्ध-पूजा हुई, जिसमें नर-नारी और बच्चे सम्मिलित हुए थे। उक्त अवसर पर भगवान् की पवित्र अस्थियों का प्रदर्शन भी किया गया।

सन्ध्या समय ६ बजे कलकत्ता विश्वविद्यालय के कुलपति डा० जे० सी० घोष के सभापतित्व में सभा हुई। विहाराध्यक्ष भिक्षु जिनरत्न के पंचशील प्रदान करने के साथ सभा का कार्यक्रम प्रारम्भ हुआ। सर्व-प्रथम श्री के० सी० गुप्त का स्वागत-भाषण हुआ। तदुपरान्त भिक्षु शीलभद्र, श्रीमती चित्रिता गुप्त और श्री जे० एन० मजुमदार के भाषण हुए। उसके उपरान्त श्री जवाहरलाल नेहरू, डा० राधाकृष्णन, लंका के प्रधान मंत्री श्री जोन कोतलावल और सिक्किम के महाराज कुमार के सन्देश पढ़कर सुनाये गये। सभापति के भाषण के पश्चात् सभा समाप्त हुई।

दूसरे दिन १८ मई को अपराह्न में धर्मराजिक विहार से एक जुलूस निकाला गया जिसमें कलकत्तावासी सभी सिंहली, तिब्बती, नेपाली, जापानी, चीनी बौद्ध सम्मिलित थे। जुलूस में महाबोधि सभा के सदस्य श्री के० एस० सीताराम एक पीतल की बुद्धमूर्ति को लेकर आगे-आगे चल रहे थे।

कलकत्ता से १४ मील की दूरी पर स्थित छत्र और श्रीरामपुर की जनता ने १८ मई को बड़ी धूमधाम से बुद्धजयन्ती मनाई जिसमें काफी संख्या में लोग सम्मिलित हुए थे। इस सभा के सभापति भिक्षु शीलभद्र थे।

२३ मई को हवड़ा के बेलनगर में रामकृष्ण मिशन आश्रम द्वारा बुद्धजयन्ती मनाई गई। आश्रम के अध्यक्ष स्वामी सम्बुद्ध चैतन्य ने उसे सफल बनाने के लिए रातों-दिन परिश्रम किया। सन्ध्या समय एक सार्वजनिक सभा हुई, जिसमें सभी ग्रामवासी सम्मिलित हुए थे। महिलाओं की काफी भीड़ थी।

१६ मई को कलकत्ता के 'रेनबो क्लब' के तत्वावधान में भी बुद्धजयन्ती मनाई गई, जिसमें भिक्षु शीलभद्र तथा श्री केशवचन्द्र गुप्त के भाषण हुए।

कालिम्पोंग—प्रति वर्ष की भाँति इस वर्ष भी १७ मई को कालिम्पोंग में भारतीय महाबोधि सभा की ओर से बुद्धजयन्ती मनाई गई। प्रातःकाल मन्दिर में बुद्ध-पूजा की गई तथा भिक्षु संघरक्षित ने उपासक-उपासिकाओं को त्रिशरण तथा पञ्चशील देकर उपदेश दिया। दिन भर मन्दिर में पूजा होती रही। उपासक-उपासिकायें पुष्प-माला के साथ आती रहीं और बुद्ध-पूजा करती रहीं।

२३ मई को सायंकाल ६ बजे श्री के० डी० प्रधान के सभापतित्व में सभा हुई, जिसमें लामा डरदोह

रिंपोच्छे, श्री भाईचन्द प्रधान, श्रामणेर आर्यदेव, श्री परमहंस मिश्र, श्री बी० के० गोस्वामी और भिक्षु संघरक्षित के भाषण हुए। सब वक्ताओं ने बुद्धपूर्णिमा के महत्व को बतलाते हुए बौद्ध-धर्म पर प्रकाश डाला।

नई दिल्ली—महाबोधि सभा के नई दिल्ली स्थित बुद्ध विहार में भारत के विधिमंत्री श्री सी० सी० विश्वास के सभापतित्व में बुद्धजयन्ती मनाई गई। भिक्षु आर्यवंश ने उत्सव एवं सभा का बड़ा सुन्दर आयोजन किया था।

बम्बई—१६ मई को बम्बई में भारतीय महाबोधि-की ओर से बुद्धजयन्ती मनाई गई। सभा के अध्यक्ष अनागारिक गोविन्द थे। सभा में पूर्व-पश्चिम दोनों देशों के बौद्ध सम्मिलित हुए थे। विहार के अध्यक्ष भिक्षु शान्तिभद्र ने बुद्धजयन्ती के सभी कार्यक्रम सफल बनाये।

मालाबार—मालाबार प्रदेश के रोक्षीकोडु स्थित महाबोधि बुद्धिष्ट मिशन के तत्वावधान में विहाराध्यक्ष भदन्त धर्मस्कन्ध स्थविर की व्यवस्था से बड़ी धूम-धाम के साथ बुद्धजयन्ती मनाई गई। सायंकाल श्री नारायण मेनन की अध्यक्षता में सभा हुई, जिसमें भिक्षु धर्मस्कन्ध और श्री ए० नारायण मेनन के भाषण हुए। श्री सुकुमारन पोट्टेक्कत के धन्यवाद देने के उपरान्त जयन्ती एवं सभा का कार्यक्रम समाप्त हुआ।

शिलांग—आसाम के शिलांग बुद्धिष्ट असोसियेशन द्वारा अपूर्व उत्साह के साथ वैशाखी-पूर्णिमा का उत्सव मनाया गया। १७ मई को संध्या समय श्री रूपनाथ ब्रह्मा की अध्यक्षता में सभा हुई, जिसमें कुछ विशेष वक्ताओं के भाषण हुए। प्रारम्भ में विहार के समीप एक धर्मशाला की नींव रानी सविता देवी द्वारा डाली गई और रात्रि में भगवान् बुद्ध के जीवन-चरित पर एक नाटक खेला गया।

कुशीनगर—१७ मई को कुशीनगर में जिलाधीश श्री बी० पी० शुक्ल की अध्यक्षता में बुद्धजयन्ती महोत्सव मनाया गया। प्रारम्भ में भगवान् की रथ-यात्रा निकली गई और खेल-तमाशे हुए। सभा में श्री रमाशंकर मणि त्रिपाठी, पं० ज्वालाप्रसाद चतुर्वेदी और जिला विद्यालय निरीक्षक के भाषण हुए। सन्ध्या समय परिनिर्वाण मन्दिर में प्रदीप-पूजा की गई तथा प्रसाद वितरण किया गया।

लखनऊ—१६ मई को लखनऊ में भारतीय बौद्ध समिति की ओर से बुद्धजयन्ती मनाई गई। प्रातःकाल बुद्ध-पूजा हुई तथा उपासकों ने त्रिशरण-पञ्चशील ग्रहण किया। सन्ध्या समय ६ बजे अमीनुद्दौला पार्क में लखनऊ विश्वविद्यालय के दर्शन के अध्यापक डा० देवराज के सभापतित्व में सभा हुई। श्री बी० के० बरुआ, श्री चन्द्रिकाप्रसाद, छेदीलाल, गयाप्रसाद कुरील और पुष्करनाथ भट्ट के भाषण हुए।

अजमेर—सदा की भाँति इस वर्ष भी १७ मई को कोलिय बौद्ध समिति के तत्वावधान में बुद्धपूर्णिमा महोत्सव भारतस्थित बर्मी दूतावास के सचिव श्री ऊ विन बा की अध्यक्षता में बड़ी धूमधाम से मनाया गया।

प्रातःकाल बुद्धपूजा एवं कीर्तन हुए तथा श्रीमती मेई देवी द्वारा निर्मित क्षात्र धर्म ए० बी० स्कूल के नवीन भवन का उद्घाटन सभापति द्वारा हुआ। श्री ईश्वरसिंह की ओर से खीर का प्रसाद वितरण हुआ।

सायंकाल ४॥ बजे बुद्धमूर्ति के साथ जुलूस निकला जो नगर के प्रायः प्रमुख मार्गों से होता हुआ वापस लौटा। सायंकाल ८ बजे सभा हुई। सभा के प्रारम्भ में श्री जवाहरलाल नेहरू, लंका के प्रधान मंत्री श्री जोन कोतलावल, बर्मा के धर्म एवं राष्ट्र-निर्माण मंत्री श्री ऊ विन और अजमेर के मुख्य मंत्री श्री हरिभाऊ उपाध्याय के शुभ सन्देश पढ़कर सुनाये गये।

अन्त में श्री मोहनकुमार नाथूसिंह तँवर ने यह प्रस्ताव रखा, जो सर्वसम्मति से स्वीकृत हुआ :—

"यह सम्मेलन हार्दिक खेद प्रगट करता है कि अनेक वर्षों से आग्रह करने पर भी स्थानीय रेलवे वर्क शॉप में काम करने वाले कोलिय बौद्धों को वैशाख पूर्णिमा के दिन अपना वेतन कटाकर छुट्टी लेनी पड़ती है। भारत सरकार को चाहिए कि अजमेर के रेलवे वर्क शॉप में काम करने वाले बौद्धों के लिए वैशाख पूर्णिमा को सवैतनिक अवकाश प्रदान करने की व्यवस्था करे।"

श्री नवलसिंह गहलोत ने एक अन्य प्रस्ताव द्वारा श्री

नेहरू की शान्ति-योजना में पूर्ण विश्वास एवं श्रद्धा प्रगट की।

सभापति ने भाषण करते हुए कहा कि बौद्धधर्म एक जीवित विज्ञान है, इसकी यथार्थता व्यवहार से जानी जा सकती है। आगे उन्होंने कहा कि यदि संसार के मानव बुद्धशिक्षा के अनुसार चलें तो विश्व में शीघ्र ही शान्ति स्थापित हो जाय।

जबलपुर—गत वर्ष की भाँति इस वर्ष भी १६ मई को जबलपुर के खाईपुरा चौक में श्री नीतराम शाक्य की अध्यक्षता में बुद्धजयन्ती महोत्सव मनाया गया। सर्वप्रथम पुरुषोत्तम-लाल ने कविता पाठ किया। तदुपरान्त श्री शोभाराम दिवगैया शाक्य, श्री पी० सी० सोहोद्रे, श्री टेकचन्द, श्री रामप्रसाद शाक्य और श्री रामचरण लाल के सारगर्भित भाषण हुए। सब वक्ताओं ने बौद्धधर्म पर प्रकाश डाला।

अध्यक्ष महोदय ने अपने भाषण में कहा कि आज के समान विषम समय में जब कि युद्ध के बादल मँडरा रहे हैं, भगवान् बुद्ध के बतलाये हुए मार्ग पर आरूढ़ होकर कोई भी मनुष्य, समाज एवं देश, सच्चे सुख और शान्ति को प्राप्त कर उन्नति के शिखर पर पहुँच सकता है।

श्री मोहन जी मानाजी सोलंकी

सौराष्ट्र—१७ मई को सौराष्ट्र के सुप्रसिद्ध बौद्धधर्म के प्रचारक एवं कोलिय जाति के कार्यकर्त्ता श्री मोहन जी मानाजी सोलंकी के निवास-स्थान भगपती बुद्ध कुटीर में बड़ी धूमधाम के साथ बुद्ध जयन्ती मनायी गई जिसमें नगर के सभी राजकर्मचारी एवं विद्वान् सम्मिलित हुए थे।

सभा का कार्यक्रम त्रिशरण-पञ्चशील ग्रहण करने के पश्चात् प्रारम्भ हुआ। श्री सोलंकी ने 'पधारे द्वार मोरे भगवान्' शीर्षक गीत गाया। तत्पश्चात् श्री हरिभाई, डा० भास्कर भाई दबे, श्री बाबू भाई पटेल, श्री भी० भूपतराय मेहता आदि के सारगर्भित भाषण हुए। सभी वक्ताओं एवं जनता ने श्री सोलंकी को उनके इस आयोजन के लिए धन्यवाद दिया और आशा प्रकट की कि अगले वर्ष से बुद्धजयन्ती महोत्सव का आयोजन सौराष्ट्र में सर्वत्र होगा।

धर्म संगायन—बर्मा की बुद्ध शासन कौंसिल के निमन्त्रण पर भारतीय महाबोधि सभा के निम्नलिखित दस भिक्षु और दो गृहस्थ छठें धर्म संगायन में सम्मिलित होने गये थे:—

(१) भदन्त के० श्रीनिवास नायक महास्थविर
(२) भदन्त डी० शासनश्री महास्थविर
(३) भदन्त एन० सोमानन्द नायक स्थविर
(४) पण्डित एच० सद्धातिस्स स्थविर
(५) पण्डित के० शीवली स्थविर
(६) एच० धम्मानन्द स्थविर
(७) भिक्षु धर्मरक्षित
(८) भिक्षु जी० प्रज्ञानन्द
(९) भिक्षु डी० सुमङ्गल
(१०) भदन्त एन० जिनरत्न स्थविर
(११) श्री एन० सी० घोष, ओ० बी० ई०
(१२) श्री गी-रिंसग-पो

भारतीय महाबोधि सभा के उक्त व्यक्ति १५ मई को बर्मा यूनियन के वायुयान द्वारा रंगून गये और संगायन में सम्मिलित होकर पुनः १ जून को कलकत्ता वापस लौट आये। इन लोगों ने वायुयान द्वारा ही जाकर मांडले, मैंगो, सगाईं, अमरपुर, न्यावू, पगान, पखौकू, च्छो, पेगू आदि बर्मा के प्रसिद्ध एवं ऐतिहासिक नगरों का भ्रमण किया। सारा प्रबन्ध बर्मा सरकार की ओर से हुआ था।

स्मरण रहे कि इन भिक्षुओं में से भदन्त शासनश्री, पण्डित एच० सद्धातिस्स एवं भिक्षु धर्मरक्षित संगीति कारक भिक्षु चुने गये। भिक्षु धर्मरक्षित 'त्रिपिटक संशोधक' भी निर्वाचित हुए।

सारनाथ में धर्मचक्र प्रवर्तन दिवस—१५ जुलाई को मूलगन्धकुटी विहार सारनाथ में महाबोधि सभा के तत्वावधान में 'धर्मचक्र प्रवर्तन दिवस' हिन्दू विश्वविद्यालय के प्राध्यापक डाक्टर टी० आर० वी० मूर्ति के सभापतित्व में मनाया गया।

सभा की कारवाई सायंकाल ४ बजे से महाबोधि सभा के मन्त्री, भिक्षु शासनश्री के स्वागत-भाषण तथा भिक्षुओं द्वारा धर्मचक्र सूत्र-पाठ से प्रारम्भ हुई। डाक्टर भीखनलाल आत्रेय, भिक्षु धर्मरत्न, प्रोफेसर जगन्नाथ उपाध्याय, भास्करनाथ मिश्र, के० पी० चक्रवर्ती, श्री बालेश्वरप्रसाद आदि के भाषण हुए।

सभी वक्ताओं ने धर्मचक्र प्रवर्तन दिवस के महत्व पर प्रकाश डाला तथा भगवान् बुद्ध के प्रति श्रद्धांजलि अर्पित की।

सभापति-पद से भाषण करते हुए, डाक्टर मूर्ति ने बतलाया कि बौद्ध धर्म एक सार्वभौम धर्म है। उन्होंने कहा कि यहाँ के बाह्य रूप से भारत से बौद्ध धर्म उठ गया है, परन्तु उसकी अमिट छाप हमारे हृदय पर पड़ी है।

भिक्षु धर्मरक्षित ने दो प्रस्ताव रखे, जो कि सर्वसम्मति से स्वीकृत हुए। प्रथम प्रस्ताव में उत्तर प्रदेशीय सरकार को बनारस गवर्मेण्ट संस्कृत कालेज की संस्कृत परीक्षा में पालि का सन्निवेश करने पर बधाई दी गयी तथा दूसरे प्रस्ताव द्वारा केन्द्रीय सरकार से निवेदन किया गया कि आन्ध्रप्रदेश स्थित प्राचीन बौद्ध ऐतिहासिक दुर्ग नागार्जुनी कोंडा को जल समाधि देने से बचाया जाय और उसकी सुरक्षा की व्यवस्था की जाय।

अन्त में महाबोधि सभा की ओर से भिक्षु सद्धातिस्स ने धन्यवाद दिया।

दोपहर में भिक्षु संघ को भोजन दान दिया गया और सायंकाल सूत्रपाठ तथा प्रदीप पूजा हुई।

भिक्षुओं का वर्षावास ग्रहण—१५ जुलाई को रात्रि में सारनाथवासी लंका, बर्मा, चीन, तिब्बत, लद्दाख, नेपाल तथा भारत के भिक्षुओं ने विधिवत् वर्षावास ग्रहण किया।

स्मरण रहे, धर्मचक्र प्रवर्तन के पश्चात् भगवान् बुद्ध ने सर्वप्रथम वर्षावास सारनाथ में किया था और तब से वर्षावास की परिपाटी शुरू हुई। सम्प्रति सभी बौद्ध देशों के भिक्षु आषाढ़ पूर्णिमा को वर्षावास ग्रहण करते हैं और तीन मास एक ही स्थान पर निवास करते हैं।

बुद्धगया मन्दिर के सम्बन्ध में योजना—बुद्ध गया मन्दिर समिति ने १० जुलाई को अपनी बैठक में निश्चय किया कि भारत सरकार के पुरातत्व विभाग के एक विशेषज्ञ को आमन्त्रित किया जाय जो १७ सौ वर्ष पुराने बुद्धगया मन्दिर की मरम्मत तथा पुनर्निर्माण और मन्दिर के चारों ओर के भूभाग के विकास की योजना बनाये।

कमेटी ने मैसूर के चीफ एलेक्ट्रिकल इञ्जीनियर से एक विशेषज्ञ भेजने के लिए अनुरोध करने का भी निर्णय किया जो मन्दिर के लिए विद्युतालय का नकशा तैयार करेगा। इसके लिए लंका की महाबोधि सोसाइटी के मंत्री की पत्नी ने ५१ हजार रुपया देना स्वीकार किया है।

भिक्षु सद्धातिस्स बी० ए०—इस वर्ष हिन्दू विश्वविद्यालय काशी से भिक्षु सद्धातिस्स ने बी० ए० परीक्षा द्वितीय श्रेणी में उत्तीर्ण कर लिया है। आप सन् १९४४ में लंका से भारत में आये थे और तब से महाबोधि सभा के विभिन्न केन्द्रों पर रहकर कार्य-भार सम्हाला है। आपने भारत आने के बाद ही हिन्दी पढ़ कर हिन्दी में 'सरल पालि शिक्षा' नामक एक पालि भाषा का व्याकरण-ग्रंथ भी लिखा है, जो हाईस्कूल तथा इण्टरमीडिएट की कक्षाओं में पढ़ाया जाता है। हम आपकी इस सफलता के लिए बधाई देते हैं और सदा आपकी उन्नति की कामना करते हैं।

भिक्षु धर्मरत्न—महाबोधि सभा के अंग्रेजी मासिक पत्र "महाबोधि" के सम्पादक भिक्षु धर्मरत्न एम० ए० आजकल सारनाथ आये हुए हैं। स्मरण रहे आप रुग्ण होकर स्वास्थ्य-लाभ के लिए लुम्बिनी, बुटवल आदि स्थानों में गये हुए थे। इस समय भी आपका स्वास्थ्य अनुकूल नहीं है। हम आपके पूर्ण-स्वास्थ्य-लाभ की कामना करते हैं।

हिन्दी में बौद्धधर्म की पुस्तकें

प्रकाशक—भिक्षु एम० संघरत्न, महाबोधि सभा, सारनाथ, (बनारस)
मुद्रक—ओम् प्रकाश कपूर, ज्ञानमण्डल यन्त्रालय, कबीरचौरा, बनारस।

धर्मदूत

महा बोधि सभा सारनाथ का मुख पत्र

१९५४

—१९ : अंक—४

वार्षिक–३) एक अंक का ।≈)

विषय-सूची

'धर्मदूत' के नियम--

१—"धर्मदूत" भारतीय महाबोधि सभा का हिन्दी मासिक मुखपत्र है ; जो प्रति पूर्णिमा को प्रकाशित होता है ।

२—"धर्मदूत" के ग्राहक किसी भी मास से बनाये जा सकेंगे ।

३—पत्र-व्यवहार करते समय ग्राहक-संख्या एवं पूरा पता लिखना चाहिये, ताकि पत्रिका के पहुँचने में गड़बड़ी न हो ।

४—लेख, कविता, समालोचनार्थ पुस्तकें (दो प्रतियाँ) और बदले के पत्र सम्पादक के नाम तथा प्रबन्ध सम्बन्धी पत्र और चन्दा व्यवस्थापक के नाम पर भेजना चाहिये ।

५—किसी लेख अथवा कविता के प्रकाशित करने या न करने, घटाने-बढ़ाने या संशोधन करने का अधिकार सम्पादक को है । बिना डाकखर्च भेजे अप्रकाशित कविता या लेख लौटाये न जा सकेंगे । जिस अङ्क में जिनका लेख या कविता छपेगी वह अङ्क उनके पास भेज दिया जायगा ।

६—"धर्मदूत" में केवल बौद्धधर्म, कला, संस्कृति, साहित्य, पुरातत्व आदि सम्बन्धी लेख ही प्रकाशित किये जा सकेंगे ।

७—किसी लेखक द्वारा प्रकटित मत के लिये सम्पादक उत्तरदायी नहीं है ।

८—"धर्मदूत" का वार्षिक मूल्य ३) और आजीवन ५०) है ।

व्यवस्थापक
"धर्मदूत" सारनाथ, बनारस

चरथ भिक्खवे चारिकं बहुजनहिताय बहुजनसुखाय लोकानुकम्पाय अत्थाय हिताय सुखाय देवमनुस्सानं। देसेथ भिक्खवे धम्मं आदिकल्याणं मज्झे कल्याणं परियोसानकल्याणं सात्थं सब्यञ्जनं केवल-परिपुण्णं परिसुद्धं ब्रह्मचरियं पकासेथ। महावग्ग, (विनय-पिटक)

'भिक्षुओ ! बहुजन के हित के लिये, बहुजन के सुख के लिए, लोक पर दया करने के लिये, देवताओं और मनुष्यों के प्रयोजन के लिये, हित के लिये, सुख के लिये विचरण करो। भिक्षुओ ! आरम्भ, मध्य और अन्त—सभी अवस्था में कल्याणकारक धर्म का उसके शब्दों और भावों सहित उपदेश करके, सर्वांश में परिपूर्ण परिशुद्ध ब्रह्मचर्य का प्रकाश करो।'

सम्पादकः—त्रिपिटकाचार्य भिक्षु धर्मरक्षित

वर्ष १९	सारनाथ,	अगस्त	बु० सं० २४९८ ई० सं० १९५४	अङ्क ४

बुद्ध-वचनामृत

'आध्यात्मिक स्नान करो'

एक समय भगवान् वैशाली में महावन की कूटागारशाला में विहार करते थे। तब लिच्छवियों का महामात्य नन्दक जहाँ भगवान् थे वहाँ आया और भगवान् को अभिवादन कर एक ओर बैठ गया। एक ओर बैठे लिच्छवियों के महामात्य नन्दक से भगवान् बोले—"नन्दक ! चार धर्मों से युक्त होने से आर्य-श्रावक स्रोतापन्न होता है। किन चार से ? बुद्ध, धर्म, संघ के प्रति दृढ़ श्रद्धा से युक्त होता है और श्रेष्ठ तथा सुन्दर शीलवाला होता है। नन्दक ! इन चार धर्मों से युक्त होने से आर्य-श्रावक दिव्य और मानुष आयुवाला होता है, वर्णवाला होता है, सुखवाला होता है, आधिपत्यवाला होता है। नन्दक ! इसे मैं किसी दूसरे श्रमण या ब्राह्मण से सुनकर नहीं कह रहा हूँ, किन्तु जिसे मैंने स्वयं जाना, देखा और अनुभव किया है, वही कह रहा हूँ।" यह कहने पर कोई एक पुरुष आकर नन्दक से बोला—'भन्ते ! स्नान का समय हो गया।'

'अरे ! इस बाहरी स्नान से क्या, मैंने आध्यात्म स्नान कर लिया, जो भगवान् के प्रति श्रद्धा हुई।'

'बाहुका, अधिकक्क, गया, सुन्दरिका, सरस्वती, प्रयाग और बाहुमती नदी में काले कर्मवाला मूढ़ चाहे नित्य नहाये, किन्तु शुद्ध नहीं होगा। क्या करेगी सुन्दरिका और क्या प्रयाग तथा बाहुलिका नदियाँ करेंगी ? वह पापकर्मी को शुद्ध नहीं कर सकतीं।'

'धर्म जलाशय है, शील घाट है, जो निर्मल और सज्जनों से प्रशस्त है, जिसमें ज्ञानी पुरुष स्नान करते हैं, स्वच्छ गात्रवाले पार उतर जाते हैं।'

—संयुत्त निकाय ५३. ३. १०

नैरात्म्य का सौन्दर्य

भिक्षु एच० धम्मानन्द बी० ए०

सब वस्तुओं का अपना अपना स्वभाव होता है, लेकिन उनके अभाव का अभाव सिद्ध करने के लिए वह प्रमाण नहीं है जिस सांसारिक नियम को आजतक किसी भी शक्ति या व्यक्ति ने पलटा नहीं। वस्तुओं के अभाव को अभाव ही के तौर पर देखना चाहिए, पर वह अभाव-भी उनका स्वभाव ही है।

मनुष्य का अपनापन प्रायः उसकी सब बातों से विदित होता है। हमारा अपना जीवन अपना ही है, उसे हम अपनाते हैं और अपनाने का दावा भी करते हैं। परन्तु यह रहस्य स्पष्ट होने पर कि हम संसार में क्यों आये हैं, कहाँ से और कितने दिन के लिए, वह अपनाने का दावा अपने आप मिट जाता है।

मनुष्य अपने जीवनकाल में सब कुछ कर लेना चाहता है, दिनरात और प्रतिक्षण प्रयत्नशील रहता है यह प्रयत्न का सिलसिला तबतक बना रहता है, जबतक कि वह जीवन की चरम सीमा तक नहीं पहुँच सके।

जीवन की व्याप्ति और उसकी समाप्ति

क्या इस भेद-भाव को समझ लेने के लिए हमने प्रयत्न किया है? नहीं तो क्यों? हाँ, इनेगिने लोगों ने उसके लिए प्रयत्न किया और कदाचित् सफलीभूत भी हुए। पर क्या उनकी सफलता से हमें सान्त्वना मिली है? औरों की सफलता से हम कहाँ तक सफल हो सकते हैं? उन इनेगिने महात्माओं के महात्म्य से हम पर क्या असर पड़ा है? मनुष्य अपना गुरु आप ही है। वह उस आखिरी मुहूर्त में आखिरी सांस लेता हुआ, कुछ सीख भी लेता है। कैसे? जब जीवन की दीपशिखा बुझ जाने लगती है, तो वह हठात् विस्मित हो उठता है और जीवन की व्याप्ति का ख़्याल उसके हृदय से हट जाता है और उसकी समाप्ति पर विचार मग्न होता है, पर कितनी देर के लिए? शायद क्षणभर के लिए।

मनुष्य ने एक सामाजिक प्राणी के रूप में जन्म लेकर बुराई-भलाई दोनों की है। लाभ-अलाभ दोनों पाया है। सामाजिक-जीव होने में, उसका गर्व और गौरव भी है। समाजबद्ध होने में उसकी दासता भी है।

जब समाज-बद्ध व्यक्ति के आगे उससे निकल जाने की समस्या उपस्थित होती है, तो वह प्रायः विसंज्ञ (बेहोश) हो जाता है। मृत्यु-शय्या पर पहुँचने पर मनुष्य के यहाँ यह देखा जा सकता है कि समाज ने उसका मोह कितना बढ़ाया है, और कितनी ममता बढ़ाई है।

सेवक समाज का प्रेमी है, और समाज उसका प्रेम-पात्र। इस परस्पर प्रेम ने एक दूसरे के मोह को कितना बढ़ाया है, यह एक दूसरे से विदा हो जाने पर देखा जा सकता है।

सेवा महान आदर्श है, महान गुण है, पर महान मोहक भी है। सेव्य-वस्तु से अलिप्त रहकर सेवा करने की एक सूक्ष्म कला है, जिसमें "वैरागी" निपुण होते हैं। उस आखिरी निर्णय पर पहुँचकर वे अपने अन्तरात्मा को शान्ति प्रदान करने में समर्थ होते हैं।

वैराग्य ही उसके लिए अतुल्य साधन है। अतः वह हमारे लिए कितना आवश्यक है और कितना अनिवार्य, पर कितने सेवक वैरागी होते हैं, और क्या वैराग्य सेवा को अपनाने में है अथवा उसे छोड़ने में है?

यह ख्याल करके कि सामाजिक को किसी-न-किसी वक्त समाज-वञ्चित होना पड़ता है सेवा को छोड़ देना और एक वञ्चना है। लेकिन जो अपने सामाजिक-दावा से वञ्चित होकर के यहाँ से विदा हो गया है उसे क्या वञ्चना हो सकती है? वञ्चना सिर्फ उसी को है जो जीवित है। उसकी क्या वञ्चना हो सकती है जो समाज में है ही

नहीं ! यदि हो सके तो वह वञ्चना ही उसकी सान्त्वना भी है ।

सेवा आत्म-वञ्चना है, उससे आत्म-वञ्चना हो सकती है और होती ही है । तो क्या भगवान् बुद्ध इत्यादि जो महान सेवक व समाज सुधारक हुए हैं, वे समाज वञ्चित हुए ? नहीं, नहीं, वे वञ्चना से परे होकर वंचनीय सेवा को अवञ्चनीय सिद्ध कर दिये हैं, जो कि साधारण व्यक्ति के लिए असम्भव है, जिस दुर्बलता से वह भलाई से भी बुराई निकाल लेता है ।

सेवा बुरी नहीं है, पर सेवक जब उसपर गर्व करने लगता है तो बुराई आ जाती है । उसपर गर्व किये बिना उससे नहीं रहा जाता । यही है उसकी कमजोरी ।

धम्मपद में कहा गया है :—

"ममेव कतमञ्ञन्तु
गिही पब्बजिता उभो,
ममेव अतिवसा अस्सु
किच्चाकिच्चेसु किस्मिचि ।"

अर्थात् छोटे-मोटे सब काम में, गृहस्थ व प्रव्रजित दोनों का यह ख्याल होता है कि "यह मेरा ही काम है, और, लोग जानें कि यह मैंने ही किया है; जिस ख्याल से उनकी इच्छा और अभिमान बढ़ते ही जाते हैं ।

आत्म-समर्पण के स्थान पर आत्म-सम्मान । इसका उदाहरण सर्वत्र व्यापक है । आकांक्षा स्वाभाविक होती हुई भी बुरी है । उसी से मनुष्य अपनी कृतियों पर गर्व करता है । पर सेवा भी उसी से होती है जोकि एक सद्भावना का सद्परिणाम है । आकांक्षा से अपनी तरक्की भी होती है । उसी की प्रेरणा से मनुष्य उच्च से उच्च शिखर पर भी चढ़ पाता है । परन्तु उसमें ममता की गहरी छाप है जोकि मनुष्य को संसार को त्यागते समय सताती है । उससे कुछ प्राप्ति अवश्य होती है पर वह त्याग का महान शत्रु है ।

उस घटनापूर्ण क्षण, उस संकटमय परिस्थिति, अथवा उस जीवन-यात्रा के आखिरी पग पर, उसी की जीत हो सकती है जिसने कि अपना-अपनत्व सब बातों से परे होकर, उस अन्तिम प्रकार का जवाब देने के लिए अपने आत्मा को खाली कर लिया है । यही नैरात्म्य का यथार्थ प्रभाव है । यही है उसका सौन्दर्य ।

आध्यात्मिक कृषक

स्वामी ज्योतिर्मयानन्द सरस्वती

था घन घमंड घोषित अंबर,
झंझा झंकृत औ' प्रलयंकर ।
चंचल चपला अवरुद्ध दिशा,
तांडव करती थी काल निशा ॥
इक कृषक बैठ निज गृह अंदर,
निज कार्यों से उपरत होकर,
वातायन से था देख रहा,
काले बादल की घुमड़ अहा !
सहसा प्रकाश में दीख पड़ा,
इक श्रमण पात्र के साथ खड़ा,
थी उसकी अति दयनीय दशा ।
था सिक्त-वदन, थी शरद निशा ॥

निज जीवन को अति सुन्दर पा,
उसने व्यंगात्मक काव्य रचा—
"ओ बरस बरस कारे बादल !
रिमझिम रिमझिम अँधियारे बादल !!
मैंने जोत कोड़ कर क्षेत्र,
वपन कर सुन्दर सुन्दर बीज,
जुड़ाए अपने नीले नेत्र,
देख कर हरित कृषी सर्वत्र ।
धन धान्यपूर्ण मैं हूँ ललाम
कर्त्तव्य-व्रती मैं पूर्ण काम !
हाँ, बरस बरस कारे बादल !
रिमझिम रिमझिम अँधियारे बादल !!"

सुन कर व्यंगात्मक काव्य तभी
श्रमण ने भी झट कविता की—
"हाँ, बरस बरस कारे बादल!
रिमझिम रिमझिम अँधियारे बादल!!

मैंने जोत कोड़ कर क्षेत्र
वपन कर सुन्दर सुन्दर बीज
जुड़ाए अपने नीले नेत्र,
देख कर हरित कृषी सर्वत्र

निर्वाण प्राप्त मम बुद्ध नाम
कर्त्तव्य-व्रती मैं पूर्ण काम
ओ बरस बरस कारे बादल!
रिमझिम रिमझिम अँधियारे बादल!!

मेरा यह शरीर ही क्षेत्र
सद्गुण ही हैं वे सुन्दर बीज
ज्ञान ही हरित कृषी सर्वत्र
शान्ति ही सुधा-समन्वित नेत्र।

देने को चिर जीवन सुलाभ
दशबल मैं बुद्ध शुद्ध अमिताभ,
हाँ बरस बरस कारे बादल!
रिमझिम रिमझिम अँधियारे बादल!!"

सुन कर पवित्र अमिताभ नाम,
दौड़ कर आया किया प्रणाम।
श्रमण को देकर निज गृह-वास,
बुद्ध में पाया चिर विश्राम॥

धर्मचक्र-प्रवर्तन

सुश्री कुमारी विद्या

संसृति ने पाया था अभिनव मंगलमय मनुहार,
विहँस उठी थी मानवता या, भावुकता सुकुमार।
नील सुनील गगन में, मंजुल, उषा विहँसती आई,
तृण, वीरुध, लतिका-कुञ्जों में, एक छटा मनभाई।
कोयल कूक उठी, वर वरुणा भी जय जय ध्वनि गाई,
प्राणिमात्र की आह समझने, मानो थी करुणा साकार।

संसृति ने पाया था अभिनव मंगलमय मनुहार॥
करुणामय की करुणा ने थी फेरी धर्म दुहाई,
आये थे भवभार मिटाने, धरणी थी मुस्काई।
विश्व स्नेह की एक मधुरिमा, जन जन के मनभाई,
जीत गई सच्ची मानवता, गई निठुरता हार।
संसृति ने पाया था अभिनव, मंगलमय मनुहार॥

बौद्धधर्म का अनित्यवाद

श्री महेश तिवारी एम० ए०

भारतीय दर्शन के इतिहास में प्रारम्भ से ही ये दो विचार-धारायें समानरूप से प्रबल रही हैं कि विश्व की वस्तुस्थिति नित्य है या अनित्य। ये प्रश्न सदियों तक भारतीय विद्वानों के विचारणीय विषय बने रहे और युगों तक इनपर तरह-तरह से गवेषणायें होती रहीं। यद्यपि विद्वानों का यह प्रयास भी रहा कि बौद्धिक आधार पर इन दो धाराओं का मेल हो, पर कभी भी न मिलने वाली दो सामानान्तर रेखाओं की भाँति ये सदा एक सीध में ही चलती गई और उनके प्रयास एक मोड़ भर ही रहे जहाँ इनकी दूरी में कोई भी अन्तर नहीं आया।

पहली विचारधारा यानी "विश्व की वस्तुस्थिति नित्य है" का प्रारम्भ वैदिक युग से होता है। वैदिक युग से

लेकर उपनिषद् युग तक इस क्षेत्र में जो गवेषणायें हुईं उनमें सदा इस बात का प्रतिपादन किया गया कि विश्व की वस्तुस्थिति नित्य है और उसका स्वरूप ब्रह्म या आत्मा है। इस तरह यह विचारधारा १८ वीं शताब्दी ई० पूर्व से लेकर चौथी शताब्दी ई० पूर्व तक चलती रही।

दूसरी विचारधारा यानी "विश्व की वस्तुस्थिति अनित्य है" का प्रारम्भ पाँचवीं शताब्दी ई० पूर्व से होता है। इस शताब्दी के मध्य में भगवान् बुद्ध इस ओर अग्रसर होते हुए दिखायी देते हैं और उन्होंने ही सर्वप्रथम नित्यवाद का खण्डन कर उसके समकक्ष अनित्यवाद का निरूपण किया।

भगवान् बुद्ध के इस अनित्यवाद का यह अर्थ है कि विश्व की कोई भी वस्तु नित्य यानी स्थायी नहीं है। प्रत्येक वस्तु अनित्य यानी पल-पल परिवर्त्तित है। इसका स्वरूप वास्तव में उस बहते हुए झरने की तरंग की भाँति है जहाँ पल-पल सृजन और विनाश का क्रम एक अनवरत भाव लिए हुए जारी रहता है यानी एक लहर उठती है, विलीन होती है और विलीन होकर पुनः एक दूसरी लहर का सृजन करती है। यहाँ क्षण भर के लिए भी स्थिरता नहीं, बल्कि सदा निर्झरता है।

ठोस उदाहरण से हम इस बात को इस तरह समझ सकते हैं। देखा जाता है कि एक भवन बनता है, कुछ दिनों के बाद जीर्णता के चिह्नों से युक्त हो जाता है और एक दिन ऐसा भी आता है कि उसके उत्तुंग कंगूरे धूल के कणमात्र ही रह जाते हैं। अब प्रश्न उठता है यह क्यों? और उत्तर में यही कहा जा सकता है कि विश्व की प्रत्येक चीज अनित्य है। एक क्षण के लिए भी उस निर्मित भवन में नित्यता नहीं रही। उसके निर्माण के साथ ही विनाश का क्रम भी आरम्भ हो गया और अनवरत गति से जारी रहा।

इसी तरह विश्व की सभी वस्तु, पेड़, पौधे, जीव जन्तु आदि के साथ यह क्रम सदा जारी रहता है। हम रोज वाटिका में नये पौधों को उगते, लहलहाते और कुछ ही दिनों में उन्हें धूलिकण में मिलते देखते हैं। इनका यह रूप अनित्य भाव का ही परिचायक है।

मनुष्य भी इस प्रवाह से अछूता नहीं रहा है। एक दिन हम एक बच्चे को पालने पर देखते हैं—फिर वह युवक के रूप में हमें दिखायी पड़ता है और एक दिन वह रूप भी हमारे सामने आता है जब वह अस्थियों का जर्जर पञ्जर मात्र ही रह जाता है। अब हम विचारें तो यही पायेंगे कि विश्व के इन विभिन्न रूपों में जो चीज सामान्य भाव से निहित है वह अनित्य-भाव ही है।

इस तरह विश्व की वस्तुस्थिति वस्तुतः तथा मूलतः अनित्य है, पर हम अज्ञानवश इसे इस रूप में नहीं देखते। इसे इस रूप में नहीं देखने के कारण जो हमारी भ्रामक धारणायें बनती हैं उनमें वस्तु और समय मुख्य हैं।

ऐसा देखा जाता है कि हम अपने काम में आनेवाली चीजों के स्थायी रूप मान लेते हैं। आज से बीस वर्ष पहले खरीदी हुई साइकिल को हम सदा यही कहा करते हैं कि यह वही साइकिल है जिसे मैंने अमुक वर्ष खरीदा था। ऐसे कथन के साथ हम बिल्कुल भूल जाते हैं कि इस बीस वर्ष की अवधि ने उस साइकिल के साथ कई बार सृजन और विनाश के नाटक खेले और अब भी वह नाटक जारी है। यानी इस बीस वर्ष की अवधि में कई बार उसके तमाम कल पुर्जे बदल दिये गये, कई बार उसमें रंग चढ़ाया गया; फिर भी हम उसे वही साइकिल कहते हैं तथा उसे स्थायी ही बतलाते हैं। मनुष्य के इसी स्थायीकरण को तदात्मीकरण करना कहते हैं।

इस तदात्मीकरण भाव के आने के साथ ही समय सम्बन्धी भ्रामक धारणा का जन्म होता है। हम कहा करते हैं कि अमुक चीज कल थी, आज है और कल रहेगी और इसीको भूत, वर्त्तमान, तथा भविष्य काल का रूप देते हैं। पर विचार करें कि कौन चीज कल थी, आज है और कल रहेगी, तो कोई चीज भी ऐसी नहीं ठहरती है। अनित्यता के प्रवाहमय स्वरूप में जिस क्षण जो चीज कल थी वह आज न वही रही न कल वही रहेगी। आज और कल की तो अवधि लम्बी है—आज के ही किसी तीन क्षण में वह वस्तु अन्तर और बाह्य दोनों रूप से कई बार परिवर्त्तित हो उठती है। यानी वह एक क्षण के लिए भी एक रूप में स्थिर नहीं रह पाती। इस तरह वस्तुस्थिति के प्रवाहमय रूप में भूत, वर्त्तमान और भविष्य की कल्पना बिल्कुल निराधार है।

अब प्रश्न उठता है कि इस अनित्यता का स्वरूप क्या है ? इसे हम कैसे व्यक्त कर सकते हैं। उत्तर के लिए हम एक ठोस उदाहरण ले सकते हैं। हम रात को सात बजे कटोरे में भरकर दूध रखते हैं और सुबह सात बजे वह दही बन जाता है। अब हम देखें कि दूध कब तक दूध था और कब दही बन गया—रात को आठ बजे, या दस बजे या बारह बजे या सुबह सात बजे। पर कोई भी निश्चयात्मक उत्तर नहीं पाते हैं। रातभर आँख गड़ाये देखते रहने पर भी हम नहीं कह सकते कि दूध अमुक क्षण तक दूध था और अमुक क्षण में दही हो गया, पर यह स्पष्ट है कि दूध अब दूध नहीं रहा बल्कि दही हो ही गया है। इसलिए हम यही कहेंगे कि ऐसा कोई भी क्षण नहीं है जिसमें दूध, दूध रहा और दूसरे में दही बन गया पर परिवर्त्तन का प्रवाहमय क्रम दूध रखने के साथ-साथ जारी हो गया और लगातार जारी रहा तथा अभी भी जारी है। इसमें हम कोई भी समय का निश्चित विन्दु नहीं मान सकते हैं जिसमें दूध का एक स्थिर रूप रहा। अतः अनित्यता के स्वरूप के सम्बन्ध में कोई भी ठोस उक्ति नहीं दी जा सकती है।

जब विश्व की वस्तुस्थिति ऐसी है तो दूसरा प्रश्न यह उठता है कि "मैं" क्या है ? यह प्रश्न बौद्ध दर्शन में अक्सर आ जाने वाला प्रश्न है और प्रश्नोत्तर के क्रम में कई बार यह कई स्थानों में पूछा जाता हुआ दिखायी पड़ता है। "मिलिन्द प्रश्न" नामक पुस्तक में भी सम्राट् मिलिन्द स्थविर नागसेन से पूछता है कि "मैं क्या हूँ"। साथ ही इसके समाधान में तरह तरह की ठोस एवं व्यावहारिक उपमायें हमें देखने को मिलती हैं।

हम भी ऐसे ही ठोस उदाहरणों के सहारे विचारें कि इसका उत्तर क्या है। उदाहरण स्वरूप ये तीन वाक्य लें—"मैं कलकत्ता आया, मैं सोच रहा हूँ, मैं भाषण दे रहा हूँ"। पहले उदाहरण की वस्तु पर विचार करने से पता चलता है कि "मैं" शब्द शरीर का द्योतक है क्योंकि शरीर ही कहीं जा सकता है। दूसरे उदाहरण में "मैं" शब्द मन की ओर निर्देश करता है क्योंकि सोचने का काम मन का है और तीसरे उदाहरण में "मैं" का प्रयोग शरीर और मन दोनों के लिए आया है क्योंकि भाषण करना मन और शरीर दोनों का काम है। इस तरह हम कह सकते हैं कि "मैं" मन तथा शरीर दोनों का सम्मिश्रण मात्र है जिसे पारिभाषिक शब्दों में 'नामरूप' कहते हैं। अब यहाँ पहुँचकर हम यह पूछें कि यह नामरूप का अपना कोई स्वतन्त्र एवं स्थायी स्वरूप है या नहीं, तो फिर वही उत्तर मिलेगा कि नहीं। यहाँ भी अनित्यता का प्रवाहमय रूप ज्यों का त्यों है और एक क्षण के लिए भी ये एक किसी रूप में नित्य नहीं हैं, बल्कि पल पल परिवर्त्तित एवं अनित्य हैं।

'बोधिसत्व' की मूल-भावना

श्री वाई० क्रिशन

बौद्धधर्म के विद्वानों ने 'बोधिसत्व' शब्द की विभिन्न व्याख्या की है। बौद्ध साहित्य में यह शब्द दो रूपों में व्यवहृत हुआ है—(१) अनेक बार जन्म लेकर अपने परम ध्येय की प्राप्ति करनेवाला बोधि (= परमज्ञान) का आकांक्षी सत्व, और (२) मानवमात्र के लिए निर्वाण-सुख को त्यागने वाला बोधिसत्व-महासत्व। प्रथम रूप की तुलना गौतम बुद्ध की उस अवस्था से की जा सकती है, जब कि वे बुद्ध होने के लिए अनेक जन्मों से प्रयत्नशील थे तथा द्वितीय रूप की समानता ज्ञान-प्राप्ति के उपरान्त भगवान् बुद्ध से की जा सकती है, जब कि उन्होंने मनुष्य-मात्र को कष्टों से छुटकारा दिलाने के लिए साधन बतलाने में निर्वाण-सुख को भी त्याग दिया था।

प्रथम प्रकार के बोधिसत्व उस प्रकार के व्यक्ति हैं जो अर्हत् नहीं हुए हैं, किन्तु भविष्य में निर्वाण प्राप्त

करेंगे अथवा वे लोग जो एक साधारण पृथक्-जन की भाँति हैं, किन्तु बुद्धत्व-प्राप्ति के लिए दृढ़ संकल्प किए हुए हैं और बुद्धत्व प्राप्त करके ही रहेंगे। महायान ग्रन्थ बोधिसत्व भूमि और महायान सूत्रालंकार के अनुसार पारमिताओं का अभ्यास करते हैं, किन्तु दूसरे प्रकार के बोधिसत्व बोधि (= परम ज्ञान) को प्राप्त करने का ही अभ्यास करते हैं। बोधिसत्व-महासत्व धर्म-प्रचार तथा शिक्षा द्वारा सत्वों के ज्ञान-परिपाक का अभ्यास करते हैं और ज्ञान प्राप्त करनेवालों की भलाई के लिए इच्छानुसार कभी भी जन्म ले सकते हैं। यदि वे ऐसा नहीं करते, तो वे केवल प्रत्येक बुद्ध हैं, जो स्वयं ज्ञान प्राप्त कर धर्मोपदेश नहीं देते।

बोधिसत्व के सामान्य विचार की मूल-भावना वस्तुतः एक गूढ़ विषय है। भगवान् बुद्ध ने निर्वाण प्राप्ति के उच्चादर्श का उपदेश दिया था, जिसे चौथी अवस्था में प्राप्त किया जा सकता है। यथा, एक भिक्षु प्रयत्न करके अर्हत् हो सकता है। अर्हत् की अवस्था ही चौथी अवस्था है। इसी अवस्था में निर्वाण की प्राप्ति होती है। यद्यपि अर्हत् पूर्ण ज्ञानी होता है, तथापि वह बुद्ध की भाँति ज्ञानी नहीं होता। अर्हत्व-प्राप्ति का ध्येय कुछ समय में बुद्धत्व-प्राप्ति में परिवर्तित हो गया, जो कुछ समय में बोधिसत्व-भाव के आदर्श को जन्म दिया।

भगवान् बुद्ध के परिनिर्वाण के सौ वर्ष बाद 'बुद्धत्व' के भावों में मतभेद उत्पन्न हुआ था। वज्जीपुत्र-भिक्षुओं ने दस विनय-विरोधी बातों को ग्रहण किया था, जिनका विरोध स्थविरवादी भिक्षुओं ने किया था। इसके उत्तर में पराजित भिक्षुओं ने एक महासम्मेलन किया, जिसमें स्थविरवादी भिक्षुओं के उच्च होने को चुनौती दी गई थी। उस समय महासांघिक भिक्षुओं ने इस बात पर जोर दिया कि अर्हत् लालच, अज्ञानता तथा विचिकित्सा (= शंका) से मुक्त नहीं होते और सत्य को समझने के लिए उन्हें पथ-प्रदर्शन की और आवश्यकता होती है। इस मत का स्थविरवादी भिक्षुओं ने सर्वथा विरोध किया और कठोर तथा कड़े कदम रखते हुए किया।

स्थविरवादी भिक्षु मानते थे कि बुद्ध मनुष्य मात्र से बड़े थे और उनके गुण भी सर्वोपरि थे। महासांघिकों ने पीछे भगवान् बुद्ध के ही मार्ग को अपना आदर्श बनाया और बुद्धत्व-प्राप्ति को ही अपना परम ध्येय निश्चित किया। इस आदर्श की प्राप्ति में महासांघिक भिक्षु बोधिसत्व तथा बुद्धयान (=बुद्ध-मार्ग) के अनुगामी बने, जो स्थविरवाद-विचार-धारा के बिल्कुल विरुद्ध था। अब, अर्हत् लोग श्रावकयान के अनुगामी माने जाने लगे।

इस बात का कोई निश्चित प्रमाण नहीं है, केवल अनुमान मात्र ही है कि साम्प्रदायिक शास्त्रार्थियों ने अर्हत्व के स्थान पर बुद्धत्व को स्थान दिया। महासांघिकों द्वारा अर्हतों की सामाजिक स्थिति को धक्का देने पर स्थविरवादियों ने इसका बदला बुद्ध के अलौकिक चरित्र को चुनौती देते हुए लिया, फिर भी वे स्वयं बुद्ध को अद्वितीय समझते थे।

हम लोगों को वसुमित्र के वर्णनों से ज्ञात होता है कि महासांघिक भिक्षु इस बात का दावा करते थे कि बुद्ध इन अलौकिक गुणों से सम्पन्न होते हैं—(१) बुद्ध की सभी देशना विनय से सम्बन्धित होती है। (२) बुद्ध एक वचन में सिद्धान्त की व्याख्या कर सकते हैं। (३) बुद्ध सत्य के विरुद्ध कोई उपदेश नहीं देते। (४) बुद्ध अनन्त हैं। सर्वास्तिवादियों ने बुद्ध के इन गुणों को अस्वीकार किया। उन्होंने कहा कि भगवान् के सभी धर्मोपदेश पूर्ण नहीं हैं। यह उनके मूल सिद्धान्तों का एक अंग है, जिसको उस निकाय के सब लोग मानते थे। दूसरे शब्दों में हम कह सकते हैं कि वे महासांघिकों के विरुद्ध मानवीय बुद्ध को मानते थे।

अर्हत् की सामाजिक स्थिति तथा इसके फलस्वरूप यानों की सम्बन्धित श्रेष्ठता का विवाद पिछले इतिहास में भी आता है जो कि बोधिसत्व के सामान्य विचार की उत्पत्ति के विषय में हम लोगों के समर्थन की पुष्टि करता है।

कनिष्क के समय में हुई चौथी संगीति के सम्बन्ध में हुएनसांग कहता है कि उस संगीति में केवल ४९९ अर्हत् थे। वसुमित्र की गणना इसमें नहीं थी, क्योंकि वे अर्हत् नहीं थे। वसुमित्र के सम्बन्ध में प्रचलित यह कथा आनन्द की याद दिलाती है जो कि अर्हत्व न प्राप्त करने पर भी ४९९ अर्हत् भिक्षुओं के साथ प्रथम संगीति के

लिए निर्वाचित हुए थे। प्रथम दो संगीतियों की तरह कनिष्क की संगीति केवल अर्हतों तथा स्थविरों की संगीति जान पड़ती है, जो धर्म की चिरस्थिति एवं संशोधन के लिए हुई थी।

महायान सूत्र सद्धर्म पुण्डरीक में कट्टरपंथियों की खुली निन्दा की गई है, जब कि एक ओर बुद्ध के अलौकिक चरित्र पर विश्वास करने पर अधिक जोर दिया गया है।

श्रावक, प्रत्येक बुद्ध और बोधिसत्वों को नियम की व्याख्या करते हुए सद्धर्म पुण्डरीक में भगवान् बुद्ध ने कहा है कि यह अगाध सूक्ष्म तथा गूढ़ है। इसके बाद भगवान् पूछते हैं—"बोधिसत्वों के सिवाय कौन ऐसे हैं जिन्हें यह नियम बताया जा सकता है तथा दूसरे कौन इसको समझ सकते हैं।" श्रावकयान और प्रत्येक बुद्धयान की श्रेष्ठता पर अधिक जोर दिया गया। श्रावकयान और प्रत्येक बुद्धयान, भगवान् बुद्ध द्वारा अपनाये श्रावकों एवं प्रत्येक बुद्धों को सत्य-पथ पर ले जाने के दो उपाय हैं। कहते हैं यह बात श्रावकों और प्रत्येक बुद्धों को पसन्द न आई, इसलिए पाँच हजार आत्माभिमानी स्त्री-पुरुष एवं भिक्षुओं ने एक साथ अपने स्थान, से उठ सभा का त्याग किया। तब भगवान् बुद्ध ने सारिपुत्र से कहा—'हे सारिपुत्र! मेरा शासन तृण सदृश व्यक्तियों से बिल्कुल परिशुद्ध हो गया है। यह अचल श्रद्धा पर स्थित है। सारिपुत्र! यह उत्तम है कि अभिमानी लोग चले गये। सारिपुत्र! अर्हत् तथा प्रत्येकबुद्ध जो भी तथागत की बात नहीं सुनते हैं और न समझने की कोशिश करते हैं, वे न तथागत के शिष्य, न अर्हत् और न प्रत्येक बुद्ध ही माने जाने चाहिए। फिर सारिपुत्र! यदि कोई स्त्री-पुरुष-भिक्षु ऐसा हो, जो अर्हत् बनने का बहाना करता है तथा यह कहता है कि वह बुद्धयान से बहुत आगे है तथा निर्वाण प्राप्त करने के निकट है, तो उसे पूर्ण स्वार्थी समझो। सारिपुत्र! यह बिल्कुल अनुचित है कि एक भिक्षु तथा निर्दोष अर्हत् तथागत के सामने उनसे सुनी हुई बातों पर विश्वास न करे।"

सारिपुत्र ने कहा—"भगवान् आपसे सुनने से पहले मैंने बोधिसत्वों को देखा और सुना कि यही बोधिसत्व भविष्य में बुद्ध कहलायेंगे। मैं तथागत के ज्ञानरूपी अमर-ज्योति से वंचित रह अत्यन्त दुःखी हुआ। किन्तु हे भगवन्! आज मैंने आपके उपदेशों के अनुसार चलकर अपने सभी दुःखों का अन्त कर लिया है। आज मैं शान्त हो गया हूँ। आज मैंने अर्हत्व को पा लिया है। फिर जन्म लेना नहीं है।"

सारिपुत्र ने यह भी कहा—"जब मैंने पहले भगवान् की आवाज को सुना तो यह समझ कर कि कहीं यह बुद्ध के वेष में मार न हो, अधिक भयभीत हुआ, लेकिन जब बुद्ध की अजेय बुद्धि का प्रकाश हुआ तब मुझे विश्वास हुआ कि यह मार नहीं है। यह तो विश्व के भगवान् हैं जिन्होंने सत्य-मार्ग दिखलाया है। कोई मार इनके पास नहीं रह सकता।

सद्धर्मपुण्डरीक के पुराने इक्कीस अध्याय मुख्यतः बुद्ध पर ही लिखे गये हैं। कमल की उपमा के अनुसार प्रत्येक को बुद्ध बनने की कोशिश करनी चाहिए। लेकिन, बाद के संस्करणों में, जो लगभग २५० ई० में हुए, उनमें केवल बोधिसत्व के ही विषय में अधिक है। महावस्तु में अतीत के बुद्धों के बोधिसत्व जीवन का वर्णन ही है। यद्यपि इसमें भविष्य के बुद्ध मैत्रेय का भी प्रसंग मिलता है। बोधिसत्व मैत्रेय का पूर्ण वर्णन सद्धर्मपुण्डरीक में मिलता है। महावस्तु में बोधिसत्व के जीवन का वर्णन अव्यवस्थित तथा अपूर्ण रूप से मिलता है। इसी प्रकार भूमियों का वर्णन शतसाहस्रिका प्रज्ञापारमिता में अव्यवस्थित रूप में है। केवल बोधिसत्व भूमि और दशभूमिश्वर सूत्र में भूमियों का पूर्ण वर्णन मिलता है। हम लोग डा० हरदयाल से इस बात में सहमत हैं कि महावस्तु और शतसाहस्रिका प्रज्ञापारमिता में भूमियों के धर्म-विकास की आरम्भिक अवस्था का ही वर्णन है, इसलिए यह मानना पड़ता है कि बोधिसत्व का जीवन बाद में ही महत्त्व प्राप्त किया।

अनु०—केशवप्रसाद ठाकुर एम० ए०

भगवान् बुद्ध के सन्देश की आवश्यकता

श्री विनोबा भावे

बुद्ध भगवान् ने दुनिया के लिए जो सन्देश दिया था, वह सन्देश अपने जीवन से उन्होंने निर्माण किया था और वह सन्देश उन्होंने जिस समय दिया उस समय सारी दुनिया के साथ हिन्दुस्तान का विशेष सम्बन्ध नहीं था। उस समय दुनिया को उस सन्देश की उतनी आवश्यकता नहीं थी, लेकिन आज उस सन्देश की आवश्यकता सारी दुनिया को है। वह सन्देश क्या है? वह सन्देश—वैर से वैर नहीं मिटेगा, क्रोध से क्रोध नहीं जायेगा, झूठ से झूठ नहीं नष्ट होगा। वैर से वैर बढ़ेगा और क्रोध से क्रोध सुलगेगा। इसलिए वैर का मुकाबला प्रेम से ही करना होगा। क्रोध का मुकाबला शान्ति से करना होगा और असत्य का मुकाबला सत्य से ही करना होगा।

यह सन्देश उन्होंने दुनिया को दिया। इस सन्देश की दुनिया को इस वक्त तो सख्त जरूरत है। आज दुनिया में असमाधान है, शान्ति नहीं है। उसी की तलाश में सारी दुनिया है, लेकिन वह मिलती नहीं है। सारी दुनिया में कशमकश चल रही है। परस्पर भय बढ़ रहा है। कम ज्यादा ताकतवाले सारे देश एक दूसरे से भयभीत हैं। छोटे-छोटे देश तो खैर, डरते ही हैं, लेकिन अमेरिका और रूस जैसे बड़े देश भी डरते हैं। इतनी भयभीत दशा में दुनिया कभी नहीं थी। विविध देशों को एक दूसरे का ज्ञान भी नहीं था, तो डरने की बात अलग रही। लेकिन आज दुनिया के किसी एक कोने में एक छोटी-सी हलचल होती है तो सारी दुनिया पर उसका असर हो जाता है। यह हालत विज्ञान से हुई है। विज्ञान का परिणाम यह होगा कि मानव जाति हिंसा और वैर बढ़ाकर जल्द से जल्द अपना खात्मा कर लेगी, या हमको अक्ल आयेगी और हिंसा के दुष्ट चक्र से मानवता मुक्त होगी। अब बीच की हालत नहीं रहेगी। इसलिए बुद्ध भगवान् के निर्वैरता के सन्देश की जरूरत है।

लुम्बिनी

श्री विजय श्रीवास्तव

बुद्ध की जन्म-भूमि

महामाया देवी पात्र में तेल की भाँति, बोधिसत्व को दस माह कोख में धारण कर गर्भ के परिपूर्ण होने पर, नैहर (पीहर) जाने की इच्छा से शुद्धोधन महाराज से बोलीं—"देव! अपने पिता के कुल के देवदह-नगर को जाना चाहती हूँ"। राजा ने "अच्छा" कह, कपिलवस्तु से देवदह-नगर तक के मार्ग को केला, पूर्ण घट, ध्वज, पताका आदि से अलंकृत करा, देवी को सोने की पालकी में बैठा, एक हजार अफसर तथा परिजनों के साथ भेज दिया।

दोनों नगरों के बीच में, दोनों ही नगरवालों का लुम्बिनी वन नामक एक मंगल शाल-वन था। उस समय (वह वन) मूल से लेकर शिखर तक फूला हुआ था। फूलों और डालियों पर पाँच रंगों के भ्रमर, और नाना प्रकार के पक्षी मधुर स्वर से कूजन करते विचर रहे थे। सारा लुम्बिनी-वन चित्रलता वन जैसा, प्रतापी राजा के

सुसज्जित बाजार जैसा (जान पड़ता) था। उसे देख, देवी के मन में शाल-वन में सैर करने की इच्छा हुई। अफसर लोग देवी को ले, शाल-वन में प्रविष्ट हुए। वह एक सुन्दर शाल के नीचे जा, उस शाल (=साखू) की डाल पकड़ना चाहती थी। शाल-शाखा अच्छी तरह सिद्ध किये बेंत की छड़ी के नोक की भाँति मुड़कर देवी के हाथ के पास आ गयी। उसने हाथ फैला शाखा पकड़ ली। उस समय उसे प्रसव-वेदना आरम्भ हुई। लोग (इर्द गिर्द) कनात घेर (स्वयं) अलग हो गये। शाल-शाखा पकड़े खड़े ही खड़े, उसे गर्भ-उत्थान हो गया। उस समय शुद्धावास से चार महाब्रह्म सोने का जाल (हाथ में) लिये हुए पहुँचे, और जाल में बोधिसत्व को लेकर माता के सम्मुख रखकर बोले—"देवी ! सन्तुष्ट हो, तुम्हें महा-प्रतापी पुत्र उत्पन्न हुआ है।"

बोधिसत्व धर्मासन से उतरते धर्मोपदेशक के समान, सीढ़ी से उतरते पुरुष के समान, दोनों हाथ और पैर पसार खड़े मनुष्य के समान, माता की कोख की मल से बिल्कुल अलिप्त,...मणिरत्न के समान चमकते हुए माता की कोख (पार्श्व) से निकले।

तब चारों महाराजाओं ने उन्हें सुवर्ण जाल में लिये खड़े ब्रह्माओं के हाथ से लेकर कोमल मृगचर्म में ग्रहण किया। उनके हाथ से मनुष्यों ने दुकूल के करण्ड में ग्रहण किया। मनुष्यों के हाथ से छूटकर (बोधिसत्व ने) पृथ्वी पर खड़े हो, पूर्व दिशा की ओर देखा।...... बोधिसत्व ने चारों दिशाओं, चारों अनुदिशाओं, नीचे-ऊपर दसों दिशाओं का अवलोकन कर अपने जैसा किसी को न देख उत्तर की ओर सात पग गमन किया। उस समय महाब्रह्मा ने श्वेत छत्र धारण किया, सुयाम ने ताल-व्यजन और अन्य देवताओं ने राजाओं के अन्य ककुध-भाण्ड (खड्ग, छत्र, पगड़ी, पादुका और व्यजन) हाथ में लिये। सातवें पग पर पहुँच—'मैं संसार में श्रेष्ठ हूँ, यह मेरा अन्तिम जन्म है फिर जन्म लेना नहीं है" कहते हुए सिंहनाद किया।

उस दिन पुष्य नक्षत्र प्रसन्न था और वैशाख की धवल-पूर्णिमा अपने पूर्ण प्रकाश को अनन्त अन्तरिक्ष में बिखेरती हुई खुशी से प्रफुल्लित थी।

चन्द्र-किरण सदृश दो जलधाराएँ, शीतल और उष्ण, आकाश से स्रवित हुईं और शरीर स्पर्श कर सुख देने के लिए बालक के सौम्य मस्तक पर गिरीं।...अदृश्य देवताओं ने उसके प्रभाव से शिर झुकाकर आकाश से श्वेत आतपत्र धारण किया और उसके बुद्धत्व-प्राप्ति के लिए उत्तम आशीर्वाद दिये। जिन्होंने अतीत के बुद्धों की सेवा की थी, उन बड़े-बड़े सर्पों ने धर्म-विशेष की प्यास से उसके ऊपर व्यजन डुलाये और भक्ति के कारण अपनी विलक्षण आँखों से देखते हुए मन्दार पुष्प छींटे।... बिना सुलगाये ही आग सौम्य शिखाओं के साथ प्रज्ज्वलित हुई। आवास भूमि की उत्तर-पूर्व दिशा में स्वच्छ जल के कूप का आप ही आप प्रादुर्भाव हुआ। जहाँ विस्मित अन्तःपुरवासियों ने उसी प्रकार क्रियाएँ कीं जिस प्रकार तीर्थ में।... दिव्य प्राणियों से वह वन भर गया, उन्होंने पेड़ों से भी अकाल में ही फूल गिराये। विघ्नकारी प्राणी एकत्र हुए और उन्होंने एक दूसरे को क्लेश नहीं दिया। मानव-जाति के तमाम रोग अनायास ही दूर हो गये।...गगन में देव-दुन्दुभियाँ बजीं।

स्थिति

मानव-जाति के दुःखों के मूल कारण को पता लगाकर उसके कल्याण के लिए निर्वाण रूपी अमृत को पाकर जिस युग पुरुष ने उसकी एक-एक बूँद से संसार के सभी प्राणियों को पवित्र किया और उस मार्ग को बतलाया जिसपर चलने से मनुष्य उसी अमृत को पा सकता है जिसे स्वयं उन्होंने पाया था, उसकी जन्मभूमि लुम्बिनी का जबतक पता न चला, शताब्दियों तक कल्पना का ही विषय बना रहा। इन कल्पनाओं के आधार प्राचीन धर्म-ग्रन्थ तथा चीनी यात्रियों के यात्रा-वर्णन ही थे।

पश्चिमी नेपाल राज्य के बुटवल जिले में वर्त्तमान रुम्मिनदेई नामक उजाड़ निर्जन स्थान पर दिसंबर १८९६ ई० सन् में एक महत्वपूर्ण अशोक स्तम्भ की खोज ने लुम्बिनी के सम्बन्ध में सभी प्रचलित भ्रमों को दूर कर दिया। इस स्तम्भ पर खुदे लेख के ही द्वारा संसार के लिए यह सम्भव हुआ कि वह महामानव भगवान् गौतम बुद्ध के जन्म-स्थान पर अपनी श्रद्धा के पुष्प

पढ़ा सके। खोज के समय लेख पृथ्वी में तीन फीट नीचे दबा पड़ा था। स्तम्भ-लेख ब्राह्मी लिपि में पाँच पंक्तियों में है :—

(१) देवानं पियेन पियदसिन
लाजिन वीसतिवसाभिसितेन
(२) अतन अगाच महीयिते [।]
हिद बुद्धे जाते सक्यमुनीति
(३) सिलाविगडभीचा कालापित
सिलाथभे च उसपापिते [।]
(४) हिद भगवं जातेति लुंमिनिगामे उबलिके कटे
(५) अठ भागिये च [।]

भावार्थ—देवताओं के प्रिय प्रियदर्शी राजा ने राज्याभिषेक के २० वर्ष बाद स्वयं यहाँ आकर (इस स्थान की) पूजा की। यहाँ शाक्यमुनि बुद्ध का जन्म हुआ था, इसलिए यहाँ पत्थर की एक प्राचीर स्थापित की गई, और पत्थर का एक स्तम्भ खड़ा किया गया। यहाँ भगवान् जन्मे थे, इसलिए लुम्बिनी ग्राम का कर उठा दिया गया, और (उपज का) आठवाँ भाग भी (जो राजा का हक था) उसी ग्राम को दे दिया गया।

चीनी यात्रियों के वर्णन

फाहियान का वृत्तान्त इतिहास की दृष्टि से बहुत ही महत्वपूर्ण है। विशेषतः इस बात को ध्यान में रखते हुए कि जब वह भिक्षु भारत आया था, बौद्धधर्म की अवस्था बहुत ही चिन्तनीय थी। वह लिखता है:—"(कपिलवस्तु) नगर से ५० ली दूर राजकीय उद्यान पड़ता है जिसको लोग लुनमिंग कहते हैं। राजमहिषी तालाब में स्नान कर उसके उत्तरी द्वार से बाहर आयीं, तत्पश्चात् बीस कदम चलीं और शालवृक्ष की डाल को पकड़ पूर्व की ओर मुख करके खड़ी हो गयीं और राजकुमार को जन्म दिया। पृथ्वी पर गिरते ही राजकुमार ने सात पग रखा। दो सर्पराजों ने उसके शरीर को धुलाया। इस स्थान पर लोगों ने एक कूप निर्माण कराया है तथा साधु लोग उस तालाब और कूप से जल निकाल कर पीते भी हैं।......अनन्त काल से पूर्व में हुए और आनेवाले सभी बुद्धों के चार स्थान निश्चित होते हैं—संबोधि प्राप्ति का स्थान, धर्मचक्र-प्रवर्तन का स्थान; उपदेश करने का स्थान तथा तुषित स्वर्ग से जहाँ वे अपनी जननी को धर्म का उपदेश करने जाते हैं, पृथ्वी पर पुनः आगमन का स्थान।......कपिलवस्तु का राज्य बिल्कुल उजाड़ है, बस्ती बिखरी है और जंगली हाथी, बाघ आदि पशु सड़कों पर फिरा करते हैं। जिससे चलनेवालों को बड़ी होशियारी बर्तनी पड़ती है। भगवान् बुद्ध के जन्म स्थान से पाँच योजन पूर्व की ओर चलने पर रामग्राम राज्य आता है।"

बड़े आश्चर्य की बात है कि इस भिक्षु यात्री ने अन्य महत्व के स्थानीय स्थलों का परिचय बिल्कुल ही नहीं दिया है और अशोक स्तम्भ को भी लिखना भूल गया।

हुएनसांग ने फाहियान के दो सौ साल बाद भारत-यात्रा की थी। उसने अधिक विस्तृत और सुन्दर वृत्तान्त लिखा है। उसके अनुसार लुम्बिनी-वर्णन का सारांश इस प्रकार है :—

"सरकूप से लगभग अस्सी-नब्बे ली (१३-१५ मील) उत्तर-पूर्व की ओर तथा तैल नदी के किनारे लुम्बिनी नामक उद्यान स्थित है। यहीं पर शाक्यों की प्रसिद्ध पुष्करिणी भी है। इसी पुष्करिणी के पूर्व की ओर लगभग २४-२५ पग के अन्तर पर एक विशाल अशोक वृक्ष था जो अब नष्ट हो गया है। इसी स्थान पर बुद्ध का जन्म हुआ था।...इसी के पूर्व की ओर राजा अशोक द्वारा निर्मित स्तूप भी है। यह वही स्थान है जहाँ पर दो नाग राजाओं ने आकाश में स्थिर होकर बोधिसत्त्व को स्नान कराया था।...इस विशाल स्तूप के पूर्व में शुद्ध जल के दो सोते भी हैं और दो स्तूप भी। यह वही स्थान है जहाँ दोनों नागराज भूमि से निकले थे तथा इस स्थान से दक्षिण की ओर वह स्थल है जहाँ पर शक्र ने नवजात राजकुमार को उठाकर अपने अंक में ग्रहण किया था और उसे दिव्य वस्त्रों से अलंकृत किया था।...इसी स्थल के निकट ही चार और स्तूप बने हुये हैं जो उस स्थान की ओर संकेत करते हैं जहाँ पर चारों दिशाओं के महाराजाओं ने बोधिसत्त्व को गोद में लिया था। इन्हीं स्तूपों से कुछ ही अन्तर पर एक पत्थर का ऊँचा स्तम्भ

भी था जिसके ऊपर अश्व की एक मूर्ति बनी थी। यह स्तम्भ अशोक राजा का बनवाया हुआ था। अनन्तर एक दुष्ट नाग के उपद्रव के कारण वह बीच से फट गया। इस स्तम्भ के पास ही एक छोटी सी नदी बहती है जिसका निर्माण कहा जाता है देवताओं ने बुद्ध-जननी के स्नान के लिये किया था।"

अशोक की लुम्बिनी-यात्रा

दिव्यावदान में अशोक की लुम्बिनी-यात्रा का वर्णन मिलता है जिसमें उस धार्मिक राजा का उसके धर्मगुरु उपगुप्त के साथ हुई लुम्बिनी-यात्रा सम्बन्धी बात-चीत महत्त्वपूर्ण है। दिव्यावदान में आया है—"अशोक ने तथागत की जन्मभूमि की यात्रा की, और वहाँ की पवित्र रज से अपने शरीर तथा मन को पवित्र बनाया। उपगुप्त स्थविर द्वारा बुद्ध के जन्म-स्थल का निर्देश करने पर अशोक ने वहीं पर स्तम्भ निर्माण कराया।" विद्वानों के विचार हैं कि कालान्तर में अशोक स्तम्भ केवल स्मृति-स्तम्भ ही नहीं रहा वरन् इनकी पूजा भी होने लगी। हुएनसांग ने लिखा है कि ऋषिपतन के अशोक स्तम्भ में भावुकों को तथागत के दर्शन भी हुआ करते थे। लखनऊ संग्रहालय के एक शुंगकालीन शिलापट पर अशोक स्तम्भ के पूजन का दृश्य उत्कीर्ण है।

बौद्ध ग्रन्थों में अशोक की लुम्बिनी-यात्रा का वर्णन बड़ा ही रोचक है। इस तीर्थयात्रा में सम्राट अशोक के साथ वृहत् सेना एवं पूजन की अगाध सामग्री थी। लुम्बिनी ग्राममें अशोकने दस सहस्र सुवर्ण मुद्राओं का दान किया। लुम्बिनी ग्राम को राज्यकर से मुक्त तो कर ही दिया जैसा स्तम्भ के लेख से स्पष्ट है। सिद्धार्थ गौतम के जन्म ग्रहण के लगभग २५० वर्षों बाद तथा अपने शासन-काल के बीसवें वर्ष में इस पुण्यस्थली पर जो अशोक स्तम्भ बनवाया वह आज भी लुम्बिनी के बुद्ध-जन्म-स्थान एवं देवानंप्रियदर्शी अशोक की बुद्धि-भक्ति का साक्षी है।

लुम्बिनी की खोज

लुम्बिनी की खोज अनेक पुरातत्व-मनीषियों ने की और उसके स्थान-निर्देश का प्रयत्न किया, किन्तु लुम्बिनी का यथार्थ पता सन् १८९६ में डा० फ्युहरर ने लगाया। जनरल कनिंघम और कारलाइल की कल्पनाएँ सर्वथा ही भ्रमपूर्ण प्रमाणित हो गईं। श्री कनिंघम ने लुम्बिनी का अन्वेषण करते हुए लिखा है—"सिंहली अनुश्रुतियों के अनुसार 'रोहिणी नदी कपिलवस्तु और कोलिय नगर के मध्य से होकर बहती थी। कोलिय नगर में महामाया देवी का जन्म हुआ था। इसका नाम व्याघ्रपुर भी था। दोनों नगरों के बीच एक राजकीय शालोद्यान भी था, जिसे लोग लुम्बिनी कहा करते थे। वहाँ दोनों नगरों के निवासी क्रीड़ा-हेतु आते-जाते थे।' इन उद्धरणों के आधार पर वर्तमान कोहान नदी को ही रोहिणी कहा जा सकता है जो नगर से ६ मील पूर्व होती हुई दक्षिण-पूर्व दिशा में बहती है। नगर से ११ मील पूर्व में स्थित आमकोहिल ग्राम ही कोलिय नगर हो सकता है। नगर से कोहिल को जाती हुई सड़क कोहान नदी को मोक्सोन नामक छोटे नगर के सामने पार करती है, यही मोक्सोन नगर ही प्राचीन लुम्बिनी वन स्थिर किया जा सकता है।"

श्री कारलाइल ने लिखा है—"लुम्बिनी सम्भवतः शिवपुर के निकट अथवा शिवपुर तथा बरपार के बीच में कोई स्थान हो सकता है। जिस पुष्करिणी में बालक सिद्धार्थ को स्नान कराया गया था, वह बरपार डीह के दक्षिण-पश्चिम वाला छोटा तालाब हो सकता है। देवनिर्मित नदी जो तैल-नदी कहलाती है, वह वर्तमान गर्दीनाला और मझवार नदी हो सकती है जो शिवपुर के दक्षिण से बहती हुई हर्दी के पास मिल जाती है। शिवपुर के पश्चिम में बहने वाली रवई (रोवाई अथवा रोहवाई) नदी का सूखा पाट ही प्राचीन रोहिणी नदी का मार्ग हो सकता है। कोलियराज्य (व्याघ्रपुर) वर्तमान बाराहक्षेत्र नामक स्थान ही हो सकता है जो भूइला के पूर्व की ओर कुआनो नदी के मोड़ पर प्राचीन बाँध के रूप में अब दिखाई पड़ता है।

सन् १८९६ में डा० फ्युहरर की खोज ने लुम्बिनी को प्रकाश में लाया। इन्हीं के प्रयत्न के फलस्वरूप वहाँ के अशोक स्तम्भ का भी पता लगा, जिसका उल्लेख चीनी यात्री हुएनसांग ने किया है। इस स्तम्भ के निकट ही चार स्तूपों के भग्नावशेष भी मिले और

पुष्करिणी, नागराजों के दो जल-स्रोतों तथा तैल-नदी का भी पता चला। यह प्राचीन नदी वर्त्तमान तिल्लर नदी है जो वहीं पुराने खण्डहरों के निकट पूर्व से होती हुई बहती है।

इस प्रकार लुम्बिनी का स्थान अब पक्के तौर पर निश्चित हो गया।

लुम्बिनी पहुँचने के मार्ग

लुम्बिनी जाने के कई मार्ग हैं। नौतनवाँ से लुम्बिनी १० मील पश्चिम है। वहाँ से पैदल, बैलगाड़ी अथवा घोड़े से लुम्बिनी पहुँचा जा सकता है। नौतनवाँ से जीप द्वारा भी भैरहवा होकर लुम्बिनी जाने का मार्ग है। नौगढ़ रेलवे स्टेशन से भी मोटरकार द्वारा लुम्बिनी जा सकते हैं। तौलिहवा बाजार से लुम्बिनी १२ मील पूरब है, वहाँ से भी आराम से लुम्बिनी जाया जा सकता है। लुम्बिनी में श्री शिवशरणप्रसाद की ओर से आतिथ्य-सत्कार का काफी प्रबन्ध है। उनके आतिथ्य सत्कार से प्रभावित होकर ही फिलाडेल्फिया (अमेरिका) की सुश्री एलिजाबेथ डनबेर ने दर्शक-पञ्जिका में लिखा है--'भारतीय अतिथि-सत्कार का ढंग संसार के लिए एक निराला उदाहरण है। मार्ग में अतिथियों की सेवा के लिए तत्पर रहना तथा उनके आराम भोजनादि की व्यवस्था सुन्दर ढंग से किया जाना किसी भी बाहरी यात्री के मन को आकर्षित कर लेता है। मुझे तो भारत तथा भारतीयों से अत्यधिक प्रेम है।'

दिग्दर्शन

सम्प्रति लुम्बिनी में निम्नलिखित दर्शनीय स्थान हैं–

(१) अशोक शिला-स्तम्भ, (२) प्राचीन विहार के ध्वंसावशेष, (३) पुष्करिणी, (४) नेपाल सरकार द्वारा निर्मित दो नवीन स्तूप, (५) रुम्मिनदेई का मन्दिर।

अशोक स्तम्भ

यह स्तम्भ मायादेवी के मन्दिर से पश्चिम की ओर नीचे भूमि की सतह से कुछ ऊँचाई पर पृथ्वी में गड़ा खड़ा है। अशोक ने इसे ई० पूर्व २४४ में अपनी लुम्बिनी-यात्रा के समय गड़वाया था।

स्तम्भ की ऊँचाई जमीन की सतह से ऊपर १३ फुट ६ इंच है और घेरा ७ फुट ३ इंच। ऐसा अनुमान है कि स्तम्भ का लगभग १० फुट का भाग भूमि के नीचे है। स्तम्भ के फटने का निशान ऊपर से नीचे की ओर स्पष्ट रूप से दिखाई पड़ता है। ऐसा समझा जाता है कि या तो बिजली गिरने से अथवा बौद्धधर्म के विद्रोहियों के किसी आतंक के ही फल-स्वरूप यह हानि पहुँची है। हुएनसांग ने तो इसका कारण नागों का उपद्रव लिखा है। अन्यथा भारतवर्ष में अन्यत्र पाये गये अशोक स्तम्भों की ऊँचाई ७० फुट है जो इस बात का संकेत करता है कि यह स्तम्भ भी उतना ही ऊँचा रहा होगा। दूसरी बात जो महत्व की है, वह यह कि सारनाथ आदि स्थानों में अशोक स्तम्भों के शीर्ष पर सिंह अथवा अन्य पशु की मूर्ति बनी मिली है परन्तु लुम्बिनी के स्तम्भ के शीर्ष भाग का पता नहीं मिलता। परन्तु जैसा कि हुएनसांग की भारत यात्रा के वृत्तान्त से स्पष्ट अनुमान लगाया जा सकता है, इस स्तम्भ का शीर्ष भाग सुन्दर अश्व-मूर्ति से सुशोभित रहा होगा।

प्राचीन विहार के ध्वंसावशेष

सड़क के निकट ही मन्दिर के सामने इमली, नीम के वृक्षों की छाया में किसी प्राचीन विहार अथवा मन्दिर के नष्टावशेष दृष्टिगत होते हैं। यह आयताकार मन्दिर या विहार प्राचीन काल में एक भव्य भवन रहा होगा। इसमें किसी कमरे आदि की दीवारें नहीं बनी हैं जिससे अनुमान होता है कि किसी बड़े हॉल को ही आवश्यकतानुसार घटा बढ़ाकर अस्थायी दीवारें खड़ी कर लेते होंगे। इसके उत्खनन में किसी भी प्रकार की कलात्मक वस्तुयें, बुद्ध मूर्ति आदि नहीं प्राप्त हुईं। कुछ छोटी-छोटी पीतल, काँसे, पत्थर की टूटी मूर्तियाँ और सिक्के लुम्बिनी धर्मशाला में सुरक्षित हैं जिनमें गणेश, तारा, अवलोकितेश्वर की खंडित मूर्तियाँ इस बात को स्पष्ट रूप से बताती हैं कि यहाँ और भी बहुत कुछ रहा होगा परन्तु लोक-अज्ञानता के कारण सभी वस्तुयें मिट्टी में मिल गईं।

आसपास की ईंटों और मिट्टी से नेपाल सरकार ने

स्तंभ से उत्तर तथा दक्षिण की ओर दो स्तूप बनवा दिये। ये केवल १५-२० वर्ष पुराने हैं तथा इनका निर्माण एक पंजाबी इंजिनियर श्री कुलचन्द्र ने कराया था। श्री कुलचन्द्र जी का विचार था कि वे इन पर लुम्बिनी-जीर्णोद्धार का विवरण लिखवायेंगे, किन्तु संवत् १९९० में उनका स्वर्गवास हो गया।

पुष्करिणी

अशोक स्तम्भ के निकट ही एक पक्की सीढ़ीदार छोटी पुष्करिणी है। ग्रन्थों एवं यात्रियों के वर्णन के आधार पर लोग इसी को वह पुष्करिणी मानते हैं जिसमें बालक सिद्धार्थ को जन्म के उपरान्त स्नान कराया गया था। जो दो जल-धारायें आकाश से गिरी थीं उन्हीं का जल इसमें एकत्रित हो गया था। कालान्तर में अनेक राजा लोग इसकी मरम्मत भी कराते रहे। सम्प्रति इसका पानी सेवाल से भरा रहता है।

रुम्मिनदेई का मन्दिर

लुम्बिनी का वर्तमान नाम यहाँ के खण्डहरों के मध्य में स्थित रुम्मिनदेई का ही रूपान्तर मात्र है। श्रद्धेय भिक्षु धर्मरक्षित जी जो स्वयं एक अनुभवी पर्यटक हैं, के विचार हैं कि भारत की ग्रामीण जनता काली, भवानी, शीतला, हवहिआ, निकसारी, बाइसी, दुर्गा आदि न जाने कितनी देवियों को मानती और पूजती है; वस्तुतः खण्डहर पड़े लुम्बिनी शालोद्यान का देवी स्थान होना इन्हीं प्रवृत्तियों का द्योतक है। हो सकता है वहाँ खण्डहरों के बीच एक देवी (मायादेवी) की प्रस्तर मूर्ति को जनता ने किसी काली के ही समान अन्य देवी की मूर्ति समझ कर उसे स्थापित कर दिया।

महत्व की बात यह है कि मूर्ति बिल्कुल ही अस्पष्ट है। केवल एक आभा-मात्र शेष है जिसके द्वारा हम यह कह सकते हैं कि वह माया देवी की ही मूर्ति है जो शाल-शाखा पकड़े खड़ी हैं। सिद्धार्थ का जन्म हो गया है और वे भूमि पर दाहिनी ओर खड़े हैं। दूसरी बात यह है कि मूर्ति पर कहीं टूटने फूटने के निशान नहीं, अपितु ऐसा जान पड़ता है कि मूर्ति घिस दी गई हो। क्योंकि ऊपरी भाग समतल एवं चिकना है। गाँव वालों की कृपा से सिन्दूर-तेल का लेप भी होता रहता है। मूर्ति एक पत्थर की है। घुटनों से नीचे का भाग टूटा हुआ है। मूर्ति लगभग छः फुट ऊँची है।

मन्दिर भूमि की सतह से ७-७॥ फुट की ऊँचाई पर एक ऊँचे चबूतरे पर बना है। पक्की सीढ़ियाँ ऊपर को जाती हैं। ऐसा लगता है कि नीचे का भाग प्राचीन और ऊपर का भाग नया बना है। कहा जाता है कि अशोक ने इसे बनवाया था। कुछ वर्षों पूर्व यह स्थान धूल-मिट्टी से भरा पड़ा था, जिसे एक दयालु नेपाल निवासी सज्जन ने मलवे को हटाकर मन्दिर का उद्धार किया था।

वर्तमान अवस्था

प्रसन्नता का विषय है कि आजकल मन्दिर और लुम्बिनी के स्थान की देखरेख के लिये नेपाल सरकार ने धर्मोदय सभा की नियुक्ति की है। मन्दिर के पास में ही एक धर्मशाला है जिसे नेपाल सरकार ने यात्रियों की सुविधा के लिये बनवाया है। इस धर्मशाला को हम 'मरुस्थल के बीच हरित भूमि' कहें तो अत्युक्ति न होगी।

१९५२ की वैशाखी पूर्णिमा से अन्य बौद्ध स्थानों की भाँति लुम्बिनी में भी बुद्धजयन्ती महोत्सव मनाया जाता है। तबसे यहाँ वैशाख पूर्णिमा के दिन एक मेला लगता है, जो एक सप्ताह तक रहता है। इस निर्जन स्थान में मेले-ठेले के दिन बड़ी सतर्कता बर्तनी पड़ती है। इस मेले में निकटवर्ती प्रदेशों के यात्री एवं व्यापारी आते हैं। व्यापार के साथ-साथ भगवान् बुद्ध के जन्म-स्थान के दर्शन का भी पुण्यार्जन होता है। सन् १९५४ के अप्रैल मास में बर्मा के बौद्धों ने एक संगमरमर की ऊँची तथा भव्य बुद्धमूर्ति लुम्बिनी में स्थापित करने के लिए प्रदान की। बर्मावासियों की सद्भावना का यह प्रतीक दोनों देशों की मैत्री में एक और कड़ी जोड़ेगा।

लुम्बिनी के जीर्णोद्धार के लिए बौद्ध देशों के लोग बहुत ही प्रयत्नशील हैं तथा नेपाल सरकार से इस क्षेत्र की सारी भूमि की माँग की है। यह पवित्र कार्य जितनी जल्दी सम्पन्न हो जाय उतना ही अच्छा होगा।

साधारण मनुष्य जब मार्ग की असुविधाओं को झेलता हुआ अपने गन्तव्य स्थान के निकट पहुँचता है तो

देखा लगता है जैसे वह किसी द्वीप-उद्यान में पहुँच गया हो। अन्तिम मोड़ पर पहले धर्मशाला और फिर अशोक स्तम्भ की झलक से ही उसकी सारी थकान दूर हो जाती है और वह एक स्फूर्ति का अनुभव करने लगता है तथा आनन्दातिरेक से विभोर उसकी आत्मा तृप्त हो जाती है। चारों ओर की शुष्कता में भी उसे एक प्रकार की शीतलता का अनुभव होता है कि फिर भी एक अर्ध स्फुट उल्लास एवं अतृप्त लालसा के बीच कुछ क्षणों के लिये वह ठहर कर विचारों के संघर्ष और आन्तरिक द्वन्द्वों में डूब जाता है—२५०० वर्ष पूर्व।

वर्त्तमान् लुम्बिनी अपनी प्राचीन गरिमा और गौरव के प्रतिकूल है। जो स्थान किसी समय शाल, चम्पा आदि सुन्दर वृक्षों के उद्यानों से सुशोभित होकर अपनी सुगन्धि को बिखेरता रहता वहाँ अब केवल बेल, नीम, इमली ही शेष हैं! शाल तो कहीं देखने को नहीं मिलता। जान पड़ता है कि ग्रामवासियों ने सुन्दर शाल वृक्षों को काटकर गृह-निर्माणकार्यों में लगा दिया है।

भगवान् बुद्ध ने अपनी कपिलवस्तु-यात्रा के समय वास-स्थान के रूप में लुम्बिनी का उपयोग नहीं किया। पालि ग्रन्थों में इसका कोई उल्लेख नहीं मिलता। अपितु जब-जब वे शाक्य नगर को जाते, निग्रोधाराम में ही निवास करते थे। परन्तु इससे यह निष्कर्ष भी निकालना कि लुम्बिनी को लोग भूल गये थे, ठीक नहीं। भगवान् के उपदेशों को सुनने के लिये आये हुये उपासक तथा गृहस्थ सभी इस शालोद्यान में विश्राम के लिये रुकते होंगे और सम्यक् सम्बुद्ध के जन्मस्थल की पावन रज से अपने भौतिक शरीर को पवित्र कर निज को धन्य समझते होंगे।

मैं बुद्ध-भक्त कैसे बना ?

श्री सु० कु० महाशाल

सन् १९३९ का जिक्र है। मेरी उम्र करीब चौदह-पन्द्रह की रही होगी। मैं प्राइमरी स्कूल का विद्यार्थी था। इस समय हिन्दू दर्शन की अनेक झाँकियाँ मिलीं। भगवान् कृष्ण का चरित्र दर्शानेवाली प्रसिद्ध गीता का पावन प्रसंग आया। इन सब विचारों का मेरे अल्प विकसित छोटे-से हृदय पर गहरा असर पड़ा। खासकर वेदान्त के प्रसिद्ध वाक्य 'ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या' का। यद्यपि इस समय इन बातों को इतने बड़े-बड़े शब्दों में लिख रहा हूँ परन्तु उस समय इतना कुछ समझ में नहीं आया था। मेरे मस्तिष्क में तो केवल कुछ सीधे और सरल प्रश्न चक्कर काटते। यथा—१. इस सृष्टि की रचना कब और कैसे हुई ? २. क्या विश्व की कोई संचालक शक्ति—ईश्वर या परमात्मा के नाम से विद्यमान है ? ३. क्या यह संसार सब माया अतः मिथ्या है ? फिर असलियत क्या है, नित्य, ध्रुव, सत्य क्या है ? ४. क्या धर्म-ग्रन्थों पर विश्वास कर विमोक्ष पाया जा सकता है ? इत्यादि अनेक प्रश्न उठते।

थोड़ा और चिन्तन बढ़ने पर ये सवाल मुख्य रूप से तीन समूहों में मुझ में उथल-पुथल मचाने लगे। बड़ी बेचैनी रहने लगी। कोई इन शंकाओं का समाधान ही न मिलता। गृह-त्याग की भावना इसलिए प्रबल होने लगी कि संभव है हिमालयवासी ऋषियों के गढ़ में कोई तपस्यालीन यती ध्यानावस्थित रूप में मिल जाय। उस समय अगर काल-व्यक्तिक्रम से उनके शरीर के चारों तरफ घास उग आई हो तो उसे साफकर उनकी सेवा करूँ और उनकी समाधि से उठने पर वर प्राप्त कर उनका शिष्य बन जाऊँ। मन में यह दृढ़ निश्चय ले मैं हिमालय पर्वत के लिए १४ वर्ष का बालक निकल ही तो पड़ा। दुर्भाग्य से एक हमजोली को साथी के रूप में ले लिया था जिसने की बुटवल से आगे बढ़ने से इन्कार कर

दिया। अतः वापस लौट आना पड़ा। उस बीच माता-पिता पर कैसी गुजरी और मेरी किस प्रकार खिदमत की गई यह सब नहीं लिखूँगा। दूसरी बार गृह त्याग कर राप्ती के घाट पर एक औघड़ साधु की शरण ली। उसके साथ श्मशान वगैरह देखने के बाद पुनः घर लौटा।

किन्तु तीसरी यात्रा सफल रही। इस प्रकार वैराग्य का उद्देश्य ले गृह त्याग करने को पालि भाषा में 'अभि-निष्क्रमण' कहते हैं। मेरा यह तीसरा अभिनिष्क्रमण सारनाथ को हुआ। यहाँ तीन-चार वर्ष रहकर बौद्ध दर्शन का अध्ययन व मनन करने का मौका मिला। प्रसिद्ध भारतीय बौद्ध विद्वान् भदन्त आनन्द कौसल्यायन के चरणों में रहकर भगवान् बुद्ध की—'भिक्षुओ! अगर कोई व्यक्ति यह कहे कि मैं तबतक अपने शरीर में चुभे तीर को न निकलवाऊँगा जबतक मैं यह न जान लूँ कि मुझे तीर मारनेवाला व्यक्ति कैसा था—मोटा या पतला, लम्बा या नाटा, काला या गोरा, तो भिक्षुओ! इसका पता नहीं चलेगा और वह व्यक्ति यों ही मर जायगा। भिक्षुओ! तुम्हें तो इस बार-बार भव-दुःख में डालनेवाली तृष्णा को पहचान कर अपने आवागमन रूपी दुःख का अन्त कर लेना है। उसका मार्ग तथागतको मालूम है। तुम्हें उस पर चल कर अपने दुःख का अन्त कर लेना है।" यह वाणी सुनने को मिली तो मेरे आनन्द की सीमा न रही। ऐसा लगा जैसे मेरे सिर से कोई भारी बोझ उतर गया हो।

यह जीवन शल्य-विद्ध शरीर के समान है जो कि रात्रि-दिन अगाध दुःख से तड़फड़ाता रहता है। ऐसे में इस दुःख का अन्त कैसे हो यह जानने का प्रयत्न पहले करना चाहिए कि भव-सागर से त्राण कैसे मिले न कि विश्व की लम्बाई-चौड़ाई नापने में यह अमूल्य मानुष-तन गँवा डालना चाहिए। फिर तो प्रयत्न का मौका ही जाता रहेगा। पुनः इन अर्हत् सम्यक् सम्बुद्ध की वाणी सुनने को मिली—भिक्षुओ, यह संसार पहिए के चक्के के समान है। इसका आदि-अन्त नहीं जाना जा सकता। तो इस विषय में मेरी रही-सही शंका जाती रही।

मेरी दूसरी परेशानी थी आत्मा और परमात्मा का रहस्य। किन्तु बौद्ध दर्शन ने तो आत्मा और परमात्मा की सत्ता ही समाप्त कर दी है। इस सदा परिवर्तनशील सृष्टि में आत्मा और परमात्मा के सदा एक-रस बने रहने की गुंजाइश ही कहाँ रह जाती है? जब सब कुछ परिवर्तनशील है तब इनका भी परिवर्तन होना चाहिए और जब इनका परिवर्तनशील रूप मान लिया गया तब तो इनकी कल्पना ही निरर्थक है। तब तो बुद्ध के 'मन' से (यह भी परिवर्तनशील) ही आत्मा परमात्मा दोनों का काम चल सकता है।

उस समय मेरे मन से ईश्वर का मोह आसानी से नहीं निकल पा रहा था। मैंने प्रश्न किया कि आखिर विश्व में कोई परम शक्ति के अस्तित्व के बिना यह संसार-चक्र कैसे चलता है? इस पर मुझ से भदन्त जी ने यह प्रश्न पूछा कि अच्छा बताओ तुम इसको एक नियम मानने को तैयार हो कि विश्व का चक्र कर्त्ता-कर्म-सम्बन्ध पर आधारित है। मैंने कहा 'हाँ'। उन्होंने कहा तब तो ईश्वर का भी कोई न कोई कर्त्ता होना चाहिए क्योंकि अभी तुमने इस बात को सिद्धान्त मानना कबूल किया है। उन्होंने कहा कि बौद्ध दर्शन किसी बात को मोह या हठ वश मानकर नहीं चलता, वह तो तर्क की कसौटी पर सब कुछ परख कर पक्का सोना निकालता है। ग्राहक के कहने से कि नहीं मेरा सोना असली—जम्बोनद—माना जाय, नहीं हो सकता। बौद्ध दर्शन की यह कसौटी है—विभज्जवाद। हर एक चीज के पुर्जे-पुर्जे विभाजित कर दिए जाते हैं क्योंकि विश्व की सभी वस्तुएँ किन्हीं न किन्हीं तत्वों से मिल कर बनी हैं। अगर उत्तमांग से आँख को निकाल बाहर किया जाय तो क्या भीतर बैठी आत्मा दृश्य देख सकती है? अगर जिह्वा निकाल दी जाय तो क्या रस का स्वाद ले सकती है? चूँकि वैसा नहीं कर सकती इसलिए वहाँ वैसी कोई वस्तु है ही नहीं। संक्षेप में हम यही कह सकते हैं कि विश्व में संसार का संचालन किया नहीं जाता बल्कि होता है और वह होता है वस्तुओं के आपस में आघात-प्रत्याघात से। जैसे कतार में सजाई गयी सौ खड़ी ईंटों में एक को पैर से धक्का मारने से बाकी सब गिर जाती हैं वैसे ही सृष्टि की सारी क्रिया होती है।

मेरी तीसरी परेशानी तो आसानी से दूर हो गई। वह थी वेदों की प्रामाणिकता जिसके बारे में कहा जाता

है कि ईश्वर ने ऋषियों पर इसका रहस्य नाजिल किया। ने इस सत्य की छान-बीन की। ऐसा नहीं लगा कि ईश्वर ने कोई गम्भीर तार्किक चीज नाजिल की है। इसमें तो समाज के उस समय की छाप है जब कि मानव-समाज उन्नति की अपनी शुरुआत में ही रहा है। जो भी हो, यहाँ मुझे यह नहीं कहना है कि वेदों में क्या है, क्या नहीं है। प्रस्तुत विषय में तो मुझे यही कहना है कि इनके बारे में मेरे दिल में एक भय समाया हुआ था कि अगर ये देव-वाक्य हैं तो चाहे सही हों या गलत, चाहे तर्क-संगत हों या असंगत, हमें तो इन्हें मानना ही पड़ेगा। किन्तु प्रज्ञासागर करुणानिधान ने तपस्या के सारे दुःख अपने ऊपर सह कर गम्भीर मंथन के बाद यह तथ्य निकाला कि "मा पिटक सम्पदानेन" अर्थात् किसी बात को इसलिए मत मानो क्योंकि वह तुम्हारे धर्म-ग्रन्थ में लिखी हुई है बल्कि "परीक्ष्य मद्वचो ग्राह्यं न तु गौरवात्" अर्थात् मेरे वचन को भी परीक्षा करके ग्रहण करो, सिर्फ मेरे प्रति गौरव के कारण नहीं।

संक्षेप में यह हुई मेरी मुक्ति की कहानी। अब मैं बुद्ध का अनन्य भक्त हूँ और उनका हृदय से बड़ा आभार मानता हूँ।

बौद्धयोगी के पत्र—१२

चार अनुस्मृतियाँ

प्रिय जिज्ञासु,

तुम्हारा पत्र मिला। तुमने पत्र को हवाई डाक से नहीं भेजा था, इसीलिए वह मुझे पूरे एक मास के पश्चात् प्राप्त हुआ है। हवाई डाक से भेजे हुए पत्र चार दिन के भीतर ही प्राप्त हो जाते हैं। तुम्हारे पत्र को पढ़ने से मुझे ऐसा कुछ लगा कि तुम धर्म-संगायन से अधिक बर्मा के योगियों के दर्शन के लिए उत्सुक हो। वस्तुतः बर्मा में योग-भावना का बड़ा प्रचार है। स्थान-स्थान पर योगाभ्यास के केन्द्र बने हुए हैं, जहाँ योगी लोग निश्चिन्त होकर ध्यान-भावना करते हैं। मैंने सगाँईं के योग-आश्रम में देखा कि उस रमणीय प्रदेश में योगी-जन सदा ही आनापान-स्मृति की भावना में लगे रहते हैं। वे जब एकत्र होते हैं, तब उसी के सम्बन्ध में बातें भी करते हैं। उनके अद्भुत योगाभ्यास को देख कर मुझे तो बड़ा ही आश्चर्य हुआ। वास्तव में साधकों को यहाँ आकर रहना चाहिए। पेगू में भी आनापानस्मृति एवं ब्रह्मानुस्मृति की भावना करते हुए ही योगियों को देखा। यहाँ गृहस्थ तक आनापान-स्मृति की भावना करने में जुटे रहते हैं। इन्हें देखकर मुझे भगवान् के समय में कुरु-जनपद के स्त्री-पुरुषों का स्मरण हो आता है, जहाँ पनिहारिनियाँ तक आनापान-स्मृति की भावना करती थीं।

आनापान-स्मृति

आनापान कहते हैं आश्वास-प्रश्वास को। साँस लेने और छोड़ने की स्मृति को ही आनापान स्मृति कहते हैं। जो साधक आनापान-स्मृति की भावना करना चाहे, उसे चाहिए कि वह आरण्य, वृक्ष-मूल अथवा शून्य-गृह में जाकर इसे प्रारम्भ करे। यह कर्मस्थान बड़ा महत्वपूर्ण है और सब योगियों द्वारा प्रशंसित है। इसकी भावना करने के लिए शोरगुल वाले स्थान को त्याग कर एकान्त एवं शान्त स्थान में जाना परमावश्यक है। अतः साधक को उक्त स्थानों में से किसी एक स्थान में जाकर पालथी लगाकर रीढ़ के अठारह काँटों को सीधा कर स्मृति को सामने करके बैठना चाहिए। तत्पश्चात् साँस लेने और छोड़ने पर ध्यान देना चाहिए। स्मृति को आश्वास-प्रश्वास के साथ लगाकर चित्त को एकाग्र करने का प्रयत्न करना चाहिए। साँस लेने और छोड़ने की गणना भी

करते जानी चाहिए। ऐसा करने से चित्त इधर-उधर नहीं भागता है। गणना करने में यह ध्यान रखना चाहिए कि गणना की संख्या पाँच से कम और दस से अधिक न हो। पाँच, छः, सात, आठ, नव, दस—इनमें से कोई भी संख्या इच्छानुसार ग्रहण की जा सकती है, किन्तु इनसे अधिक या कम करने से चित्त गणना की दीर्घता अथवा शीघ्रता के कारण चंचल हो जाता है। अतः आश्वास-प्रश्वास को एक, दो, तीन, चार, पाँच, छः आदि क्रम से प्रारम्भ करके इच्छित सीमा तक गिन कर पुनः एक, दो, तीन करके आरम्भ करना चाहिए और यह क्रम जारी रखना चाहिए। इसके साथ ही साधक को चाहिए कि वह अपनी साँस की गति एवं शारीरिक तथा मानसिक स्थिति पर भी विचार करता चले और साँस की लघुता तथा दीर्घता का भी ध्यान रखे।

महायोगी भगवान् बुद्ध ने आनापानस्मृति की भावना करने वाले योगियों को निर्देश करते हुए इसी ओर लक्ष्य करके कहा—"वह स्मृति के साथ ही आश्वास करता है, स्मृति के साथ ही प्रश्वास करता है। लम्बा आश्वास करते हुए 'लम्बा आश्वास कर रहा हूँ' ऐसा जानता है। लम्बा प्रश्वास करते हुए 'लम्बा प्रश्वास कर रहा हूँ' ऐसा जानता है। छोटा आश्वास करते हुए 'छोटा आश्वास कर रहा हूँ' ऐसा जानता है। छोटा प्रश्वास करते हुए 'छोटा प्रश्वास कर रहा हूँ' ऐसा जानता है। सारे शरीर का अनुभव करते हुए आश्वास करूँगा—ऐसा अभ्यास करता है। सारे शरीर का अनुभव करते हुए प्रश्वास करूँगा—ऐसा अभ्यास करता है। शारीरिक गति को शान्त करते हुए आश्वास करूँगा—ऐसा अभ्यास करता है। शारीरिक गति को शान्त करते हुए प्रश्वास करूँगा—ऐसा अभ्यास करता है।"

इस प्रकार आनापान-स्मृति की भावना में लगे हुए थोड़े ही दिनों में प्रतिभागनिमित्त उत्पन्न हो जाता है और शेष ध्यानांगों से युक्त अर्पणा प्राप्त होती है। प्रायः साधक को आश्वास-प्रश्वास की गणना के समय से लेकर सम्यक् प्रकार से विचार करते हुए स्थूल आश्वास-प्रश्वास क्रमशः सूक्ष्म हो जाते हैं और शारीरिक थकान शान्त हो जाती है। तदुपरान्त शरीर और चित्त हलके हो जाते हैं। उस समय शरीर आकाश में उछलने के समान जान पड़ने लगता है। इस अवस्था में साधक का आश्वास-प्रश्वास बहुत सूक्ष्म हो जाता है। वह जान भी नहीं पड़ता है। जब आश्वास-प्रश्वास न जान पड़ने लगे, तब साधक को आसन से उठकर चला नहीं जाना चाहिए, प्रत्युत वैसे ही बैठे हुए आश्वास-प्रश्वास के स्पर्श करने वाले स्थान नासापुट (=नाक के छेद) अथवा ऊपरी ओंठ पर ध्यान लगाना चाहिए। स्मृति और प्रज्ञा को विचलित न होने देना चाहिए। इस अवस्था में पहुँचकर प्रायः साधक विभ्रम में पड़ जाते हैं और आगे की भावना छोड़ देते हैं। इसीलिए प्राचीन योगियों ने कहा है—"यह आनापान-स्मृति-कर्मस्थान कठिन है, कठिनाई से भावना किया जाने वाला है। यह महायोगियों के ही मनन की भूमि है। यह न तो छोटा है और न छोटे प्राणियों से सेवित ही। ज्यों-ज्यों इसका मनन किया जाता है, त्यों-त्यों अधिक सूक्ष्म होता जाता है। इसलिए इसके लिए बलवान् स्मृति और प्रज्ञा होनी चाहिए।"

जैसे किसान खेत को जोतकर बैलों को छोड़ चरागाह की ओर करके छाया में बैठा हुआ विश्राम करे, तब उसके वे बैल तेजी से जंगल में चले जाँय। चतुर किसान फिर उन्हें पकड़कर खेत जोतना चाहते हुए उनके पीछे-पीछे जंगल में नहीं घूमता है, प्रत्युत रस्सी और बैलों को हाँकने की छड़ी को लेकर सीधे ही उनके पानी पीने वाले घाट पर जाकर बैठता या लेटता है। जब वे बैल इच्छानुसार चर कर घाट पर आ पानी पीकर ऊपर आ खड़े होते हैं, तब उन्हें रस्सी से बाँध, छड़ी से पीटते हुए लाकर हल में बाँध फिर खेत जोतता है। ऐसे ही उस साधक को चाहिए कि उस समय आश्वास-प्रश्वास के स्पर्श करनेवाले स्थान को छोड़ इधर-उधर मन न दौड़ाये। स्मृति रूपी रस्सी और प्रज्ञा रूपी छड़ी को लेकर स्वाभाविक रूप से स्पर्श करने के स्थान में चित्त को करके मनन करे। इस प्रकार मनन करने पर उसे थोड़े समय में ही पानी के घाट पर आये हुए बैलों की भाँति आश्वास-प्रश्वास जान पड़ने लगते हैं। तत्पश्चात् उन्हें स्मृति की रस्सी से बाँध कर उसी स्थान में लगाकर प्रज्ञा की छड़ी से पीटते

हुए बार-बार कर्मस्थान में भिड़ना चाहिए। उसके ऐसे भिड़ते हुए थोड़े समय में ही उग्गह और प्रतिभाग-निमित्त जान पड़ते हैं। कहा है—

निमित्ते ठपयं चित्तं नानाकारं विभावयं।
धीरो अस्सासपस्सासे सकं चित्तं निबन्धति॥

आश्वास-प्रश्वास में होनेवाले विभिन्न आकार को दूर करते और प्रतिभाग निमित्त में चित्त को स्थिर करते हुए प्रज्ञावान् साधक अपने चित्त को बाँधता है।

ऐसे निमित्त के जान पड़ने के समय से उसके नीवरण दूर हो जाते हैं, क्लेश शान्त हो जाते हैं, स्मृति बनी रहती है और चित्त उपचार समाधि से एकाग्र हो जाता है। साधक को चाहिए कि वह उस समय विघ्नकारक स्थानों को त्याग कर अनुकूल वातावरण में रहकर उसी मनन में जुटा रहे। इस प्रकार लगे रहने पर उसे 'पृथ्वी-कसिण' तथा 'ध्यानों की प्राप्ति' शीर्षक-पत्रों में बतलाये गये क्रम से ही उस निमित्त में ध्यान उत्पन्न होते हैं और वह उन्हीं का अभ्यास कर 'नाम' और 'रूप' का मनन कर विपश्यना (= विदर्शना) प्रारम्भ करके निर्वाण प्राप्त कर लेता है।

इस कर्मस्थान में लगे हुए भिक्षु को उत्पत्ति, स्थिति एवं भङ्ग (= लय) होने का पूर्ण ज्ञान रहता है, अतः अपनी आयु की अवधि को वह भलीप्रकार जानता है। दूसरे लोगों को बतला कर ही शरीरान्त को प्राप्त होता है। यह कर्मस्थान विद्या और विमुक्ति को प्राप्त कराने में प्रधान होने के कारण महागुणवान माना जाता है। भगवान् ने कहा है—"आनापान-स्मृति की भावना करने पर, उसे बढ़ाने पर वह चार स्मृति-प्रस्थानों को परिपूर्ण करती है। चारों स्मृति प्रस्थान भावना करने पर, बढ़ाने पर सात बोध्यङ्गों को परिपूर्ण करते हैं। सातों बोध्यंग भावना करने पर, बढ़ाने पर विद्या और विमुक्ति को परिपूर्ण करते हैं।"

तस्मा हवे अप्पमत्तो अनुयुञ्जेथ पण्डितो।
एवं अनेकानिसंसं आनापानसतिं सदा॥

इसलिए ऐसी अनेक गुणवाली आनापान-स्मृति में पण्डित (व्यक्ति) अप्रमत्त हो जुटे।

उपशमानुस्मृति

उपशम कहते हैं निर्वाण को। निर्वाण की स्मृति उपशमानुस्मृति कही जाती है। जो साधक इसकी भावना करना चाहे, उसे एकान्त में जाकर एकाग्र-चित्त हो इस प्रकार सारे दुःखों के उपशमन निर्वाण के गुणों का अनुस्मरण करना चाहिए—

"यवता भिक्खवे! धम्मा सङ्खता वा असङ्खता वा, विरागो तेसं धम्मानं अग्गमक्खायति, यदिदं मदनिम्मदनो पिपासविनयो आलयसमुग्घातो वट्टुपच्छेदो तण्हक्खयो विरागो निरोधो निब्बानं।"

भिक्षुओ! जहाँ तक संस्कृत धर्म या असंस्कृत धर्म हैं, उन धर्मों में विराग (= निर्वाण) अग्र कहा जाता है, जो कि मद को निर्मद करनेवाला है, प्यास (=तृष्णा) को बुझानेवाला है, आलय (= आसक्ति) को नष्ट करनेवाला है, संसार-चक्र (= वर्त) को उपच्छेद करनेवाला है, तृष्णा का क्षय, विराग, निरोध, निर्वाण है।

ऐसे अनुस्मरण करनेवाले साधक का चित्त राग में लिप्त नहीं होता, न द्वेष और न मोह में। उसका चित्त उपशम (=निर्वाण) के प्रति ही लगा होता है। उसके नीवरण दब जाते हैं और एक क्षण में ही ध्यान के अंग हो जाते हैं। उपशम के गुणों की गम्भीरता से या नाना प्रकार के गुणों के अनुस्मरण करने में लगे होने के कारण अर्पणा को नहीं प्राप्त कर उपचार प्राप्त ही ध्यान होता है।

इस उपशमानुस्मृति में लगा हुआ योगी सुखपूर्वक सोता है। सुखपूर्वक सोकर उठता है। शान्त-इन्द्रिय, शान्त मनवाला होता है। लज्जा और संकोच से युक्त होता है। वह यदि इस साधना से अर्हत्व नहीं प्राप्त कर सकता है तो सुगति-परायण होता है।

मुझे धर्म-देशना के लिए वेसिन जाना है। वहाँ के उपासकों की बड़ी लालसा है कि वे मेरा दर्शन करें और उपदेश सुनें। भाई पारगू जी भी वहाँ जा रहे हैं। वे मेरे पास आकर चलने के लिए जम भी गये हैं। अतः पत्र यहीं समाप्त करता हूँ। योगिराज के आशीर्वाद।

पुब्बविदेह चौं, तुम्हारा—
कबाये, रंगून योगी
१५-८-५४

नये प्रकाशन

नालन्दा विश्वविद्यालय—लेखक—प्रो० चन्द्रिका सिंह उपासक। प्रकाशक—चन्द्रिका सिंह उपासक, नालन्दा कालेज, बिहार शरीफ, पटना। पृष्ठ संख्या ३८। पूरी छपाई आर्ट पेपर पर। मूल्य ॥=)

यह ग्रन्थ प्राचीन नालन्दा विश्वविद्यालय का आद्योपान्त दिग्दर्शन है। इसमें नालन्दा के ऐतिहासिक वृत्त के साथ-साथ विश्वविद्यालय की शिक्षा-व्यवस्था, उसके आचार्य, बृहत्तर भारत में उसके सांस्कृतिक सम्बन्ध आदि का संक्षिप्त परिचय दिया गया है। खोदाई से प्राप्त खँडहरों, मूर्तियों, शिलालेखों आदि का भी यथास्थान विश्लेषण है। नालन्दा विश्वविद्यालय के उपनिवेश, ओदन्तपुरी का संक्षिप्त परिचय और उस अंचल के प्राचीन साहित्यिक एवं सांस्कृतिक केन्द्रों के विवरण दिये गये हैं। ग्रन्थ के अन्त में ४२ सहायक ग्रन्थों के नाम दिये गये हैं। ग्रन्थ में १२ चित्र भी दिये गये हैं।

यह लेखक की पहली कृति है, जो एक बहुत बड़े अभाव की पूर्ति करती है। आजतक हिन्दी में नालन्दा सम्बन्धी ऐसा ग्रन्थ नहीं था। लेखक को हम हिन्दी भाषा-भाषियों के इस महान् उपकार के लिए बधाई देते हैं और यह भी निवेदन करना चाहते हैं कि अगले संस्करण में गेट्-अप् पर विशेष ध्यान दिया जायेगा।

ग्रन्थ की छपाई-सफाई सब अच्छी है। भाषा सरल और प्रांजल है। यदि इसे कुछ और विस्तारपूर्वक लिखा गया होता तथा नालन्दा का एक मान-चित्र भी दे दिया गया होता तो यह इतिहास के विद्यार्थियों के लिए बड़ा उपयोगी होता।

द्विवेदी-पत्रावली—सम्पादक—श्री बैजनाथ सिंह 'विनोद'। प्रकाशक—भारतीय ज्ञानपीठ, दुर्गाकुण्ड रोड, बनारस। पृष्ठ संख्या २२८। मूल्य २॥)

यह ग्रन्थ स्वर्गीय महावीरप्रसाद द्विवेदी के १८४ पत्रों का संकलन है, जिन्हें उन्होंने समय-समय पर विभिन्न व्यक्तियों को लिखा था। ग्रन्थ के आरम्भ में द्विवेदीजी का संक्षिप्त जीवन-चरित दिया गया है। तदुपरान्त श्री मैथिलीशरण गुप्त द्वारा लिखित 'आचार्य देव' शीर्षक संस्मरण है। उसके पश्चात् 'द्विवेदीजी की अपनी नजर में' द्विवेदी जी द्वारा लिखित पं० श्रीधरपाठक, बाबू-राधाकृष्ण दास, पं० पद्मसिंह शर्मा, श्री मैथिलीशरण गुप्त, रायकृष्ण दास, पं० ललीप्रसाद पाण्डेय, पं० केशवप्रसाद मिश्र, पं० देवीदत्त शुक्ल और पं० किशोरीदास वाजपेयी, को लिखे १६८ पत्र हैं। प्रारम्भ में संक्षेप में सबका परिचय दिया गया है। अन्त में विविध-पत्र शीर्षक के अन्तर्गत विभिन्न लोगों के नाम लिखे १६ पत्र हैं।

ये सभी पत्र प्रायः उनके समसामयिक कवियों और साहित्यकारों को लिखे गये हैं। कुछ व्यक्तिगत प्रसंगों को छोड़कर द्विवेदीजी के पत्र किसी न किसी भाषा सम्बन्धी प्रश्न अथवा साहित्यिक समस्या पर लिखे गये हैं। अतः आधुनिक हिन्दी भाषा और साहित्य के विकास पर इन पत्रों से काफी प्रकाश पड़ता है।

ग्रन्थ में सभी व्यक्तियों का जीवन-चरित देकर संकलन कर्त्ता ने इसे बहुत उपयोगी बना दिया है। ग्रन्थ की छपाई आदि सब सुन्दर है। इस प्रकाशन के लिए श्री विनोदजी को धन्यवाद देते हैं जिन्होंने कि पत्र-संकलन की दिशा में एक नवीन कला का सृजन किया है।

—भिक्षु धर्मरक्षित

राष्ट्रपाल-राद्धान्त—सम्पादक सन्तज्योति आर्यबौद्ध प्रकाशक-आचार्य मेधार्थी 'अणु भिक्षु' बुद्धपुरी, कानपुर। मूल्य ।) । साइज गुटका, पृष्ठ संख्या ३२

यह पुस्तिका 'गुड़-गोबर सम्मेलन' का एक अद्भुत संकलन है। इसमें ईश-वन्दना, आनन्द-आलाप, विजय-गीत, सुख की वर्षा, ओम् नमो बुद्धाय शुद्धाय, दयानन्द महिमा, आचार्य श्रद्धानन्द का रूप आदि भजन और गीतों के साथ ही आचार्य मेधार्थी 'अणु भिक्षु' की वन्दना भी सम्मिलित है। बुद्धपुरी आश्रम, तथागत बुद्ध का तप, बुद्धाहान, भगवान् बुद्ध का अवतार, कबीर काव्य, कलियुगी वीर की कथा, फूट की फबतियाँ आदि इसके कुछ ऐसे अंश हैं, जिन्हें पढ़कर कहना ही पड़ता है कि सम्पादक ने इसमें केवल 'गुड़-गोबर सम्मेलन' किया है। न विषय का कोई क्रम है और न तो किसी सिद्धान्त का। 'अणु भिक्षु' की वन्दना और भी हास्यास्पद है। 'अणु भिक्षु' कौन-सी बला है? ऐसे शब्दों से सम्भव है बौद्धों में भ्रम उत्पन्न हो। अतः हम निवेदन करेंगे कि भविष्य में इस प्रकार के भ्रामक शब्दों का प्रयोग न किया जाय।

—अनन्त

बौद्ध-जगत्

कम्बोडिया के बौद्धनरेश का भारत आगमन

विश्वस्त सूत्र से ज्ञात हुआ है कि कम्बोडिया के बौद्धनरेश श्री नरोत्तम बौद्धतीर्थों की यात्रा करने के निमित्त निकट भविष्य में भारत आ रहे हैं। स्मरण रहे सन् १९५२ में अग्रश्रावकों की पवित्र अस्थियाँ भारतीय महाबोधि सभा के तत्वावधान में कम्बोडिया गई थीं और उनका भव्य स्वागत करके कम्बोडिया-नरेश ने भारत दर्शन की इच्छा प्रगट की थी। उनकी यह यात्रा बुद्धगया, सारनाथ, कुशीनगर और लुम्बिनी के दर्शनार्थ विशेष रूप से हो रही है, किन्तु भारत सरकार की ओर से उनका स्वागत दिल्ली में किया जायेगा।

सारनाथ में अन्तर्राष्ट्रीय अध्ययन-मण्डल—सारनाथ में रहनेवाले लंका, बर्मा, तिब्बत, लद्दाख, नेपाल, भारत, पाकिस्तान, चीन, स्याम आदि देशों के सभी भिक्षुओं तथा छात्रों के सहयोग से एक अन्तर्राष्ट्रीय अध्ययन-मण्डल स्थापित हुआ है, जिसकी बैठक प्रति रविवार को होती है। इसके विषय, मन्त्री और वक्ता का निर्वाचन एक सप्ताह पूर्व हुआ करता है और अध्यक्ष तत्काल अध्ययन-मण्डल के सदस्यों में से कोई मनोनीत कर लिया जाता है। प्रति रविवार को किसी एक वक्ता का ही भाषण होता है, जिसके सम्बन्ध में श्रोतागण अनेक प्रश्न करते हैं, और वह उनका समाधान करता है। आजकल इस अध्ययन-मण्डल में लगभग तीस-चालीस व्यक्ति शामिल हुआ करते हैं। इस अध्ययन-मण्डल से छात्रों को विशेष लाभ होता है।

सारनाथ में डा० ससाकी—जापान के टोक्यो विश्वविद्यालय में बौद्धधर्म और दर्शन के प्राध्यापक डा० ससाकी गत १८ अगस्त को सारनाथ आये। सन्ध्या समय भदन्त शासनश्री महास्थविर के सभापतित्व में उनका स्वागत भारतीय महाबोधि सभा की ओर से किया गया।

प्रारम्भ में भिक्षु धर्मरत्न ने उनका परिचय दिया। तदुपरान्त डा० ससाकी ने जापानी संस्कृति, दर्शन, कला, शिक्षा आदि विषयों पर प्रकाश डालते हुए भारतीय प्रभाव का वर्णन किया और बतलाया कि अजन्ता के आधार पर जापान का प्रसिद्ध हिरोजी का मन्दिर बना है और वह भारतीय चित्रण-कला से ही अनुप्राणित हुआ है। उन्होंने आगे कहा कि जापानी लोग भारत को विश्व में सबसे महान्, पवित्र एवं धर्म का केन्द्र समझते हैं। यथार्थ में भारतीय संस्कृति एवं भारत देश महान् हैं।

अन्त में अध्यक्षपद से बोलते हुए भदन्त शासनश्री ने डा० ससाकी के सुन्दर भाषणके लिए धन्यवाद दिया। स्वागत-सभा के कार्यवाहक श्री ओमांग ने सभी उपस्थित व्यक्तियों की स्तुति की।

इस सभा में स्थानीय महाबोधि कालेज के छात्र, अध्यापक तथा महाबोधि सभा के सभी भिक्षु एवं कार्यकर्त्ता सम्मिलित हुए थे।

साँची में धर्मशाला का निर्माण—महाबोधि सभा साँची में एक धर्मशाला बनवाने जा रही है, जिसके निर्माण-कार्य में अनुमानतः ५०,०००) व्यय होंगे। प्रसन्नता की बात है कि अगस्त मास के प्रारम्भ में लंका के भूतपूर्व प्रधान मंत्री, वर्तमान प्रधान मंत्री और अन्य व्यक्तियों ने एक-एक सहस्र चन्दा देकर २५,०००) एकत्र कर लिया है। इस फण्ड में एक सहस्र से कम किसी से नहीं लिया जाता है। आशा है शेष रुपये भी शीघ्र प्राप्त हो जायँगे।

बुद्धगया में बौद्ध-दीक्षा—गत मास बुद्धगया में श्री भगवान दास नामक स्थानीय प्रतिष्ठित गृहस्थ ने बोधि वृक्ष के नीचे भदन्त सोमानन्द नायक महास्थविर द्वारा पञ्चशील लेकर बौद्ध-दीक्षा ग्रहण की।

नालन्दा महाविहार—समाचार प्राप्त हुआ है कि नवीन सत्रारम्भ के साथ नालन्दा स्थित पालि भाषा एवं बौद्ध-दर्शन के महाविद्यालय में देश-विदेश के छात्रों की संख्या पर्याप्त बढ़ गई है। नये छात्रों में स्याम, कम्बोडिया, वीयतनाम, सिंहल, जापान, तिब्बत, और फ्रांस के विद्यार्थी सम्मिलित हैं। स्मरण रहे, इस विद्यालय के डाइरेक्टर भदन्त जगदीश काश्यप हैं और यह बिहार सरकार की ओर से संचालित है।

दक्षिण भारत में बौद्धधर्म का प्रचार-कार्य—आजकल दक्षिण भारत में बौद्धधर्म का प्रचार-कार्य तीव्र गति से हो रहा है। भारतीय महाबोधि सभा तथा डा० भीमराव अम्बेडकर विशेष रूप से प्रयत्नशील हैं।

मैसूर की सरकार ने डा० अम्बेडकर को एक बौद्ध-कालेज स्थापित करने के लिए बंगलौर में पाँच एकड़ भूमि दी है। उन्होंने इसके अतिरिक्त तीन एकड़ और भूमि खरीदी है। उनका विचार मद्रास में भी एक बौद्ध कालेज आरम्भ करने का है। स्मरण रहे, डा० अम्बेडकर द्वारा बम्बई और हैदराबाद में दो कालेज संस्थापित हैं। उन्होंने बौद्धधर्म के प्रचारार्थ धर्म सम्बन्धी छः पुस्तकें लिखी हैं, जिनका अनुवाद आन्ध्र और तामिल भाषाओं में होने जा रहा है।

विश्वस्त सूत्र से ज्ञात हुआ है कि आगामी नवम्बर मास में सम्पूर्ण दक्षिण भारतीय बौद्धों का एक बृहत् सम्मेलन डा० अम्बेडकर के सभापतित्व में मद्रास में होगा, जिसकी तैयारी अभी से की जा रही है।

भिक्षु संघरक्षित की प्रदेश-चारिका—भारतीय महाबोधि सभा कालिम्पोंग के कार्यवाहक भिक्षु संघरक्षित मद्रास से कलकत्ता लौटते हुए गत २१ जुलाई को नागपुर गये और वहाँ बुद्ध सोसाइटी के मंत्री श्री अनन्त रामचन्द्र कुलकर्णी के आग्रह से २६ जुलाई तक रहे। इस बीच उनके अनेक स्थानों में भाषण हुए, जिनका हिन्दी में श्री कुलकर्णी जी ने भाषान्तर किया। अभ्यंकर कांग्रेस हाउस, साइंस कालेज, हरिजन सेवा संघ, नागपुर महाविद्यालय, हिस्लॉप कालेज, थियासोफिकल लॉज, रामकृष्ण मिशन तथा बहादुर ग्राम में क्रमशः उनके भाषण हुए। भाषण के विषय त्रिशरण और पंचशील, बौद्धधर्म और आधुनिक जगत्, कर्मवादी बौद्धधर्म, बौद्धधर्म और थियासोफी, बौद्धधर्म और आध्यात्मिक मार्ग, बौद्धधर्म और निर्वाण, छूआछूत और बौद्धधर्म आदि थे। प्रत्येक भाषण के समय जनता की काफी भीड़ रही। नगर के सभी विद्वानों एवं प्रतिष्ठित लोगों ने उनके भाषण से लाभ उठाया। विद्यार्थियों को तो उनका भाषण इतना अच्छा लगा कि सर्वत्र उनके 'बुद्धं सरणं गच्छामि' की ध्वनि से प्रसन्नता का वातावरण उत्पन्न हो गया।

अन्तिम दिन भिक्षु संघरक्षित ने डा० कुलकर्णी के घर मंगल सुत्त पर प्रवचन किया। प्रवचन बड़ा प्रभावशाली था। इसे सुनने के लिए श्री कुलकर्णी के परिवार वाले तथा मित्रगण काफी संख्या में उपस्थित थे। पाँच दिन के व्यस्त कार्यक्रम के पश्चात् भिक्षु संघरक्षित ने कलकत्ता के लिए प्रस्थान किया।

नासिक में धर्म-प्रचार—बुद्ध सोसाइटी नागपुर के प्रधान मन्त्री श्री अनन्त रामचन्द्र कुलकर्णी ने बौद्धधर्म के प्रचारार्थ नागपुर से नासिक की यात्रा की थी और वहाँ २८ जुलाई से १० अगस्त तक रहकर धर्म-प्रचार कार्य किया था। इस बीच उन्होंने पहली अगस्त को शिड्यूल्ड कास्टस् फेडरेशन के बालिका छात्रालय में भगवान् बुद्ध के जीवन चरित पर प्रकाश डाला था। दूसरी अगस्त को संगठा हाई स्कूल, और सार्वजनिक वाचनालय में बौद्ध-धर्म पर भाषण किया था तथा पाँचवीं अगस्त को पेठे हाई स्कूल में। श्री कुलकर्णी जी के इस प्रचार-कार्य से लोगों में बौद्ध-धर्म के प्रति काफी श्रद्धा उत्पन्न हो गई है।

मलाया में बौद्ध-प्रगति—विनयाचार्य किरिन्दे श्री धम्मानन्द स्थविर ने सूचित किया है कि मलाया में बौद्धधर्म के प्रचार का कार्य सफलता-पूर्वक हो रहा है। मलाया-स्थित लंका, चीन और स्याम के सभी बौद्ध मिल-जुलकर धर्म-प्रचार कार्य करते हैं। आजकल प्रति पूर्णिमा को मलाया-आकाशवाणी द्वारा भी ३० मिनट तक बौद्धधर्म का प्रचार-कार्य होता है। मलाया की 'शासन अभिवृद्धि' समिति ने आगामी तृतीय विश्व-बौद्ध सम्मेलन में भिक्षु पञ्ञासिरि को भेजने के लिए निश्चित किया है, जो आगामी नवम्बर मास में बर्मा में होनेवाला है।

यूरोप में धर्म-प्रचारक भिक्षु—आजकल लंका से दो धर्म-प्रचारक भिक्षु विनीत एवं महास्थविर नारद इंगलैण्ड और यूरोप के अन्य प्रदेशों में घूम घूमकर धर्म-प्रचार के कार्य कर रहे हैं। ये दोनों भिक्षु गत मार्च मास में यूरोप के लिए प्रस्थान किये थे।

विश्व बौद्ध भ्रातृत्व—आगामी नवम्बर मास में बर्मा के रंगून नगर से सात मील की दूरी पर स्थित काबाये में तृतीय विश्व बौद्ध भ्रातृत्व की बैठक होगी। स्मरण रहे इस समिति की पहली बैठक सन् '५१ में लंका में हुई थी और दूसरी गत वर्ष जापान में। इस वर्ष तृतीय बैठक बर्मा में होने जा रही है, जिसमें विश्व के सभी बौद्धदेशों के प्रतिनिधि सम्मिलित होंगे।

आठ ग्रेजुएट महिलाएँ अनागारिका बनीं—लंका की आठ पढ़ी-लिखी ग्रेजुएट विदुषी महिलाओं ने अनागारिका सुधर्मा बी० ए०, प्रिंसिपल महिला-विद्यालय कोलोम्बो के पास दीक्षित होकर अनागारिका बन गई हैं। इनका उद्देश्य है पवित्र जीवन बिताना तथा महिला-जगत् में पवित्र-जीवन बिताने की भावना उत्पन्न करना। सम्प्रति नवदीक्षित उक्त अनागारिकाएँ ध्यान-भावना एवं बौद्धधर्म तथा पालि भाषा के अध्ययन में अपना समय व्यतीत कर रही हैं। इनके इस प्रकार के महान् त्याग की लंका द्वीप में घर-घर चर्चा हो रही है।

श्री पेन का देहावसान—यह लिखते हुए हमें संवेग उत्पन्न हो रहा है कि लन्दन बुद्धिष्ट सोसाइटी के अध्यक्ष श्री फ्रांसिस जे० पेन अब इस लोक में नहीं रहे! श्री पेन इस शताब्दी के प्रारम्भ में इङ्गलैण्ड में धर्म-प्रचारकों में से एक थे। उन्होंने अपने जीवन काल में इङ्गलैण्ड में बौद्धधर्म के प्रचारार्थ अनेक महत्त्वपूर्ण कार्य किये थे। उनके पुत्र लेफ्टिनेन्ट कर्नल श्री इ० एफ० जे० पेन ने भिक्षु नारद एवं भिक्षु विनीत को निमन्त्रित करके अपने दिवंगत पिता का अन्त्येष्टि संस्कार तथा श्राद्धकर्म बड़ी धूमधाम से किया।

बौद्धकप्तान का आत्मोत्सर्ग—गत १२ जुलाई को सबेरे रेडियो द्वारा प्राप्त समाचार से विदित हुआ कि पान अमेनियन मालवाहक जहाज, जिसका नाम सान मार्डेनो है, ११ की रात को भारत के पश्चिमी समुद्रतट के जफराबाद नामक स्थान के पास डूब गया। जहाज जमीन से टकराकर फंस गया था।

एक अमेरिकी तैलवाहक तथा एक भारतीय जहाज जा रहे थे। उनको जब रेडियो पर जहाज के डूबने का समाचार मिला तब वे उसकी रक्षा के लिए उधर ही मुड़ गये।

इस पान अमेनियन जहाज के कैप्टन श्री सी० एच० टर्नर अपने सभी कर्मचारियों को, जिनकी संख्या ४० थी, डूबते हुए जहाज से हटाने के बाद स्वयं भी उसी जहाज के साथ डूब गये। श्री टर्नर की अवस्था ५५ वर्ष की थी और ये न्यूजीलैंड के निवासी थे।

श्री टर्नर बौद्धमतावलम्बी थे। उन्होंने अन्ततक बड़ी बहादुरी से अपने कर्तव्य का पालन किया। उन्होंने अपने सभी साथियों को डूबते जहाज के डेक पर खड़े होकर सुरक्षित स्थान में भेजने की व्यवस्था की और स्वयं जहाज से नहीं हटे।

जो ४० व्यक्ति बचे हैं उनमें ३९ चीनी बौद्ध और जहाज के एक ब्रिटिश चीफ इंजीनियर हैं। इस दुर्घटना की उनके मन पर इतनी मार्मिक चोट थी कि वे मूक हो गये थे और उनके चेहरे सफेद पड़ गये थे।

स्वर्ण-बुद्धमूर्ति प्राप्त—पूर्वी बंगाल के बोग्रा नामक स्थान में अभी हाल ही में एक बहुत बड़ी सोने की बुद्ध-मूर्ति प्राप्त हुई है। यह मूर्ति एक किसान को खेत जोतते समय भूमि के अन्दर से प्राप्त हुई जो इस समय पूर्वी पाकिस्तान-सरकार की संरक्षता में है और उसकी सुरक्षा की पूरी व्यवस्था कर दी गई है।

धर्मसंगायन में वर्षाकालीन अवकाश—बर्मा में होनेवाले छठें धर्मसंगायन का कार्यक्रम गत १५ जुलाई को वर्षा के तीन मास के लिए स्थगित कर दिया गया। संगीतिकारक सभी भिक्षु वर्षावास करने के लिए अपने-अपने विहार वापस चले गये। वे फिर आश्विन पूर्णिमा को प्रवारणा करके एकत्र होंगे और संगायन आरम्भ होगा। वैशाख पूर्णिमा से आषाढ़ पूर्णिमा तक, इन दो महीनों में 'बर्मी बौद्ध महिला मण्डल' ने ५२,७२८ भिक्षुओं की सुश्रूषा की।

———

हिन्दी में बौद्धधर्म की पुस्तकें

दीघनिकाय—राहुल सांकृत्यायन ६)
मज्झिम निकाय— " ८)
विनय पिटक " ८)
संयुत्त निकाय—भिक्षु ज. काश्यप और भिक्षु धर्मरक्षित प्रथम भाग ७), द्वितीय भाग ५)
धम्मपद (कथाओंके साथ)—भिक्षु धर्मरक्षित २॥)
धम्मपद (गुटका)— " ॥)
धम्मपद—अवधकिशोर नारायण १॥)
सुत्तनिपात—भिक्षु धर्मरत्न २॥)
खुद्दकपाठ—भिक्षु धर्मरत्न ।)
पालि महाव्याकरण—भिक्षु जगदीश काश्यप ६)
मिलिन्द प्रश्न— " ६॥)
भगवान् बुद्ध की शिक्षा—देवमित्त धर्मपाल ।-)
महाकारुणिक तथागत—वेदराज प्रसाद ॥।)
बुद्धचर्या—राहुल सांकृत्यायन (सजिल्द) ९)
तथागत—आनन्द कौसल्यायन १॥)
बुद्ध और उनके अनुचर— " १॥।)
बौद्धचर्या पद्धति—बोधानन्द महास्थविर १॥)
सरलपालि शिक्षा—भिक्षु सद्धातिस्स १॥)
बौद्ध कहानियाँ—व्यथित हृदय १॥)
बुद्ध-कीर्तन—प्रेमसिंह चौहान 'दिव्यार्थ' १॥)
बुद्धार्चन— " ।)
बोधिद्रुम—सुमन वात्स्यायन ।=)
भगवान् हमारे गौतम बुद्ध—प्रो० मनोरंजनप्रसाद-)
बुद्धदेव—शरत्कुमार राय १॥।)
थेरी गाथायें—भरतसिंह उपाध्याय १॥)
बुद्ध और बौद्ध साधक— " १॥)
बुद्धधर्म के उपदेश—भिक्षु धर्मरक्षित २)
बौद्ध विभूतियाँ— " १॥)
लंका-यात्रा— " १॥)
नेपाल-यात्रा— " ४॥)
कुशीनगर का इतिहास " २॥)
पालि-पाठ-माला— " १)
जातिभेद और बुद्ध— " ॥)
तेलकटाह गाथा— " ।)
बौद्ध-शिशु-बोध— " ।)
कुशीनगर-दिग्दर्शन— " ।)
तथागत का प्रथम उपदेश— " ।)
सारनाथ-दिग्दर्शन— " ।)
बुद्धकालीन भारत का भौगोलिक परिचय ॥)
पालि जातकावली—बटुकनाथ शर्मा २।)
बुद्ध-वचन—भिक्षु आनन्द कौसल्यायन ॥)
बुद्ध-शतकम्— " ।)
महापरिनिर्वाण सूत्र—भिक्षु ऊ कित्तिमा १।)
नालन्दा विश्वविद्यालय—चन्द्रिका सिंह उपासक ॥=)
श्रद्धा के फूल—(कहानी-संग्रह) कुमारी विद्या ।=)
बुद्ध-अर्चना—(कविता) " =)

नागरी लिपि में पालि ग्रन्थ

जातकट्ठकथा—भिक्षु धर्मरक्षित ९)
तेलकटाह गाथा— " ।)
धम्मचक्कप्पवत्तन सुत्त— " ।)
पालि-पाठ-माला— " १)
सुत्तनिपात—भिक्षु धर्मरत्न २॥)
खुद्दकपाठ— " ।)
सिङ्गाल सुत्त—भिक्षु ऊ कित्तिमा ॥)

बृहद् सूचीपत्र के लिये =) की टिकट के साथ लिखें

प्राप्ति स्थान :—

महाबोधि पुस्तक भण्डार, सारनाथ, बनारस

प्रकाशक—भिक्षु एम० संघरत्न, महाबोधि सभा, सारनाथ, (बनारस)
मुद्रक—ओम् प्रकाश कपूर, ज्ञानमण्डल यन्त्रालय, कबीरचौरा बनारस ।

धर्मदूत

महाबोधि सभा सारनाथ का मुखपत्र

...म्बर १९५४

...१९ : अंक—५

वार्षिक—३) एक अंक का ।=)

विषय-सूची

'धर्मदूत' के नियम--

१—"धर्मदूत" भारतीय महाबोधि सभा का हिन्दी मासिक मुखपत्र है ; जो प्रति पूर्णिमा को प्रकाशित होता है।

२—"धर्मदूत" के ग्राहक किसी भी मास से बनाये जा सकेंगे।

३—पत्र-व्यवहार करते समय ग्राहक-संख्या एवं पूरा पता लिखना चाहिये, ताकि पत्रिका के पहुँचने में गड़बड़ी न हो।

४—लेख, कविता, समालोचनार्थ पुस्तकें (दो प्रतियाँ) और बदले के पत्र सम्पादक के नाम तथा प्रबन्ध सम्बन्धी पत्र और चन्दा व्यवस्थापक के नाम पर भेजना चाहिये।

५—किसी लेख अथवा कविता के प्रकाशित करने या न करने, घटाने-बढ़ाने या संशोधन करने का अधिकार सम्पादक को है। बिना डाकखर्च भेजे अप्रकाशित कविता या लेख लौटाये न जा सकेंगे। जिस अङ्क में जिनका लेख या कविता छपेगी वह अङ्क उनके पास भेज दिया जायगा।

६—"धर्मदूत" में केवल बौद्धधर्म, कला, संस्कृति, साहित्य, पुरातत्व आदि सम्बन्धी लेख ही प्रकाशित किये जा सकेंगे।

७—किसी लेखक द्वारा प्रकटित मत के लिये सम्पादक उत्तरदायी नहीं है।

८—"धर्मदूत" का वार्षिक मूल्य ३) और आजीवन ५०) है।

व्यवस्थापक
"धर्मदूत" सारनाथ, बनारस

चरथ भिक्खवे चारिकं बहुजनहिताय बहुजनसुखाय लोकानुकम्पाय अत्थाय हिताय सुखाय देवमनुस्सानं। देसेथ भिक्खवे धम्मं आदिकल्याणं मज्झे कल्याणं परियोसानकल्याणं सात्थं सव्यञ्जनं केवलपरिपुण्णं परिसुद्धं ब्रह्मचरियं पकासेथ। महावग्ग, (विनय-पिटक)

'भिक्षुओ! बहुजन के हित के लिये, बहुजन के सुख के लिए, लोक पर दया करने के लिये, देवताओं और मनुष्यों के प्रयोजन के लिये, हित के लिये, सुख के लिये विचरण करो। भिक्षुओ! आरम्भ, मध्य और अन्त—सभी अवस्था में कल्याणकारक धर्म का उसके शब्दों और भावों सहित उपदेश करके, सर्वांश में परिपूर्ण परिशुद्ध ब्रह्मचर्य का प्रकाश करो।'

सम्पादकः—त्रिपिटकाचार्य भिक्षु धर्मरक्षित

वर्ष १९ | सारनाथ, सितम्बर | बु० सं० २४९८ / ई० सं० १९५४ | अङ्क ५

बुद्ध-वचनामृत

'अपने कर्म से ही सुगति-दुर्गति, प्रार्थना से नहीं'

एक समय भगवान् नालन्दा में विहार करते थे। असिवन्धक ग्रामणी भगवान् के पास आया और बोला—'भन्ते! ब्राह्मण! मरे को बुलाते हैं, चलाते हैं, स्वर्ग में भेज देते हैं। भन्ते! भगवान् अर्हत् सम्यक् सम्बुद्ध हैं। भगवान् ऐसा कर सकते हैं कि सारा लोक मरने के बाद स्वर्ग में उत्पन्न हो सुगति को प्राप्त होवे।' 'ग्रामणी! तो मैं तुम्हीं से पूछता हूँ, जैसा समझो उत्तर दो। क्या समझते हो ग्रामणी! कोई पुरुष जीव-हिंसा करने वाला, चोरी करने वाला, व्यभिचार करने वाला, झूठ बोलने वाला, चुगली खाने वाला, कठोर बोलने वाला, गप्प हाँकने वाला, लोभी, नीच, मिथ्या-दृष्टि वाला हो। तब बहुत से लोग आकर उसकी प्रशंसा करें, हाथ जोड़ें, निवेदन करें—आप मरने के बाद स्वर्ग में उत्पन्न हो अच्छी गति को प्राप्त हों। ग्रामणी! तो तुम क्या समझते हो, वह पुरुष मरने के बाद स्वर्ग में उत्पन्न हो अच्छी गति को प्राप्त होगा?' 'नहीं भन्ते!' 'ग्रामणी! जैसे, कोई पुरुष गहरे जलाशय में एक बड़ा पत्थर छोड़ दे। वहाँ बहुत से लोग आकर उसकी प्रशंसा करें, हाथ जोड़ें, निवेदन करें—हे पत्थर! ऊपर आवें, उपरा जायँ, स्थल पर चले आवें। ग्रामणी! तो तुम क्या समझते हो, वह पत्थर स्थल पर चला आवेगा?' 'नहीं भन्ते!' 'ग्रामणी! वैसे ही जो पुरुष जीव-हिंसा करने वाला है, उसको बहुत से लोग आकर निवेदन करें भी, तो वह मरने के बाद नरक में उत्पन्न हो दुर्गति को प्राप्त होगा। जैसे कोई घी या तेल के घड़े को गहरे जलाशय में डुबो कर फोड़ दे। तब उसमें जो कंकड़-पत्थर हों नीचे डूब जायँ। जो घी या तेल हो सो ऊपर छहला जाय। तब बहुत से लोग प्रार्थना करें—हे घी! हे तेल! आप डूब जायँ, आप नीचे चले जायँ। तो यह सम्भव नहीं। ग्रामणी! अपने कर्म से ही सुगति-दुर्गति होती है, प्रार्थना से नहीं।'

संयुत्त निकाय ४०. ६

आनापानसति और आरोग्य

प्रो० लालजीराम शुक्ल

मन की अनेक प्रकार की कलुषित भावनाओं से मुक्त होने का सर्वोत्तम उपाय आनापानसति का अभ्यास है। यह अभ्यास भगवान् बुद्ध द्वारा बताया गया है, इसके द्वारा मनुष्य अनेक प्रकार के व्यर्थ के विचारों से मुक्त हो जाता है। भगवान् बुद्ध ने बताया है कि मनुष्य को हर समय तीन प्रकार के वितर्क दुःखी बनाये रहते हैं—काम-वितर्क, अमैत्री-वितर्क, और व्यापाद-वितर्क।

कामवितर्क कामवासनासम्बन्धी अनेक प्रतीकों को मनमें लाते हैं। इसके कारण मनुष्य अनेक प्रकार के काम कृत्यों में लग जाता है। अमैत्री वितर्क के कारण मनुष्य दूसरों की निन्दा करता और दुर्गुणों का चिंतन करता है और उनका विनाश करने की अनेक बातें सोचता है। व्यापाद-वितर्क ऐसे विचार हैं जो उपयोगी न होकर भी बार-बार मन में आते रहते हैं और जिन्हें हम हटाने में असमर्थ रहते हैं। काम-वितर्क का प्रतिकार अशुभ भावना से होता है अर्थात् शरीर के विभिन्न अवयवों के प्रति अशुभ विचार बार बार लाने से काम-वासना वश में होती है। शारीरिक अशुभता का अर्थ शरीर की गंदगी और नश्वरता है। अमैत्री भावना का प्रतिकार मैत्री भावना के अभ्यास से होता है और व्यापाद-वितर्क का प्रतिकार आनापानसति के अभ्यास से होता है। आनापानसति का अभ्यास मानसिक और शारीरिक शैथिलीकरण की अवस्था में अपने मन में आने-जानेवाले विचारों के ऊपर ध्यान देने से होता है। भगवान् बुद्ध का कथन है कि मनुष्य विधि-पूर्वक आनापानसति का अभ्यास नित्य-प्रति करता रहे तो व्यक्ति को न केवल अनेक प्रकार के मानसिक लाभ होंगे वरन् उसे समाधि अवस्था भी प्राप्त हो सकती है।

आनापानसति "प्राणअपान स्मृति" का पालि रूप है। यह प्राणायाम से पृथक् अभ्यास है। इसमें चित्त को साँस के आने जाने पर एकाग्र करना पड़ता है। यह मानसिक अभ्यास है। आनापान सति का अभ्यास जिस प्रकार स्वस्थ्य पुरुषों के लिए उपयोगी है उसी प्रकार वह मानसिक रोगियों के लिये भी उपयोगी है। मानसिक रोग की अवस्था में मनुष्य के विचार उसके वश में नहीं रहते। अकारण ही उसके मन में अनेक प्रकार की अशुभ भावनाएँ उठा करती हैं। रोगी के मन में कभी कल्पना हो जाती है कि उसका कोई सम्बन्धी मर जायगा, कोई उसे जहर दे देगा, अथवा उसे कोई भारी शारीरिक रोग हो जायगा। कभी-कभी उसके मन में विचार आता है कि समाज के सभी लोग उसका तिरस्कार करेंगे। कभी-कभी गंदगी के विचार अथवा अपनी ही किसी भूल के विचार रोगी को सताते रहते हैं इन विचारों के कारण रोगी कभी चैन नहीं पाता है। इस प्रकार के सभी विचार आनापानसति के अभ्यास से समाप्त हो जाते हैं।

मानसिक रोगी की इच्छा-शक्ति अपने आपसे लड़ते-लड़ते कमजोर हो जाती है। इसके कारण उसमें किसी प्रकार के बुरे विचारों को मस्तिष्क में आने से रोकने की कोई शक्ति नहीं रह जाती। इस शक्ति की प्राप्ति के लिए किसी ऐसे अभ्यास की आवश्यकता है जिसका सम्बन्ध किसी एक महान पुरुष के प्रयास से हो। आनापानसति का अभ्यास उसके शिक्षक भगवान् बुद्ध की मूर्ति को मानस-पटल पर ले आता है। इसके कारण शुभ विचारों के निवारण में विशेष प्रकार की सहायता मिलती है। दृढ़-इच्छाशक्ति के व्यक्ति के ध्यानमात्र से मनुष्य में इच्छा-शक्ति का बल उसी प्रकार बढ़ जाता है जिस प्रकार चुम्बक लोहे के समीप आने से साधारण लोहे का बल बढ़ जाता है अर्थात् स्वयं अपने आप में चुम्बक के गुणों को अपने आप आते हुए पाता है।

आनापानसति के अभ्यास की पूर्व अवस्था में अनेक प्रकार के विचार प्रचण्डता के साथ मस्तिष्क में आते हैं। अभ्यास से ये विचार धीरे-धीरे कमजोर होते जाते हैं। कई दिनों के इस प्रकार के अभ्यास करने पर मनुष्य एक

अपूर्व मानसिक शान्ति का अनुभव करने लगता है। जैसे जैसे इस शान्ति की अनुभूति बढ़ती जाती है वैसे-वैसे व्यक्ति बाहरी साँस आने जाने की क्रिया को भूलने लगता है और उसे केवल आन्तरिक शान्तिमात्र का ज्ञान रह जाता है। इस शान्ति में मन को लय कर देने पर व्यक्ति को नींद आ जाती है। इस प्रकार के थोड़े ही काल के अभ्यास से लाखों प्रकार के मानसिक क्लेश समाप्त हो जाते हैं।

आनापानसति का अभ्यास न केवल मानसिक रोगों की एक महान औषधि है वरन् वह शारीरिक रोगों की भी महान् औषधि है। इस प्रकार के अभ्यास से अतिसार, पेट की पीड़ा, शूल, हृदय की धड़कन व पीड़ा, मस्तिष्क की पीड़ा, आँख की पीड़ा, कम हो जाती है। इसके करने से अनेक प्रकार के शारीरिक रोग देखते-देखते कम होते हैं और बहुत से रोग समाप्त भी हो जाते हैं। मनोविकार जनित शारीरिक रोगों के लिए तो यह रामबाण है।

आनापानसति का अभ्यास करना बड़ा ही सरल है। इसे कोई भी व्यक्ति लेटे हुए अथवा बैठे हुए, तथा चलते-फिरते सब समय कर सकता है। अभ्यास की प्रमुख बात इतनी है कि मनुष्य अपनी साधारण साँस के आने जाने की क्रिया के ऊपर ध्यान दे। पहले-पहल वह इसे थोड़े काल ही तक कर सकता है। परन्तु बौद्ध भिक्षु इसे वर्षों तक सभी काम करते हुए करते रहते हैं। लेखक के एक मित्र भिक्षु जगदीश काश्यप ने सब समय इसे एक वर्ष तक किया। साल के अन्त में उनका मन ऐसी स्थिति में आ गया कि वे सात दिन तक बिना सोये रह गये। परन्तु इससे उन्हें कोई क्षति न हुई।

आनापानसति का अभ्यास जितना सरल है उतना ही कठिन भी है। संसार की कुछ बड़ी ही सरल बातें महान पुरुषों के लिए दुर्लभ होती हैं। आनापानसति के अभ्यास में जो प्रयत्न करना पड़ता है वह सामान्य प्रयत्नों से भिन्न है। सब प्रयत्न छोड़कर आनापानसति करना चाहिये। कुछ नहीं करके रहना, कुछ करते रहने से कहीं अधिक कठिन है। अतएव इस अभ्यास की पूर्व अवस्था में इसे लेटकर करना ही अच्छा है। यदि आनापानसति के अभ्यास का सहयोग स्वस्थ्य आत्म-निर्देश से कर दिया जाय तो रोगी को अपूर्व लाभ होता है। फिर यह अद्भुत मानसिक और शारीरिक शक्ति का जागरण करता है और इसके द्वारा जटिल से जटिल मानसिक ग्रन्थियाँ थोड़े ही काल में समाप्त हो जाती हैं। मानसिक रोगों के उपचार के इस प्रकार के अभ्यास का उपयोग डा० विलियम ब्राउन ने लड़ाई के मानसिक रोगियों के लाभार्थ किया था और इसमें जो उन्हें सहायता मिली वह सभी लोगों के लिए पथ-प्रदर्शक है।

रोगी से लेटाकर आनापानसति का अभ्यास कराना अच्छा है। जब रोगी एक साधारण से बिस्तर पर लेट जाय तब उसे अपने एक-एक अंग पर ध्यान एकाग्र करने को कहा जाय। इस प्रकार शरीर के विभिन्न अंगों पर चित्त के एकाग्र करने से मनुष्य का मन बाहर की ओर सब बातों से हटकर शारीरिक क्रियाओं पर आ जाता है। रोगी से कह दिया जाय कि वह अनुभव करे कि उसका एक-एक अंग शिथिल हो रहा है। इसके पश्चात् रोगी को साँस के आने जाने पर चित्त एकाग्र करने को कहा जाय। पहले रोगी से उसी प्रकार साँस लिवाना चाहिये जिस प्रकार सोता हुआ मनुष्य साँस लेता है। इस प्रकार का पथ-प्रदर्शन, उक्त क्रिया को स्वयं करके, रोगी के समक्ष करना पड़ता है। रोगी अनुकरणमात्र करता है। फिर रोगी को नींद आ जाती है। यह नींद रोग की विनाशक होती है। शरीर में शिथिलता लाने को और चित्त एकाग्रता के लिए चिकित्सक रोगी के ऊपर धीरे-धीरे हाथ सिर से पैर तक फेरता है। इससे नींद आने में सहायता मिलती है। जब रोगी दो चार बार इस अभ्यास को चिकित्सक के समक्ष कर ले, तब वह इस अभ्यास को स्वतन्त्र रूप से चिकित्सक की अनुपस्थिति में कर ले सकता है। रोग जितना ही जटिल होता है अभ्यास भी उतने दिन तक होना आवश्यक होता है। कोई इस अभ्यास को दिन में एक बार और कोई दिन में इसे दो बार करता है। सुबह और संध्या का गोधूली काल इसके लिए उपयोगी है।

आनापानसति के अभ्यास का प्रत्यक्ष लाभ लेखक ने अपने एक विद्यार्थी के अनिद्रा के रोग के घटाने में

देखा। यह विद्यार्थी तीन साल से अनिद्रा और भयानक स्वप्नों के रोग से पीड़ित था। लेखक इस विद्यार्थी को भिक्षु जगदीश काश्यप के पास ले गया। उन्होंने उस विद्यार्थी को एक आराम कुर्सी पर शरीर की शिथिल अवस्था में बिठा दिया। स्नेहपूर्वक उससे कई बातें पूछीं, वे स्वयं एक चबूतरे पर आसन लगाकर बैठ गये और इस प्रकार साँस लेने और छोड़ने लगे जैसे एक सोता हुआ आदमी साँस लेता और छोड़ता है। रोगी को भी यही क्रिया करने को कहा। उनकी नाक से खर्राटे की आवाज आती थी। उस समय सम्पूर्ण वातावरण शान्त था। लेखक के देखते-देखते रोगी को नींद आ गयी। वह उसी आरामकुर्सी पर बहुत देर तक सोता रहा। इसके पश्चात् अपने घर में इसी प्रकार का अभ्यास करते हुए प्रतिदिन सोने लगा। रोगी के इस प्रकार नींद प्राप्त करने में भिक्षुजी की शिक्षा, उनका शान्त व्यक्तित्व, उनके सन्निर्देश और उनका बताया हुआ अभ्यास सभी काम करते थे। इस रोगी से अपने उन सम्बन्धियों से मैत्रीभावना का अभ्यास कराया गया जिसके प्रति उसका द्वेष था। इसके परिणाम-स्वरूप इस रोगी का अनिद्रा का रोग और उसकी मानसिक बेचैनी सब समय के लिए जाती रही।

उक्त प्रयोग देखने के पश्चात् स्वयं लेखक ने उक्त अभ्यास अनेक प्रकार के रोगियों के हितार्थ उनसे कराया और उनके स्वास्थ्यलाभ में इससे बड़ी सहायता मिली। वास्तव में आनापानसति के अभ्यास द्वारा रोगी को दिये हुए सन्निर्देश उसके अचेतन मन में सरलता से चले जाते हैं। जो भले निर्देश वह बाहर से पाता है वे इस अभ्यास के कारण स्वयं के आत्मनिर्देश बन जाते हैं। इससे उसकी इच्छा-शक्ति प्रबल हो जाती है और अनेक प्रकार के अभद्र विचार उसके मन से सुगमता से छूट जाते हैं। मनुष्य का किसी प्रकार का विचार तभी सफल होता है जब वह उसी रूप में अचेतन मन में प्रवेश कर जाता है। यदि कोई व्यक्ति अपने आपको सन्निर्देश देता है तो यह निर्देश पर-निर्देश में परिणत हो जाता है। इस प्रकार आरोग्य के सन्निर्देश बीमारी को ही बढ़ा देते हैं। यदि किसी व्यक्ति को अपने आरोग्य निर्देश को सफल बनाना है तो उसे सभी विचारों को मस्तिष्क से हटा देना और इस प्रकार की विचार शून्यता में सो जाना नितान्त आवश्यक है। आनापानसति के कारण मनुष्य विचार-शून्य हो जाता है। इस विचार-शून्यता की अवस्था में उसके आन्तरिक मन में चिकित्सक के सन्निर्देश चले जाते हैं। मानसिक शैथिलीकरण अथवा निद्रावस्था में चिकित्सक द्वारा दिया गया निर्देश उसके मन में आरोग्य की भावनायें जाग्रत करने में सहायक होता है फिर ये भावनाएँ रोगी को आरोग्य प्रदान कर देती हैं। हमें यहाँ यह स्मरण दिलाना आवश्यक है कि जब किसी व्यक्ति का चेतन मन सोता है तब उसका समस्त मन नहीं सोता। उसका अचेतन मन इस समय जागता रहता है और जिस प्रकार के निर्देश हम अचेतनावस्था में देते हैं वे उसी प्रकार उसके आन्तरिक मन में पहुँच जाते हैं और उनसे रोगी का लाभ होता है।

आनापानसति का अभ्यास मनुष्य का अहंकार दूर करने का सर्वोत्तम उपाय है। अहंकार की वृद्धि ही रोगमूलक है। जहाँ-जहाँ अहंकार की वृद्धि होती है वहाँ वहाँ मनुष्य में सन्देह की मनोवृत्ति बढ़ जाती है। इसके कारण जो कुछ मनुष्य अपने कल्याण के लिए सोचता है वह उसके अकल्याण का कारण बन जाता है। अहंकार को हटा देने से संशय की मनोवृत्ति हट जाती है और इस मूल प्रवृत्ति के हट जाने से अचेतन मन की ध्वंसात्मक प्रवृत्तियाँ भी शान्त हो जाती हैं। प्रवृत्तियों के शान्त करने में श्रद्धा की मनोवृत्ति भी बहुत काम करती है। यदि रोगी को आनापानसति की महत्ता बिना बताये हुए उससे साँस उच्छ्वास पर चित्त एकाग्रता का अभ्यास कराया जाय तब भी उसका लाभ होगा। परन्तु यदि धार्मिक तत्व से इसे जोड़ दिया जाय तब लाभ और भी अधिक हो जाता है। जिन लोगों का अहंकार बढ़ा चढ़ा रहता है अर्थात् जो अपनी धन, बुद्धि, अथवा समाज स्थिति को विशेष महत्व देते हैं उन्हें यह अभ्यास उतना ही कठिन होता है। यह अभ्यास सरल चित के लोगों के लिए सुगम होता है। इससे न केवल मानसिक रोगों में लाभ होता है वरन् मनुष्य की सामान्य मानसिक शक्तियों की वृद्धि में भी अपार लाभ होता है।

क्रोध का शमन कैसे करें ?

श्री भरतसिंह उपाध्याय

क्रोध एक ऐसा मनोभाव है जो उत्पन्न होते ही मनुष्य के सौमनस्य को नष्ट कर देता है, उसे दुःख की स्थिति में ले जाता है, पर-अनिष्ट की भावना क्रोध में अन्तर्हित रहती है, और जिस हृदय में यह उत्पन्न होता है उसे भी जलाता है, अतः आत्म-पीड़ा-जनक और पर-पीड़ा-जनक यह भाव है। क्रोधी मनुष्य कभी अहिंसक नहीं बन सकता, जिसे क्रोध विहित है, उसे हिंसा भी विहित है, ऐसा कहा जा सकता है।

क्रोध क्यों उत्पन्न होता है ? मनुष्य क्यों क्रोध करते हैं ? अतृप्त कामना से क्रोध की उत्पत्ति है, 'काम से क्रोध उत्पन्न होता है' कामना के कारण व्यक्ति एक दूसरे से लड़ते हैं, झगड़ते हैं, कठोर वाणी से एक दूसरे को बेधते हैं, कामना के कारण ही वर्ग-संघर्ष है, राष्ट्रों का एक दूसरे से संघर्ष है, व्यष्टि और समष्टि में व्याप्त यह काम-मूलक क्रोध जीवन को क्षुब्ध बनाये हुए है, प्रति-शरीर शम के अभ्यास से इसके वेग को घटाया जा सकता है।

सम्पूर्ण निष्कामता में क्रोध की पूर्ण विमुक्ति रखी हुई है। परन्तु यह लम्बे और तीव्र प्रयत्नों से साध्य है। इच्छाओं से मुक्त होना साधारण जीवन में सम्भव नहीं है। परन्तु अभ्यास से इच्छाओं को घटाया जा सकता है। जैसे-जैसे हम सांसारिक वस्तुओं की अनित्यता और दुःखमयता का चिन्तन करते हैं, हमारी इच्छाएँ कम होने लगती हैं, हमारी आवश्यकताएँ घटने लगती हैं, और धीरे-धीरे वह आधार ही टूटने लगता है जिसका सहारा लेकर काम-क्रोधादि सम-प्रतिपक्षी शत्रु आकर हमें पीड़ित करते हैं। शमात्मक धर्म के उपदेष्टा भगवान् बुद्ध ने कहा है कि चित्त के अनेक दोष सम्यक् विमर्श के द्वारा दूर किये जा सकते हैं, क्रोध को शमन करने के लिए मन का अभ्यास क्या है ?

क्रोध की अत्यन्त साधारण और प्राथमिक अभि-व्यक्ति कड़ी वाणी में होती है। जिसे कड़े शब्द बोलने की आदत है उसे सोचना चाहिये कि दूसरों के पास भी जीभें हैं। एक बार की बात है कि भगवान् बुद्ध के तिष्य नामक एक भिक्षु-शिष्य उनके पास उदास और बेमन आकर बैठ गये। भगवान् ने पूछा, 'तिष्य ! तू उदास और बेमन क्यों है ?' तिष्य ने उत्तर दिया, 'भन्ते ! मेरे साथी भिक्षु मुझसे कड़ी वाणी बोलते हैं, मेरे साथ ठीक व्यवहार नहीं करते' भगवान् जानते थे कि स्वयं तिष्य की वाणी में विष है। उन्होंने उससे कहा, 'तिष्य ! तेरे साथी भिक्षु तुझे पीड़ित करते हैं, इसका कारण यह है कि तेरे जीभ है और तू दूसरों की जीभ को सहन नहीं कर सकता, तेरे लिये यह उचित नहीं है कि तू स्वयं तेज जबान रखे और दूसरों की तेज जबान को सहन न करे, जिस किसी को तेरे समान जीभ हो उसे दूसरों की जीभ को भी सहन करने के लिए तैयार रहना चाहिये। तिष्य ! क्रोध मत कर, तेरे लिए विनम्रता श्रेष्ठ है। क्रोध को रोकना श्रेष्ठ है। इसी के लिए ब्रह्मचर्य का जीवन बिताया जाता है।

क्रोध से क्रोध को हम कभी जीत लेंगे, यह शक्य नहीं। अ-क्रोध से क्रोध को जीता जाता है। इसे भगवान् बुद्ध ने 'सनातन धर्म' कहा है। विश्व के किसी शास्ता को इसमें विवाद नहीं है। गाली को हमें सहन ही करना पड़ेगा, यदि हम सत्य के अभिमुख होना चाहते हैं। भिक्षु फग्गुण को गलियाँ दी गयी थीं। भगवान् ने उससे कहा, 'फग्गुण ! चाहे तेरे सामने कोई तेरी शिकायत करे, या हाथ से पीटे भी, या ढेले से, दण्ड शस्त्र से प्रहार भी करे, तो भी फग्गुण ! तू सब सांसारिक विचारों को छोड़ना, जो तेरे भीतर घर किये वितर्क हैं, उन्हें छोड़ना, वहाँ फग्गुण ! तुझे इस प्रकार सोचना चाहिए—मेरे चित्त में विकार

नहीं आने पायेगा, दुर्वचन मैं मुँह से नहीं निकालूँगा, द्वेष-रहित हो दूसरे के प्रति मैत्री-भाव रखूँगा, अनुकम्पक हो विहरूँगा। फग्गुण! इस प्रकार तुझे अपने को शिक्षित करना चाहिए।'

ऐसा हो सकता है कि क्रोध हमारे अन्दर विद्यमान रहे और उसे अभिव्यक्त न कर हम शान्त पुरुष की पदवी पाते रहें। इस स्थिति को प्रयत्नपूर्वक दूर करना होगा, जीवन का गहरा प्रत्यवेक्षण करना होगा। कड़ी से कड़ी परिस्थिति में अपनी परीक्षा करनी पड़ेगी, लोग हमसे कड़ी बात बोल सकते हैं, हमारी झूठी निन्दा कर सकते हैं, हम पर मिथ्या अभियोग लगा सकते हैं, हर अवस्था में हमें इस प्रकार मन का अभ्यास करना चाहिये, मैं अपने चित्त को विकार-युक्त न होने दूँगा और न दुर्वचन मुँह से निकालूँगा, मैत्री-भाव से हितानुकम्पी होकर विहरूँगा। उस विरोधी व्यक्ति को भी मैत्री-पूर्ण चित्त से आप्लावित कर विहरूँगा उसको लक्ष्य कर सारे लोक को मैत्री-पूर्ण चित्त से आप्लावित करूँगा, जिसका कोई परिमाण नहीं है, ये शब्द उन अनुकम्पक शास्ता के हैं जिन्होंने आज से ढाई हजार वर्ष पूर्व अपने शिष्यों के सामने खड़े हुए कहा था 'ऐसा तुम्हें सीखना चाहिए।'

मैत्री-भावना क्रोध का प्रतिपक्षी साधन है। जिसने मैत्री भावना का अभ्यास किया है उसे क्रोध उत्पन्न नहीं हो सकता। यदि कोई कहे कि उसने मैत्री भावना का अभ्यास किया है और फिर भी क्रोध या द्वेष उसके चित्त को दूषित किये हुए है तो यह बात बुद्ध मानने को तैयार नहीं हैं। प्रकाश और अन्धकार साथ-साथ नहीं रह सकते। जिस प्रकार शंख बजाने वाला शंख की ध्वनि से चतुर्दिक वातावरण को गुञ्जायमान कर देता है, उसी प्रकार मैत्री-भावना से सम्पूर्ण दिशाओं को, सारे विश्व-मंडल को, आपूरित कर देने के लिए भगवान् बुद्ध ने आदेश दिया है जो चित्त का एक पूर्ण योग है, कल्पना का खेल नहीं, उसका प्रभाव बाहरी जगत् पर पड़ता है, अ-क्रोध और सहिष्णुता की साधना कितनी दूर जा सकती है इसका एक उत्तम उदाहरण हम भिक्षु पूर्ण के जीवन में देखते हैं। भिक्षु पूर्ण भगवान् बुद्ध के शिष्य थे और सुनापरान्त में धर्म-प्रचारार्थ जाना चाहते थे। अनुमति माँगने के लिए भगवान् बुद्ध के पास गये और दोनों में इस प्रकार संलाप चला—

"भन्ते! सूनापरान्त नामक जनपद है, मैं वहाँ विहार करूँगा।"

"पूर्ण! सूनापरान्त के मनुष्य क्रोधी और कठोर हैं, वे तुझे कुवाच्य कहेंगे तो तू क्या करेगा?"

"भन्ते! मैं सोचूँगा कि सूनापरान्त के मनुष्य भद्र हैं कि मुझे हाथ से नहीं मारते।"

"यदि हाथ से मारें तो?"

"सोचूँगा कि वे भद्र हैं कि मुझ पर डंडे से प्रहार नहीं करते।"

"यदि डंडे से प्रहार करें तो?"

"फिर भी सोचूँगा कि वे भद्र हैं कि शस्त्र से नहीं मारते, शस्त्र से मेरे प्राण नहीं ले लेते।"

"यदि तुझे तीक्ष्ण शस्त्र से मार डालें?"

"भन्ते! मैं सोचूँगा इस तुच्छ जीवन के लिए मुझे शस्त्र-हारक (शस्त्र से मारने वाला) बिना खोजे मिल गया।"

"साधु पूर्ण! साधु पूर्ण! इस प्रकार के शम से युक्त होकर तू सूनापरान्त जनपद में बास कर सकता है। तू जैसा उचित समझे, कर।"

पूर्ण की-सी साधना से क्रोध और द्वेष का पूर्ण शमन किया जा सकता है।

"भिक्षुओ! यह ब्रह्मचर्य लोगों को बहकाने, लोगों में बड़ा कहलवाने और लाभ, सत्कार तथा प्रशंसा पाने के लिए नहीं रहा जाता कि लोग मुझे ऐसा जानें। बल्कि भिक्षुओ! यह ब्रह्मचर्य संयम और त्याग के लिए रहा जाता है।"

"भिक्षुओ! पुण्य से मत डरो। भिक्षुओ! यह पुण्य इष्ट, कान्त, प्रिय, मनाप सुख का ही नाम है। इसलिए श्रेष्ठ सुखदायक पुण्य को करे। दान दे, सम-आचरण करे और मैत्री-चित्त की भावना करे। इन तीन सुखदायक धर्मों की भावना करके बुद्धिमान व्यक्ति दुःख रहित ब्रह्मलोक में पैदा होता है।"

—बुद्ध-वाणी

कर्तव्यशीला

सुश्री कुमारी विद्या

झरने के कल-कल निनाद-सी मुक्त हँसी, मृगशावकों की चंचलता, सुडौल गौर बदन, कजरारी आँखें, सब कुछ तपस्वी ने देखा साक्षात् अप्सरा-सी सुन्दरी वनकन्या को। अपलक देखता खड़ा रह गया अनिन्द्य सौंदर्य को। उस चंचल हिरणी ने भी निहारा नवागत को, ठिठक गयी। आम्र कुञ्ज की कोकिला कूक पड़ी। तरुणी की मधुप बिलाती पलकें नत हो गयीं। लज्जा की अरुणिमा से मुख-मंडल रंजित हो गया। उस प्रदेश के सरदार की एकमात्र बेटी अपनी कुटी की ओर बढ़ गयी। तपस्वी उपक ने एक लम्बी साँस लेकर स्वयं ही कहा—'तरुणी! तेरी प्राप्ति ही मेरे जीवन की सबसे बहुमूल्य वस्तु है।' धीरे-धीरे तपस्वी भी उसी पथ में बढ़ गया।

तरुणी के पिता ने समुचित सम्मान के पश्चात् पूछा—"आर्य! क्या आज्ञा है?" तेजस्वी उपक का दृढ़ स्वर था—"आप की पुत्री चाहिये। न मिलने पर यहीं मैं अपना प्राण विसर्जित कर दूँगा।" सरदार ने देखा द्वार की ओट में खड़ी पुत्री को। जैसे उसके मौन संकेत में सब कुछ समझ गया। उसने कहा—"तापस! हमारे कुल की रीति के अनुसार तुम यहीं रहकर पक्षियों को पकड़ बेचने का कार्य करोगे, तभी यह सम्भव है।" शर्त स्वीकृत थी। बिंदिया मंडित लजीले वदनमयी सुसज्जित तरुणी बंकहार प्रदेश के सरदार की पुत्री चापा के मेंहदी रंजित कोमल करों ने पति के चरणों को स्पर्श किया। समस्त आकांक्षाओं को समेटे पलकें नत थीं। सोने के दिन, चाँदी की सी रातें—मुक्त हँसी, कल्लोलें, मान मनाने में दिन पर दिन बीतने लगे। उपक सब कुछ भूल चुके थे, याद थी केवल चापा, सौंदर्य की रानी, उसकी सर्वस्व।

लजीली दुलहिन, पत्नी बनी, पत्नी से माता, केतकी गर्भ-सा पीत मुख-मंडल मातृत्व की गरिमा से गम्भीर हो गया। कभी चापा का अन्तर जैसे पुकार उठता था—"चापा! तू क्या कर रही है? तू स्वयं और अपने उस तापस पति को क्यों बंधनों में फाँसती जा रही है।" वह व्याकुल हो अपना मुख सुकोमल हथेलियों से छिपा लेती थी। तब स्मृति आती थी बन पथ से गये एक देवतुल्य ज्योतिर्मय काषाय परिधान से सुशोभित स्वरूप की, जैसे उसे उनका अदृश्य संदेश मिलता—धैर्य रखो चापा! अपने पति को यहाँ आने दो।" वह धैर्य की साँस लेती।

चापा की गोद में चाँद-सा नन्हा शिशु मचल जाता। चापा उसे देखती। निर्विकार नयनों में अपना प्रतिबिम्ब देख मुग्ध हो जननी का हृदय भर आता और वह उसे दुलारती। क्षण भर में शुद्ध नारी हृदय कर्तव्य की प्रेरणा वश हो जाता था। कह पड़ती थी—सो जा तपस्वी के लाल! बहेलिये के बेटे!! हाँ रे, बहेलिये के बेटे!!

नित्य प्रति सुनते, उपक ने सुना समझा—"बहेलिये के बेटे, ओह! तपस्वी से बहेलिया, क्या हो गया!" उसका हृदय सिहर उठा—"नहीं, नहीं, खोये गौरव को प्राप्त करना होगा। भूले पथ को खोजकर मुक्ति की ओर बढ़ना होगा। मन ने कहा—उसी देव तुल्य महाकारुणिक भगवान् की शरण में शान्ति मिलेगी जो ज्ञान प्राप्त कर ऋषि पत्तन जा धर्म-चक्र प्रवर्तन किये हैं। मन बदल चुका था। शान्त गम्भीर उपक ने गम्भीर स्वर में कहा—"चापा! मेरे अन्तर के अन्धकार का आवरण हट चुका है। मैं शास्ता के समीप जा त्रिरत्न की शरण में शान्ति प्राप्त करूँगा। विदा दो चापा! जो हो गया उसे क्षमा करो।"

चापा काँप उठी। क्या हो गया? सोचकर। उसने ममतावश कितने प्रयत्न अनुनय विनय किये। किन्तु उसके पति का निश्चय अटल था। रोती चापा पति के चरणों पर पुत्र को डालकर बेसुध हो गयी। उसका धीमा स्वर समीर लहरों में विलीन हो गया—"रुक जा! निर्मोही।"

वृक्ष शान्त खड़े थे। चिड़ियों की चहक मौन थी। झरनों की धारा चुपचाप सरक रही थी। जैसे वन का सम्पूर्ण वातावरण वियोगिनी की आहों से सिहर कर स्तब्ध हो गया था। सुनील गगन में पूर्णिमा का पूर्ण चन्द्र अवश्य विहँस रहा था। मुक्त केशिनी वियोग-व्यथिता चापा प्राचीर से टिकी निर्निमेष निहार रही थी उस चन्द्र की ओर, जिसकी चाँदनी में एक दिन उसका

यौवन हँस पड़ा था। क्षण-भंगुर सांसारिक सुख तो जा चुका था फिर चापा, विदुषी चापा, बहेलिये की भावुक बेटी चापा, पति को कर्तव्य की ओर प्रेरित व अर्पित करनेवाली चापा आँसू बहा रही थी। किन्तु उसका हृदय उसे प्रेरित कर रहा था—"पति अनुसरण करो चापा!"

चापा उठी, एक दीर्घ निश्वास ली। अन्तर की व्यथा वाह्य अभिव्यंजना बनकर विखर गई।

किन्तु कर्तव्यशीला नारी अपना कर्त्तव्य निश्चित कर चुकी थी। अपने शिशु को उठाया अन्तिम बार उसे स्नेह पूर्वक हृदय से लगा लिया। फिर अपने उस शिशु को अपने वृद्ध पिता के अंक में डालकर चापा ने करुण स्वर में आज्ञा माँगी। पुत्री की समस्त आकांक्षाओं को पूरी करने वाले सरदार ने आँसुओं को रोक कर कहा—"जा बेटी! तेरा मंगल हो।"...

तरुवर की शीतल छाया में शुभ्र शिला खंड पर अवस्थित दिव्य मूर्ति महाकारुणिक भगवान् तथागत के चरणों पर झुकी व्यथिता चापा का समस्त दुःख कल्याणी उपदेशमयी वाणी को श्रवण कर भूल गया। पावन वातावरण में उसके शान्त स्वर थे—

बुद्धं सरणं गच्छामि। धम्मं सरणं गच्छामि। संघं सरणं गच्छामि।

थोड़े ही दिनों में बहेलिये की उस कर्तव्यशीला बेटी ने प्रवजित हो साधनामय जीवन यापन करते अर्हत्व प्राप्त कर लिया। उसकी कथा नवप्रेरणा देती आज भी पालि-साहित्योद्यान में सुरभित है।

महेन्द्र और धर्मपाल

डॉ० प्रेमसिंह चौहान 'दिव्यार्थ'

पिता पुण्य आकाश, सूर्य-यश माता के जग में अनन्य
जग जन के मित्र, पवित्र आप अर्हत महेन्द्र उपबुद्ध धन्य!
श्रीलंका तारक, उद्धारक श्री तिष्यराज के इष्ट पूर्त
भगवान् तथागत धर्म सुयश, संस्थापक त्रिपिटक मूल सूर्त
भवचक्र चला, पंडित मचला, हो चला धर्म का रूप अमल
प्रगटा नव दर्शन महायान, फिर वज्रयान बन गया समल
भारत में हुआ पराभव यों, हा! गुरुवाणी का तिरष्कार
पर सिंहल अंचल में रक्षित पा रहा धर्म था परिष्कार
सिंहल की भारत मात्र भूमि, सद्धर्म भूमि पूज्या ललाम
गौरव गुरुकार सहित आते थे, यतिगण लखने पुण्य धाम
लख खंड खंड खँडहर खंदक, शोकित लेते थे दीर्घ श्वास
सोई बसुधा में ढूँढा करते पूर्वापरि परिवेण वास
अन्वक्ष मनुज शंकित सा लखता लुप्त धर्म भू का प्रवास
ओ कौन तथागत! हा, भारत में इतना भी इतिहास ह्रास
श्रीलंका पर भारत का ऋण, चुकता होगा ओ क्रूर काल!
इतिहास, धर्म के उद्धारक, जागे लंका में धर्मपाल!
दे रक्त कणों की प्रथमाहुति, इतिहास परा को फेर दिया
बन पुनः धर्म के संथापक 'त्रिपिटक' का ज्ञान बखेर दिया
अर्हत महेन्द्र का वह प्रताप, लेकर प्रकाश फिर आया है
भारत ने अपने लुप्त प्राय फिर बौद्धधर्म को पाया है।

बुद्ध और जेन

डा० डी० टी० सुजुकी

जेन बुद्धधर्म का उदय तंगवश के मध्य में चीन में हुआ था। चूँकि इसका आविर्भाव चीन में हुआ था, इसलिए भारतवर्ष के बुद्धधर्म से इसमें कोई भी समानता न थी। इसमें चीन के मनोविज्ञान और भारतीय दर्शन का समन्वय है, और इसमें न केवल भारतीय दर्शन की गहनता है, अपितु भारत के अमूर्त उपदेशों के प्रदर्शन का सर्वोत्तम व्यावहारिक रूप है। अतएव यह चीन के व्यावहारिक मस्तिष्क और भारतीय मस्तिष्क के आत्म-विद्या की गहनता का प्रतिनिधित्व करता है। यदि हम जेन का अध्ययन न करें तो हम बौद्धधर्म की सम्पूर्णता में कुछ अभाव पायेंगे।

आधुनिक युग में बौद्धधर्म का तात्पर्य प्रायः बुद्ध का उपदेश समझा जाता है, किन्तु ऐसा करना महान् भूल है। बौद्धधर्म न केवल बुद्ध का उपदेश है, अपितु बुद्ध स्वयं हैं। अतएव बौद्धधर्म को समझने के लिए हमें न केवल बुद्ध के उपदेश मात्र से परिचित होना है, वरन् हमें उन अनुभवों को भी जानना होगा जिसे बुद्ध ने स्वयं अनुभव किया था। इस अर्थ में बौद्धधर्म अन्य धर्मों से पृथक् है। कुछ धर्मोपदेशक हम लोगों से बिल्कुल भिन्न माने जाते हैं, जिससे हम लोग उनके अनुभव को अपने अनुभव की कसौटी पर नहीं रख पाते। किन्तु बुद्ध का उपदेश बुद्ध के अनुभव से उद्भूत हुआ और इसे समझने के लिए हमें उनके अनुभव के स्रोत तक जाना होगा। दूसरे शब्दों में बुद्ध के उपदेश हमारे अनुभव को प्रकट करनेवाला अवश्य होना चाहिए।

बौद्धधर्म चार सम्यक् सत्य, बारह निदान और आठ सम्यक् मार्ग को प्रतिपादित करता है। ये समस्त बुद्ध के अनुभव के प्रतीक हैं। किन्तु आजकल के लोगों का विचार सम्भवतः इस प्रकार का ठीक-ठीक नहीं हो सकता।

अब प्रश्न उठता है कि बुद्ध ने क्या अनुभव किया? एक गाथा के अनुसार वे जन्म और मरण की समस्या से बहुत पहले ही क्षुब्ध हो गये थे। यह बात भारतीय विचारधारा के अनुसार ठीक मानी जाती है, क्योंकि भारतीयों का मन जन्म मरण के चक्र से सदैव दुखित रहा करता है। यह वही बात है जिसे हम लोग आजकल विषय और विषयी से पृथकता के रूप में लेते हैं। जब हमें इस पृथकता का बोध होता है, जब प्रकृति और पुरुष एक दूसरे का विरोध करते हैं, तो इसके परिणाम स्वरूप कष्ट और भय होता है जो न केवल हम समस्त पश्चिम के निवासियों को अपितु समस्त विश्व के मानव को चिन्तित कर देता है।

जन्म-मरण से मुक्त होने की समस्या से बुद्ध इतने अधिक चिन्तित हुए कि वह साधारण जीवन में न रह सके। उन्होंने अपने राजकीय प्रासाद और परिवार को त्याग दिया और बन में चले गये। सर्वप्रथम कार्य जो उन्होंने किया वह दार्शनिकों से मिलना था। इस प्रकार की बात बुद्धि और तर्क में आनी बिल्कुल स्वाभाविक है, क्योंकि जब युवक और युवती कष्ट में पड़ते हैं, तो अपनी समस्याओं को तर्क विचार से हल करना चाहते हैं और यह न केवल ऐतिहासिक रूप में अपितु मनोवैज्ञानिक रूप से भी सत्य है। फिर भी यद्यपि बुद्ध ने दार्शनिकों की देख-रेख में वर्षों तक इसका अध्ययन किया किन्तु उनकी समस्या का हल न निकला और यह तब भी जन्म-मरण के चक्र से मुक्त न हो सके।

अतः वे इन्द्रिय-निरोध और तपस्या करने की ओर झुके। उन्होंने अपनी शारीरिक आवश्यकताओं को बिल्कुल कम कर दिया और यहाँ तक कहा जाता है कि दिन में कुछ दाने खाकर रह जाते थे। अनेक वर्षों के पश्चात् वे इतने दुर्बल हो गये कि खड़े भी न हो सकते थे और जब उन्होंने अपने को इस अवस्था में पाया तो उन्होंने सोचा कि, 'यदि अपनी समस्या का हल निकालने के पूर्व

ही मैं मर जाऊँगा तो मैं उस कार्य को न कर सकूँगा जिसे मैंने प्रारम्भ किया था। इस समस्या का हल मुझे जीते जी अवश्य निकालना है, और न केवल किसी प्रकार जीवित रहकर, अपितु जबतक जीवित रहूँगा, तबतक पूर्ण स्वस्थ एवं सबल और अपनी तमाम शक्तियों को अपने वश में करके रहूँगा।" अतः उन्होंने अन्न ग्रहण करना आरम्भ कर दिया।

इस प्रकार न तो केवल बौद्धिक व्यायाम और न केवल सदाचार सम्बन्धी आचरण करने से उनकी समस्या हल हो सकी। तो अब कौन-सा अवलम्ब शेष रहा? उस समय वे अपनी समस्या सुलझाने का कोई मार्ग न सोच सके और समस्या बराबर आँखों के सामने रहती थी।

वास्तविकता तक पहुँचने में धार्मिक या आध्यात्मिक जीवन बौद्धिक प्रयत्नों का अतिरेक कर जाता है। बहुत से धर्म सदाचारयुक्त आचरण पर जोर देते हैं, किन्तु इस प्रयत्न से वास्तविकता तक पहुँचना बड़ा कठिन है। जब हम आध्यात्मिक स्तर पर पहुँच जाते हैं तो नैतिक जीवन स्वयं आरम्भ हो जाता है। यह बात कोरे सदाचरण और बुद्धि के बल कदापि नहीं हो सकती। हमें अपने को प्रकृति-पुरुष की वास्तविकता से अवश्य ऊपर ले जाना है।

अब प्रश्न यह उठता है कि हम कैसे इस उच्च-स्तर पर पहुँचे? यह तभी प्राप्त होता है जब कि व्यक्तित्व एवं उपदेश या प्रश्नकर्ता और प्रश्न का एकीकरण हो जाय। जबतक बुद्ध इस प्रश्न को अपने से पृथक् और बाहर रखते, तो इसका हल कभी निकल ही न सका होता। प्रश्न प्रश्नकर्त्ता द्वारा किया जाता है। किन्तु जब प्रश्न बाहर आ जाता है तब प्रश्नकर्त्ता भूल से इसे अपने से बाह्य की वस्तु समझता है। प्रश्न का उत्तर तभी निकलता है, जब कि प्रश्न का प्रश्नकर्त्ता के साथ एकीकरण हो जाय।

भगवान् बुद्ध को स्वयं बौद्धिक और नैतिक नियमों का पालन करना पड़ा, किन्तु ये उनके अन्तर्गत न थे। उन्होंने अपने शरीर और बुद्धि को अपने-से पृथक् रखा। उन्होंने समस्या को सामने रक्खा, किन्तु, स्वयं इससे पृथक् रहे। उन्होंने समस्या का इस प्रकार विश्लेषण किया जैसे कोई सर्जन का चाकू कार्य करता है। किन्तु मृतक में केवल सर्जन के चाकू द्वारा चीरफाड़ मात्र से प्राण-प्रतिष्ठा नहीं हो सकती। चीर-फाड़ से कुछ अधिक की और आवश्यकता होती है। मृतक शरीर में जान डालने के लिए कुछ सूई के द्वारा प्रवेश कराना पड़ता है। फिर भी हमलोग तो केवल काँटछाँट इसलिए करते हैं कि यह ज्ञात हो जाय कि प्राण कहाँ है?

किसी समस्या का अन्तिम हल अन्तःकरण से प्राप्त होता है। यदि प्रश्न अन्तरात्मा से उठता है तो यह अवश्य ही आत्मा की ओर उन्मुख होकर लौटेगा। आत्म और अनात्म का एकीकरण होना आवश्यक है। जब कि प्रश्न प्रश्नकर्त्ता से निकल पड़ता है और उससे पृथक् हो जाता है तो वह उसे हल नहीं कर सकता। मानवी चेतना इस प्रकार बनी है कि प्रारम्भ में पूर्ण अज्ञान था। तब उस ज्ञान के—(जो ज्ञाता को उसके ज्ञान से विलग रखता है) वृक्ष के फल को खाने का कार्य हुआ। इसी प्रकार इस सृष्टि का आरम्भ हुआ। ज्ञान की इस चेतना का परिणाम आदम के उपवन से हुआ।

जब बुद्ध को इस प्रकार का ज्ञान हुआ तो उनको ऐसा लगा कि बौद्धिक और नैतिक अनुशासन से समस्या का हल न होगा। किन्तु समस्या तो थी ही जो उन्हें बराबर कष्ट देती थी। इसलिए वे बोधिवृक्ष के नीचे शान्तिपूर्वक आसन लगाकर बैठ गये और समस्या का हल ढूँढ़ने का प्रयत्न किया। वह समझ न पाये कि क्या करना चाहिए। जब वह वृक्ष के नीचे एक सप्ताह तक बैठे रह गये, तो उनके मस्तिष्क में एक बड़ा तूफान उठा। पहले पहल चूँकि उन्होंने दर्शन का अध्ययन किया था, अतः बौद्धिक व्यायाम से ही समस्या का हल निकालना उद्देश्य रहा। अब तो कोई उद्देश्य न रहा। जब वे अनुशासन और तपस्या का जीवन व्यतीत कर रहे थे, तो भी एक उद्देश्य रहा। जब उन्होंने इन सब को छोड़ दिया, तब वे अपने उद्देश्य को भी खो बैठे। जब उन्होंने देखा कि अनुशासन से समस्या हल नहीं हो सकती, तो वे कर ही क्या सकते थे? अब कुछ भी शेष न रहा। फिर भी समस्या तो थी ही और वह इससे अन्यमनस्क भी न हो सके। यह उनके सिर के ऊपर लटक रहा था और प्राण ले लेने को धमका रहा था। वह जीवन का अर्थ न समझ सके और यदि जीवन का

अर्थ ही न ज्ञात हुआ तो जीवन से क्या लाभ ? किन्तु वह फिर मर भी तो नहीं सकते थे। यदि मृत्यु से ही समस्या का निदान निकलता, तो यह उसी ढंग से न सुलझता जिस प्रकार जीने से। वह न तो जी सके न मर सके।

उस सप्ताह बुद्ध की भयानक परीक्षा हुई। हम सभी इसे अपने मतानुसार कोई अधिक, कोई कम अनुभव करते हैं। जब कष्ट अपनी चरमसीमा पर पहुँच जाता है तो कर्त्ता और कर्म की चेतना लुप्त हो जाती है या यों कहा जाय कि अचेतन अवस्था में विलीन हो जाती है। जबतक हमलोगों की चेतना रहती है, दो अवस्थाएँ कर्त्ता, कर्म और प्रश्नकर्ता, प्रश्न की सर्वदा विद्यमान रहती हैं। लेकिन इस अवस्था के बाद ही मानसिक और शारीरिक वेदना उत्पन्न होती है और चेतना स्वयं अपने में विलीन हो जाती है। इसी को समाधि कहते हैं जब कि ध्यान निमग्न रहा जाता है और जब इस अवस्था को प्राप्त हुआ जाता है तो प्रत्येक वस्तु जैसे खो सी जाती है। मनोवैज्ञानिक रूप से यह पूर्ण अचेतन की अवस्था हो जाती है। किन्तु इस अवस्था को प्राप्त करने के बाद यही अन्तिम नहीं होता। जागरण अवश्य होना चाहिए और यह जागरण इन्द्रियों में उद्‌बोधन लाने से होता है। जब बुद्ध इस अवस्था में रहे तो प्रातः कालीन तारे की ओर देखा करते थे। तारे की किरणें उनकी आँखों से प्रवेश कर, उनके स्नायु का स्पर्श कर मस्तिष्क में प्रवेश करती थीं और तब अचेतन अवस्था से हटकर चेतनावस्था में हो जाते थे। पूर्ण एकता से ही बिलगाव होता है और बिलगाव के पश्चात् सृष्टि होती है। किन्तु जिसे बौद्ध-धर्म में प्रबुद्ध कहा जाता है, वह अवस्था है जब कि अचेतन अवस्था चेतन अवस्था में या कर्त्ता कर्म के ज्ञान में प्रवृष्ट होने लगती है। वह समय जब हमें इसकी जानकारी हो जाती है तो इसी को प्रबुद्ध कहा जाता है।

आधुनिक दर्शन के पिता डेका ने 'हर वस्तुएँ संदिग्ध हैं' की घोषणा की। लेकिन हम लोगों को इसे पलट देना है। यह कहना कि 'मैं हूँ', मैं सोचता हूँ जैसा मैं कहता हूँ। मैं 'मैं' को "मैं नहीं" से अलग करता हूँ। जब मैं कहता हूँ कि 'मैं हूँ' तो अपने से बाहर चला जाता हूँ। यह ऐसा भाग जिसे समझना बड़ा जटिल है, क्योंकि बुद्धि द्वारा इसका हल हो ही नहीं सकता। जब हम लोग इस जीवन को त्याग देते हैं, तो समस्या होगी ही नहीं और चेतना के पूर्व भी समस्या नहीं थी। पौधे नहीं सोचते। पेड़ उगते हैं, पत्तियाँ गिराते हैं, फिर से उगाते हैं, सूख जाते हैं, किन्तु उनके पास समस्या नहीं होती। कुत्ते जो कुछ मिल जाता है, खा लेते हैं। वे कभी शिकायत नहीं करने जाते कि दूसरा कुत्ता अच्छा खा रहा है। यह तो केवल मनुष्य की विशेषता है, किन्तु मानव जाति अपने को 'मैं यहाँ हूँ, संसार वहाँ है' में विभक्त कर लेती है और न केवल 'वहाँ' किन्तु ऐसा सोचता है कि मेरे विपरीत है। मुझे कुत्ते या बिल्ली होने का कोई अनुभव नहीं है और मैं यह भी नहीं जानता कि वे क्या अनुभव करते हैं। किन्तु उनके व्यवहार से हम देखते हैं कि वे भूख और शारीरिक आवश्यकताओं से परेशान हो जाते हैं। फिर भी हम लोग शारीरिक वेदना से कुछ अधिक जानते हैं। हम लोग सोते नहीं, हमें स्वप्न दिखाई पड़ता है जो हमें कष्ट देता है। इसी को तंग वंश के एक ज्ञाता ने कहा कि 'मनुष्य न तो खाते और न सोते हैं।' हम कल की सोचते हैं, अतीत की सोचते हैं, हमें स्वप्न दिखाई देता है जो हमें कष्ट देता है। कल्पना, स्मृति और पूर्व विचार हमारे जीवन को बनाते हैं और कष्ट देते हैं। हम यह नहीं कहते कि हम लोगों को बिना इनके कुत्ते की तरह रहना चाहिए, किन्तु हमें अवश्य उस ढंग से रहना सीखना है जैसा कि न तो भूत में था न भविष्य में, इस प्रकार का रहना आध्यात्मिक क्षेत्र में रहना होता है और इसका अनुभव प्रबुद्ध होकर ही हो सकता है।

बुद्ध शब्द 'बुध' धातु से बना है जिसका अर्थ बुद्ध या ज्ञान होता है। इसलिए बौद्धधर्म प्रबुद्धावस्था का धर्म है। इसको समझने के लिए हमें प्रबुद्ध होना चाहिए। उद्‌बुद्ध होकर हम बुद्धि प्राप्त करते हैं और बुद्ध हो जाते हैं। बुद्धि की अनुभूति करके ही हम वास्तविक बुद्धधर्म के अनुयायी बन जाते हैं।

अनु०—श्री कालेन्द्र प्रसाद श्रीवास्तव एम० ए०

———

बौद्ध धर्म क्रान्ति, शान्ति और मुक्ति का मार्ग है

श्री ए० केवलानन्द

यदि भगवान् बुद्ध के आदेशानुसार चला जाय तो संसार में मैत्री एवं शान्ति स्थापित हो जाय। यह विश्व-बन्धुत्व एवं शान्ति की ओर ले जाने वाला मार्ग है। कुछ लोग इस बात से असहमत होंगे कि बौद्धधर्म मुक्तिदायक मार्ग है, किन्तु कुछ लोगों को भगवान् बुद्ध के क्रान्तिकारी वचनों को सुनकर आघात का भी अनुभव होगा। वस्तुतः यह सब क्रान्ति, शान्ति एवं मुक्ति के अभिप्राय पर आधारित है।

क्रान्तिकारी उसे कहते हैं जो त्रुटियों को देखता है और उसके तीव्र विरोध के लिए दृढ़संकल्प हो जाता है। सिद्धार्थ कुमार का जीवन विलासिता, आनन्द एवं इन्द्रिय-सुखों से पूर्ण था। उन्हें किसी बात का अभाव न था। वह एक दिन बाहर निकले। उन्होंने चारों ओर देखा और वृद्ध, रोगी तथा मृतक को देखकर दुःख का अनुभव किया। उन्होंने एक क्रान्तिकारी की भाँति विचार किया कि उनका जीवन तुच्छ, रिक्त एवं निरर्थक है, अतः उन्होंने अपने परिवार का त्याग किया और अपने आदमियों तथा सहयोगियों में परिवर्तन कर दिया।

'क्रान्तिकारी' का विरोधी 'प्रतीकार कर्त्ता' है। वह वस्तुओं को वैसी ही बनी देखना चाहता है, जैसी कि वे हैं और वह परिवर्तन का सर्वथा विरोध करता है। वह परिवर्तन-चक्र को रोकने का प्रयत्न करता है, किन्तु अनित्यता के कारण वह शीघ्र ही या कुछ समय पश्चात् स्वयं नियमोल्लंघन कर जाता है और उसके साथ परिवर्तन-चक्र के नियम को भी तोड़ देता है।

जब भगवान् बुद्ध ने दुःख के कारण को जान लिया, तब उन्होंने अपने सिद्धान्त के प्रचार का दृढ़ संकल्प किया और धर्मचक्र-प्रवर्तन सूत्र का उपदेश दिया, जिसे धर्म के चक्र को घुमाना कहा जाता है। अर्थात् उन्होंने ऋषिपतन मृगदाय में धर्म के चक्के को घुमाया। धर्मचक्र का प्रवर्तन केवल लोभ, द्वेष और मोह के विरुद्ध ही क्रान्ति नहीं थी, प्रत्युत तत्कालीन ब्राह्मण-धर्म का प्रतिकार भी था।

यह ध्यान देने योग्य बात है कि भगवान् बुद्ध ने अन्य क्रान्तिकारियों की भाँति परिवर्तन के नियमानुसार चक्र को प्रवर्तित नहीं किया, उन्होंने मनुष्यमात्र के दुःखों की मुक्ति के लिए वैज्ञानिक खोज आरम्भ की थी और चार आर्य सत्यों का ज्ञान प्राप्त कर लिया था। उन्हें ज्ञात हो गया था कि दुःख की जड़ तृष्णा है और सब कुछ प्रतीत्य-समुत्पाद पर आधारित है। इस प्रकार वे दुःख से मुक्ति पाने के मार्ग को दिखलाने में समर्थ हुए। जो लोग चक्र को पीछे की ओर घुमाना चाहते हैं अथवा जो उन्नति के विरुद्ध ले जाना चाहते हैं—उनमें और इनमें यही अन्तर है। दूसरा अन्तर यह पाया जाता है कि अन्य क्रान्तिकारी जनता में परिवर्तन करना चाहते हैं, परन्तु स्वयं को बदलने की कामना भी नहीं करते। केवल वही उचित मार्ग पर चलनेवाले समझे जाते हैं और शेष अनुचित। उनकी क्रान्ति जो कि निश्चित विचार से प्रारम्भ होती है, प्रायः विवाद में समाप्त होती है। जब यही विवाद विजय का रूप लेता है, तो अधिकार और चमत्कार का उदय होता है। वे विरोधी कार्यकर्त्ता बन जाते हैं तथा अपने कार्य को निश्चित करना चाहते हैं। उनकी इच्छा होती है कि मुक्ति की शक्तियाँ स्पष्ट हों।

वह क्रान्ति जो कि विवाद पर आधारित है, विवाद में संलग्न है और विवाद की सृष्टि करती है, कभी भी मुक्ति और शान्ति को नहीं प्राप्त करा सकती। यह बौद्ध-धर्म की क्रान्ति से सर्वथा भिन्न है, जो कि दुःख के कारण को ही नहीं ढूँढ़ता, प्रत्युत दुःख के कारण का निरोध

...ता है। दुःख के कारण का निरोध वास्तव में एक ...ान् परिवर्तन है जिसे प्रत्येक मनुष्य अपने जीवन में ... सकता है। वस्तुतः यह क्रान्ति जब होती है तो ...तिष्क पूर्णरूपेण परिवर्तित हो जाता है। प्रथम यह ... जगत् को तृष्णा के नेत्रों से देखता है, तदुपरान्त ...ख के कारण के निरोध की ओर मुड़ता है। फिर ...तिष्क बाह्य-जगत् की ओर आकर्षित होता है और ...त्व को एक दूसरे दृष्टिकोण से देखने लगता है। इसमें ... पूर्ण क्रान्ति होती है। अतः यह स्वीकार करना पड़ता ...कि बौद्ध धर्म वस्तुतः एक क्रान्ति-मार्ग है।

बौद्ध धर्म में मुक्ति का क्या सिद्धान्त है और सामान्य ...यास से इसमें क्या अन्तर है? अब इस तथ्य पर ...चार करना है। अनेक विशिष्ट व्यक्ति जो कि विद्वान् एवं ...ज्ञानिक होने का दावा करते हैं, वे पूर्णतः इस भावना ...त्याग देते हैं, जब कि उन्हें स्वयं अपनी समस्या पर ...चार करना पड़ता है। वे दुःख से सतर्क रहते हैं, किन्तु ... वे सावधानी पूर्वक इसके कारण को ढूँढ़ते हैं, ताकि ... उसका निरोध कर सकें? सामान्यतः वे ऐसा नहीं ...ते। उदाहरणार्थ—जब उन्हें पेट-दर्द या सिर-दर्द होता ..., तो क्या वे धैर्य एवं ज्ञान पूर्वक उसके कारण को ...ते हैं, जिससे कि वे उन्हें दूर कर सकें? नहीं, इसमें ...ों तक शीघ्र जड़ी-बूटी या दवा की शीशी का प्रयोग ...ते हैं, जो कि दुःख-दर्द को दूर कर देती है, किन्तु उसके ...रण पर प्रभाव नहीं डालती। और, फिर कुछ दिनों के ...श्चात् उन्हें दूसरा सिर-दर्द या पेट-दर्द होता है और वे फिर जड़ी-बूटी या दवा की शीशी ग्रहण करते हैं। यह दशा बीस या तीस वर्ष तक चली जाती है, जब कि उन्हें आपरेशन कराना पड़ता है। इसीलिए अन्य कारणों की अपेक्षा अधिकांश मनुष्य रोगों के कारण ही मरते हैं। आप कह सकते हैं कि यह बौद्ध धर्म नहीं है। मैं इससे सहमत नहीं। यह दुःख की ओर ले जाता है और मृत्यु का कारण होता है। बहुत-से भयानक क्रोधों के मूल पेट में ही उत्पन्न होते हैं।

जहाँ तक पेट का सम्बन्ध है हम में से अधिकांश लोगों की यही दशा है। हम सभी अपने पेट की चाव रखते हैं। जब हमें दुःख का अनुभव होता है, तब कैसा होता है? कौन वैज्ञानिक ढंग से घृणित प्रेम के सन्ताप का विश्लेषण करके उसे रोकता? वह असहमति जिसे कि रोगी दुःख की पीड़ा के रूप में पाता है, लाभ भूल जाता है और मित्र भी स्मरण नहीं करते? यदि ऐसा करते हैं तो उन्हें दुःख नहीं होता। अन्ततोगत्वा कहना पड़ता है कि व्यक्ति एक महान् मानसिक पीड़ा का सामना करता है, जो प्रायः भावों के अनुसार वृद्धि-प्राप्त करता है। यहीं हमें क्रान्ति की आवश्यकता प्रतीत होती है। इस दुःख की भूल-भुलैया से मुक्त होने का कौन-सा मार्ग है? क्रान्ति का क्या नियम है? क्या दूसरों को रोक देना ही इसमें विद्यमान है? क्या इसमें अपनी चारों ओर विवाद का बढ़ाना ही विद्यमान है? नहीं साधारतः इसमें कारण का पता लगाना हीं विद्यमान रहता है—यह बौद्ध धर्म का सिद्धान्त है।

दुःख और उससे मुक्ति

श्री राहुल सुमन छावरा

संसार के सारे दुःखों के मूलभूत कारण लोभ, द्वेष, ...ह हैं। जब तक ये रहते हैं, तबतक व्यक्ति के जन्म का ...सिलसिला लगा ही रहता है और नाना प्रकार के सांसा-...क दुःख भोगने पड़ते हैं।

एक समय कोलियकुमारी सुप्पवासा का गर्भ बिगड़ गया और वह ७ वर्षों तक उस गर्भ-पीड़ा से दुःखी बनी रही। अन्त में उसने अपने पति को तथागत के पास जाने को कहा। तथागत ने उसे आशीर्वाद देकर वापस

किया। लौटने पर उसने देखा कि सुप्पवासा ने एक स्वस्थ सुन्दर बालक को प्रसव किया है। सात दिन के बाद भगवान् को भिक्षुसंघसहित उन्होंने भोजन के लिए आमंत्रित किया। कोलिय कुमार शीवली को नवीन वस्त्र पहना कर भिक्षुसंघ के सामने ला वन्दना करवाई। धर्म-सेनापति सारिपुत्र ने पूछा—'कहो शीवली! सुखी तो हो?' उस सात दिन के उत्पन्न कोलिय कुमार ने उत्तर में कहा—'भन्ते! ७ वर्षों तक लौहकुम्भी में महान् दुःख भोगता रहा, तो सुख कहाँ?' यह देख शीवली की माता को अचम्भा हो गया कि उसका ७ दिन का उत्पन्न पुत्र धर्मसेनापति से मंत्रणा कर रहा है। उसे इस दशा में देख भगवान् ने कहा—'उपासिके! कहो, ऐसे पुत्र और चाहिए?' सुप्पवासा बोली—'यदि ऐसे ७ पुत्र और भी हों तो उन्हें भी चाहूँगी।' यह सुनकर भगवान् ने उदानवाक्य कहे—'संसार दुःख को भी सुख मानता है।'

मनुष्य तबतक दुःख के बन्धन से मुक्त नहीं होता, जबतक कि वह तृष्णा-रहित न हो जाय। आसक्ति का ही नाम तृष्णा है और आसक्ति ही दुःखों का घर अथवा परम सांसारिक बन्धन है। भगवान् बुद्ध ने सदा आसक्ति से मुक्ति पाने का उपदेश दिया—'आओ भिक्षुओ! स्वयं देख लो, मैं दो ही चीजें तुम्हें सिखाता हूँ दुःख और उससे मुक्ति।' अतः मनुष्य के लिए यह आवश्यक है कि वह सम्यक् स्मृति द्वारा जागरूक रहकर सम्यक् प्रज्ञा प्राप्त कर संसार के यथार्थ स्वरूप नश्वरता, अनात्म-भाव एवं दुःखता को पहचान कर अनासक्त हो, तृष्णा-रहित होकर मुक्त हो जावे।

बुद्ध-कालीन शिक्षण-पद्धति

श्री सुमन वात्स्यायन

प्राचीन भारत में बच्चों को प्रारम्भिक शिक्षा घर में ही दी जाती थी। अब भी हमारे देश में ग्राम-पाठशालाओं का ही विशेष महत्त्व है। गाँव में पाठशाला होती थी जिसमें गरीब-अमीर सब के बच्चे पढ़ते थे। विद्यादान एक पुण्य कार्य माना जाता था। ग्राम-पाठशालाओं की व्यवस्था किस प्रकार होती थी, यह बतलाना कठिन है; पर गाँवों के धनीमानी लोग शिक्षा के कार्य में बहुत सहायता करते थे। आज की ही तरह उस समय अक्षर-ज्ञान जमीन पर सफेद मिट्टी से लिखकर कराया जाता था। उसके बाद विद्यार्थी लकड़ी की पाटी पर सफेद मिट्टी घोलकर लिखते थे। धनी लोगों के बच्चे जब पाठशाला जाते थे तब उनकी पाटी लेकर दासपुत्र जाता था। प्रारम्भिक पाठशालाओं में साधारण लिखना-पढ़ना और हिसाब सिखलाया जाता था। शिक्षा आज जितनी महँगी और विस्तृत हो गयी है, पहले वैसी न थी। गाँव के मठ के साधु और पुरोहित ही प्रायः अध्यापक होते थे। उस समय आज की भाँति प्रेस या कागज न था जिससे लोग ऊल-जलूल पुस्तकें पढ़कर अपना दिमाग भरते। जमीन, लकड़ी की पाटी (फलक) या ताल और भोजपत्र ही लिखने के साधन थे। इसलिए लिखने-पढ़ने का काम बहुत कम होता था। छात्र ज्यादा गुरुजनों के मुख से सुनकर ही ज्ञान-संग्रह करते थे। माता-पिता बचपन से ही अपनी सन्तान को परम्परागत कथाओं द्वारा बहुत-सी बातों की जानकारी करा देते थे। आज की तरह छात्रों का दिमाग खाली नहीं होता था। उनमें ग्रहण करने की शक्ति काफी रहती थी। मोटी-मोटी पुस्तकें शिष्य अपने गुरु से सुनकर याद कर लेते थे। अगर ऐसा नहीं होता तो प्राचीन साहित्य का बहुत बड़ा भाग नष्ट हो चुका होता। प्राचीन मागधी (पालि) भाषा के पुराने सूत्रों के प्रारम्भ में ऐसा कहीं नहीं आता है कि 'यह मैंने पढ़ा' बल्कि सब जगह 'ऐसा मैंने सुना' (एवं मे सुतं) ही आता है। इस तरह बचपन से ही अनेक कथाओं और परम्परागत अनुश्रुतियों को मुखाग्र रखते-रखते छात्रों की स्मरण-शक्ति अच्छी हो जाती थी। बहुत जिसने सुना है उसे ही लोग बहुश्रुत (पण्डित) कहते थे।

कुछ गाँवों पर एक महाविद्यालय होता था। इसे आज का हाईस्कूल या इंटरमिजिएट कॉलेज कह सकते हैं। ये महाविद्यालय प्रायः धनाढ्य बस्ती या छोटे-छोटे शहरों में ही होते थे। साधारण स्थिति के छात्रों की शिक्षा अपने गाँव में ही पूरी होती थी और सुखी लोग या उच्चमध्यम वर्ग के लोग ही अपने बच्चों को महाविद्यालय में भेज पाते थे। महाविद्यालय में एक से अधिक अध्यापक होते थे और वे विद्यालयों में सपरिवार रहते थे। इनके भरण-पोषण का भार प्रायः स्थानीय लोगों पर ही होता था। सुखी छात्र भी फीस (आचार्य भाग या गुरुदक्षिणा) के रूप में कुछ रकम देते थे। स्थानीय लोग सिर्फ अध्यापकों की आवश्यकताओं की ही पूर्ति नहीं करते थे, वरन् प्रतिभावान् गरीब छात्रों के भोजनादि की व्यवस्था भी करते थे। विद्यालय प्रायः गाँव या आबादी से नातिदूर (अधिक दूरी पर नहीं) होता था।

महाविद्यालय की पढ़ाई समाप्त कर छात्र विश्वविद्यालय में उच्च शिक्षा के लिए जाते थे। बुद्धकालीन भारत का सबसे प्रसिद्ध विश्वविद्यालय था तक्षशिला (मागधी तक्कसिला)। अगर यूरोपीय इतिहासकारों की बातों की छानबीन करें तो मालूम होगा कि तक्षशिला ही संसार का प्राचीनतम विश्वविद्यालय था। यह भारत की उत्तरी-पश्चिमी सीमा पर स्थित था। दूर-दूर से विद्यार्थी यहाँ उच्च शिक्षा प्राप्त करने के लिए आते थे। लगभग चौथी-पाँचवीं सदी तक तक्षशिला सारे एशिया का महान् बौद्धिक केन्द्र था। विभिन्न जनपदों से विद्याप्रेमी छात्र यहाँ एकत्र होते थे। यद्यपि तक्षशिला विश्वविद्यालय बिहार से बहुत दूर पड़ता था फिर भी अनेक जंगलों और उजाड़ कांतारों (प्रदेशों) को पारकर सैकड़ों की संख्या में बिहारी छात्र यहाँ अध्ययन के लिए पहुँचते थे। ऐसा मालूम पड़ता है कि इस विद्यालय में शिक्षा पाने के लिए कम-से-कम सोलह वर्ष (सोलसवस्सउद्देसिक) की आयु होना आवश्यक था। घर से इतनी दूर यात्रा करने के लिए स्वभावतः ही परिपक्व आयु (वयप्पत्तो) का होना जरूरी था।

शुल्क

विश्वविद्यालय शुल्क (आचरिय भाग) पूरे शिक्षण-काल का लगभग एक हजार कहापण (उस समय का एक सिक्का) था, जो प्रायः पेशगी ले लिया जाता था। जो छात्र शुल्क नहीं दे पाते थे वे बदले में आचार्य की सेवा करते थे। ऐसे छात्र दिन में गुरु की सेवा करते और रात में शिक्षा पाते थे। जो छात्र शुल्क दे सकते थे, उन्हें 'आचरिय-भागदायक' और जो नहीं दे पाते थे उन्हें 'धम्मन्तेवासिक' कहते थे। जंगल से लकड़ी बटोर कर लाना, गोधन को चराना-बाँधना-दूहना, घर की व्यवस्था करना आदि 'धम्मन्तेवासिक' छात्र का कर्त्तव्य होता था। प्रतिभावान् और अध्यवसायी गरीब छात्रों को अक्सर अध्ययन-काल में गुरु की सेवा से इस शर्त पर मुक्ति भी मिल जाती थी कि अध्ययनोपरान्त वह कमाकर गुरु-दक्षिणा चुका देगा। ऐसी अनेक घटनाओं का उल्लेख पालि साहित्य में है। पास-पड़ोस के गृहस्थ लोग अक्सर आचार्य और विद्यार्थी को समय समय पर भोजन के लिए निमन्त्रित करते रहते थे। गरीब छात्रों को इससे बड़ा लाभ होता था।

एक अध्यापक की देख-रेख में अधिक से अधिक पाँच सौ तक छात्रों का उल्लेख मिलता है। इन विद्यार्थियों में ज्यादा संख्या ब्राह्मण और राजपूतों की ही थी। कुछ 'सेट्ठि पुत्त' (श्रेष्ठि-पुत्र = सेठ का लड़का) का भी जिक्र मिलता है। छात्र और अध्यापक का सम्बन्ध बहुत ही घनिष्ठ और पिता-पुत्र का था। छात्र सदा अध्यापक के साथ रहते थे। आज के विश्वविद्यालयों के छात्र समाज में सबसे आराम-पसन्द और निठल्ले हैं। भोगमय जीवन की तो मानो आज शिक्षा ही दी जाती है। परन्तु बुद्धकालीन भारत का विद्यार्थी-जीवन बड़ा कठोर तथा संयमपूर्ण था। उस समय का भोजन बहुत सादा था। प्रायः यवागु और भात ही मुख्य भोजन था। लगभग सभी छात्र अध्यापक के आवास में ही रहते, खाते, सोते, और पढ़ते थे। पहनने के लिए दो अन्दर का वस्त्रखण्ड (अन्तर-वासक), एक या दो उपरना, एक तल्लावाला जूता, (एक-तालिक-उपाहन) पर्याप्त माना जाता था। धूप से बचने के लिए पत्तों का छाता (पण्ण

छत्तं) इस्तेमाल करते थे। राजा-महाराजा अक्सर विश्व-विद्यालय के पास ही अपने विद्यार्थी के लिए आवास बनवा लेते थे। उनके छात्र अपने आवास में रहते थे और साथ ही पढ़ते थे। इनकी रहन-सहन अन्य विद्यार्थियों की ही भाँति थी।

पुस्तक

कुछ लोगों का ख्याल है कि ईसवी सन् के पहले भारत में पुस्तकें नहीं थीं। लेकिन यह गलत है। आज की तरह उन दिनों कागज की मिलें न थीं और न प्रिंटिंग प्रेस ही थे। इसलिए पुस्तकों के नाम पर कूड़ाकरकट का ढेर निश्चय ही नहीं था फिर भी 'पोत्थकं' (पुस्तक) और 'सिप्पं (शिल्प) वाचेसि' से स्पष्ट है कि पढ़ाई केवल मौखिक ही नहीं थी'; बल्कि विभिन्न शिल्पों की शिक्षा देने के लिए पुस्तकें भी थीं। राजकीय लिखित आज्ञाओं और व्यक्तिगत पत्राचार का प्राचीन मागधी साहित्य में अनेक जगह उल्लेख आता है।

समय का सदुपयोग

पाठशालाओं और महाविद्यालयों में समय का बहुत ख्याल रखा जाता था। आज के कालेज के छात्र जिस तरह सिनेमा का दूसरा खेल देख बारह बजे रात को घर लौटते तथा ९ बजे सुबह तक सोये रहते हैं, वैसा प्राचीन विश्वविद्यालयों में नहीं होता था। छात्रावासों में ऐसी मुर्गी या चिड़िया पाली जाती थी जो चौथे पहर (चतुर्थयाम) के प्रारम्भ में बोल सकती हो। छात्रावास के पक्षी के बोलते ही छात्र उठ बैठते थे और शौचादि से निवृत्त होकर अभ्यास में लग जाते थे। ये समय-सूचक पक्षी सिखाए हुए होते थे। ये कभी गलती भी कर जाते थे और द्वितीय याम में ही शोर मचाने लगते थे। उस समय भी छात्र फौरन उठ बैठते और अभ्यास करने लगते, पर सबेरा होते-होते ऊँघने लगते।

आज की तरह उस समय जो चाहे वही अध्यापक नहीं बन सकता था। अध्यापक का पेशा-समाज में बहुत उच्च और सम्मान का था। अध्यापक-पद की प्राप्ति खुशामद और धन खर्च करके नहीं की जा सकती थी। अध्यापक का काम बहुत दुरूह और परिश्रम का था। प्रायः छात्रों में से ही जो प्रतिभावान्, परिश्रमी और ज्येष्ठ शिष्य (जेट्ठन्तेवासिक) होते थे उन्हें पहले सहायक अध्यापक (पिट्ठ-आचरिय) का पद दिया जाता था। कभी-कभी आचार्य जब प्रवास में जाते तो सहायक अध्यापक उनका कार्य संभालते थे। एक आचार्य अपने ज्येष्ठ शिष्य से कहता है—"तात, अहं विप्प वसिस्सामि त्वं याव ममागमना इमे माणवे सिप्पं वाचेहीति"। अर्थात् हे तात, मैं घर से दूर जा रहा हूँ, जबतक मैं बाहर रहूँ तुम मेरे इन छात्रों को पढ़ाओ। आचार्य का परिवार भी साथ ही रहता था। स्वभावतः ही ज्येष्ठ शिष्य आचार्य और उनके परिवार का विशेष स्नेहभाजन होता था। इसलिए अक्सर आचार्य की कन्या का विवाह ज्येष्ठ शिष्य के साथ होने का उल्लेख मिलता है (तस्मिं पन कुले सचेपि वयप्पत्ता धीता होति जेट्ठन्तेवासिकस्स वातब्बाति वुत्तं)।

शिक्षा का माध्यम

उस समय के विश्वविद्यालयों में निश्चय ही शिक्षण का माध्यम संस्कृत भाषा ही रही होगी। मौर्य साम्राज्य के उदय ने भारतीय छोटे-छोटे राज्यों को मिलाकर एक केन्द्रीय शासन की नींव डाली। मौर्य साम्राज्य का केन्द्र मगध था। इसलिए साम्राज्य की भाषा भी मागधी ही हुई। अशोक की सभी घोषणाएँ मागधी में ही हैं। इससे सिद्ध है कि मागधी का प्रसार भी दूर-दूर तक हुआ। संभव है, उस समय सारे साम्राज्य में शिक्षा का माध्यम मागधी ही रही हो।

पाठ्यक्रम

शिक्षण-संस्थाओं का पाठ्यक्रम क्या था—यह जानना आज बहुत आसान नहीं है। पर तीन वेद और अठारह शिल्प (सिप्प) का उल्लेख अक्सर आता है। ऐसा प्रतीत होता है कि आरम्भ में या तो अथर्ववेद का अस्तित्व ही नहीं था या उसे वेदों में गिना ही नहीं जाता था। वेद को छात्र मुखाग्र कर लेते थे। स्मरणीय नियमों को दीवाल पर लिख लिया जाता था। उस समय की शिक्षा आज की तरह अनुत्पादक और अव्यावहारिक नहीं थी। आज सिर्फ पुस्तकें रटा देना मात्र शिक्षा का उद्देश्य है। इसलिए आज के जीवन और शिक्षा में कोई सामंजस्य

नहीं रह गया है। आज के शिक्षित भारतीय प्रायः अपने समाज पर भारस्वरूप बन गए हैं। किंतु प्राचीन शिक्षा-पद्धति वैसी न थी। एक ओर जहाँ पुस्तकों का अध्ययन कराया जाता था वहाँ दूसरी ओर अठारह शिल्प भी सिखाए जाते थे। इनमें अधिकांश उत्पादक शिल्प ही थे। उदाहरणार्थ हस्ति-विद्या को लें। इसमें जंगली हाथी को पकड़ना, उसे शिक्षित करना, उसकी बीमारी का इलाज; हाथी के दाँत और हड्डियों का उपयोग आदि सिखाया जाता था। इसी तरह शिकारी का काम (लुद्दककम्म) था। धनुर्विद्या (इस्सापसिप्प), चिकित्सा (तिकिच्छा) शास्त्र आदि भी अठारह शिल्पों में ही शामिल थे।

शिक्षा का उद्देश्य

आज शिक्षा का अर्थ अभिभावक लगाते हैं 'नौकरी करने योग्य होना, किन्तु पहले शिक्षा का अर्थ था 'शिल्पों' को सीखकर व्यावहारिक ज्ञान के उपयोग द्वारा जीविकोपार्जन करना।' एक जगह माता-पिता का अपने सोलह वर्ष के बालक से कहने का उल्लेख है—"पुत्र, हमने तेरी उत्पत्ति के दिन आग जलाकर रख दी थी। यदि ब्रह्म लोक जाने की इच्छा है तो उस आग को लेकर जंगल में जा, अग्नि देवता, को नमस्कार करता हुआ ब्रह्मलोक परायण हो। यदि गृहस्थ होना चाहता है तो तक्षशिला जाकर लोकप्रसिद्ध आचार्य (दिसापामोक्ख आचरिय) से शिल्प सीखकर घर आकर कुटुम्ब का पालन-पोषण कर। स्पष्ट है कि पुरानी शिक्षण-पद्धति आज की तरह निकम्मी नहीं थी। शिक्षा समाप्त करने के बाद छात्र खूब भ्रमण (देसचारिकं) करते थे, जिनसे उनका ज्ञान विस्तृत और व्यावहारिक होता था। साधारण जन से लेकर राजकुमार पर्यन्त अध्ययन समाप्त कर जब घर लौटते थे तब अपने ज्ञान और अनुभव का सार्वजनिक प्रदर्शन करते थे।

कालान्तर में बिहार में भी उच्च शिक्षा के लिए अनेक विश्वविद्यालयों की स्थापना हुई जो बाद में भारत ही नहीं सारे एशिया में महान् ज्ञानपीठ माने जाने लगे। इन विश्वविद्यालयों में नालंदा और विक्रमशिला अधिक प्रसिद्ध थे। नालंदा विश्वविद्यालय वर्तमान पटना जिलांतर्गत राजगृह और बिहार शरीफ के बीच में था। कहते हैं, इस विश्वविद्यालय में १५ सौ अध्यापक और १० हजार छात्र थे। इसके विस्तृत खंडहरों से इसकी विशालता का हम अनुमान लगा सकते हैं। यहाँ भारत के ही नहीं, लंका, बर्मा, तिब्बत, मंगोलिया, चीन, कोरिया आदि देशों से सैकड़ों छात्र विभिन्न विषयों की उच्च शिक्षा प्राप्त करने के लिए आते थे। यद्यपि शिक्षण पद्धति यहाँ भी पुरानी ही थी, किन्तु पहले की अपेक्षा विषय-विस्तार अधिक था।

बुद्धकालीन भारत में ग्राम और नगर की पाठशालाओं के अतिरिक्त कुछ ऐसे भी शिक्षण-केंद्र थे जिनमें खास-खास विषयों की ही शिक्षा दी जाती थी। पर इसकी संख्या कम थी और अधिकतर आयु प्राप्त लोग ही यहाँ रहते थे। सांसारिक जीवन में काम आनेवाले विषयों की शिक्षा के लिए ये केन्द्र नहीं थे।

स्त्री-शिक्षा

स्त्री-शिक्षा के लिए, मालूम होता है, अलग कोई व्यवस्था नहीं थी। इस ओर थोड़ी उदासीनता प्रतीत होती है। वैसे प्राचीन मागधी साहित्य में अनेक पढ़ी-लिखी विदुषी स्त्रियों का उल्लेख हुआ है। सम्भव है, प्रारम्भिक शिक्षा ही स्त्रियों के लिए पर्याप्त समझी जाती हो। वैसे विभिन्न ललित कलाओं में निपुण स्त्रियों का उल्लेख मिलता है।

संघ की फूट

'भिक्षुओ! लोक में एक बात पैदा होती हुई बहुत-से लोगों के अहित, दुःख और अनर्थ के लिए पैदा होती है, उससे देव-मनुष्यों को अहित होता है; दुःख मिलता है। कौन-सी एक बात? संघ की फूट। भिक्षुओ! संघ की फूट होने पर परस्पर झगड़े होते हैं, परस्पर डाँटना और गाली देनी होती है तथा परस्पर बिलगाव करने होते हैं। ऐसा होने पर अ-श्रद्धालु लोग श्रद्धा नहीं करते और श्रद्धालु लोगों में से किसी-किसी का मन फिर जाता है।'...

"संघ की फूट करानेवाला कल्प भर नरक में रहनेवाला होता है। फूट डालने में लीन, अधार्मिक व्यक्ति निर्वाण की प्राप्ति से वंचित होता है। वह मिलकर रहनेवाले संघ को फोड़कर कल्प-भर नरक में पकता है।"

—बुद्ध-वाणी

मैत्री-ब्रह्मविहार

प्रिय जिज्ञासु,

मैं गत सप्ताह बर्मा से भारत वापस आ गया। आजकल उरुवेला में रहकर नित्यप्रति प्रातः-सायं बोधि वृक्ष के नीचे बैठ कर ध्यान-भावना करता हूँ और दर्शनार्थ आने वाले उपासकों को ब्रह्म-विहारों की भावना-विधि सिखलाता हूँ। आसपास के गाँव वाले भी अधिक संख्या में आते हैं। उन्हें मेरे बतलाये हुए ढंग से भावना करने से शान्ति-लाभ का अनुभव हो रहा है। कुछ साधकों ने तो मैत्री-ब्रह्मविहार का ऐसा अच्छा अभ्यास कर लिया है कि उसके प्रयोग से रोगियों तक को चंगा कर देते हैं। एक दिन संध्या समय मेरे पास इतनी भीड़ एकत्र हो गई कि मुझे पर्णकुटी से बाहर आकर मैदान में बैठना पड़ा। भला, इस छोटी-सी कुटिया में दो सहस्र लोगों को बैठने के लिए स्थान कहाँ? पीछे मुझे ज्ञात हुआ कि यह सारी जनता मैत्री-ब्रह्मविहार की भावना-विधि को सीखने के लिए आई हुई थी। अब तो इस प्रदेश में अधिकांश साधक ब्रह्म-विहारों की ही भावना करते हैं।

मैंने तुम्हें लिखा था कि मैत्री, करुणा, मुदिता और उपेक्षा—ये चार ब्रह्म-विहार हैं और चालीस कर्मस्थानों में इनका विशेष स्थान है। चूँकि इनकी भावना कर साधक ब्रह्मत्व को प्राप्त कर लेता है अथवा मरने के उपरान्त ब्रह्म लोक में पैदा होता है, इसलिए इन्हें ब्रह्म-विहार कहते हैं। अन्य भावनाओं से श्रेष्ठ होने के कारण भी इनका नाम ब्रह्म-विहार पड़ा है। इन विहारों में विहरने वाले व्यक्तियों का स्तर उच्च हो जाता है और वे श्रेष्ठता को प्राप्त हो सर्वसाधारण में असाधारण बन जाते हैं, इसलिए इन विहारों को उत्तम माना जाता है। 'योग-दर्शन' में भी कहा गया है "मैत्री-करुणामुदितोपेक्षाणां सुख-दुःख पुण्यापुण्यविषयाणां भावनाश्चित्तप्रसादनम्" अर्थात् मैत्री, करुणा, मुदिता और उपेक्षा द्वारा सुख, दुःख, पुण्य तथा पाप सम्बन्धी विषयों की भावना से चित्त निर्मल होता है। पुराने योगियों ने तो ब्रह्म-विहारों की इतनी प्रशंसा की है कि इस छोटे-से पत्र में उन्हें लिख भेजना सम्भव नहीं।

मैत्री-ब्रह्मविहार की भावना करनेवाले प्रारम्भिक योगी को साधारण झंझटों को दूर करके कर्मस्थान को भली प्रकार सीखकर भोजन के उपरान्त कुछ विश्राम करके एकान्त स्थान में चला जाना चाहिए। वहाँ अच्छी तरह बिछाये हुए आसन पर आराम से बैठकर सर्वप्रथम द्वेष के दुर्गुणों एवं सहनशीलता के सद्गुणों का मनन करना चाहिए। तदुपरान्त 'अहं सुखितो होमि, निद्दुक्खो' (मैं सुखी हूँ, मैं दुःख रहित हूँ) या 'अवेरो अब्यापज्झो अनीघो सुखी अत्तानं परिहरामि' (मैं वैर रहित हूँ, व्यापाद रहित हूँ, उपद्रव रहित हूँ, सुखपूर्वक अपना परिहरण कर रहा हूँ) ऐसे बार-बार मन में ही भावना करनी चाहिए। किन्तु स्मरण रहे इस भावना को 'अपनी' भावना कहते हैं और अपनी भावना यदि सौ वर्ष भी की जाय तो अर्पणा नहीं प्राप्त हो सकती। इसलिए पहले अपने को मैत्री से पूर्ण कर अपने प्रिय, मनाप, सम्माननीय आचार्य या आचार्य-तुल्य को अनुस्मरण करके, "यह सत्पुरुष सुखी हों, दुःख रहित हों" कहकर भावना करनी चाहिए। इस प्रकार के व्यक्ति पर मैत्री करने से अवश्य अर्पणा प्राप्त होती है।

योगी को उतने से ही सन्तोष न करके सीमा को पार करने की इच्छा से उसके बाद अत्यन्त प्रिय सहायक पर मैत्री करनी चाहिए। तदुपरान्त मध्यस्थ एवं वैरी व्यक्ति पर। योगी को चाहिए कि एक-एक पर चित्त को मृदु और कर्मण्य करके दूसरे पर चित्त ले जाय। अर्थात् तीनों प्रकार के व्यक्तियों पर क्रमशः भावना करे, एक साथ ही नहीं।

यदि वैरी पर चित्त के जाने पर उसके द्वारा किये गये अपराधों के अनुस्मरण से प्रतिहिंसा की भावना उत्पन्न होती है, तो प्राचीन काल के महायोगियों के इन

वचनों का अनुस्मरण कर प्रतिहिंसा की भावना को शान्त करना चाहिए—

"भिक्षुओ ! यदि दोनों ओर मुठिया लगे आरा से लुटेरे चोर अंग-प्रत्यंग को चीर डालें, तो भी जो मन दूषित करे वह मेरा आज्ञाकारी नहीं है।"

"जो क्रोधी के प्रति क्रोध करता है, उसमें उसी की बुराई है, क्रोधी के प्रति क्रोध नहीं करनेवाला दुर्जय संग्राम को भी जीत लेता है।"

"दूसरे को कुपित हुआ जानकर जो स्मृतिमान् शान्त हो जाता है, वह अपना और दूसरे—दोनों की भलाई करता है।"

यदि प्रतिहिंसा की भावना इस प्रकार न शान्त हो, तो जिन बातों का अनुस्मरण करने से चित्त प्रसन्न एवं शान्त हो, उन्हें अनुस्मरण करके प्रतिहिंसा के भाव को मिटाना चाहिए।

यदि इस प्रकार से भी प्रयत्न करने पर प्रतिहिंसा का भाव उत्पन्न होता है, तो उसे चाहिए कि अपने को इस प्रकार उपदेश करे:—

"यदि तेरे वैरी द्वारा अपने ऊपर दुःख ढाया गया, तो तू किस कारण अपने चित्त में दुःख करना चाहते हो, जो कि उसके लिए अगम्य है ?"

"जिन शीलों का पालन करते हो, उन्हीं की जड़ काटनेवाले क्रोध से प्यार करते हो, तेरे जैसा कौन जड़ है ?"

"तू क्रोधित होकर उसको दुःखित करोगे या नहीं, किन्तु अपने को अभी क्रोध के दुःख से पीड़ित कर रहे हो।"

"क्रोध से अन्धे हुए वैरी यदि बुराई की राह पर चल रहे हैं तो तू भी क्रोध करके उन्हीं का क्यों अनुसरण कर रहे हो ?"

"शत्रु से जिस क्रोध के कारण तेरे लिए अप्रिय काम किया गया है, उस क्रोध को त्याग दो, बिना मतलब के किस कारण परेशान हो रहे हो ?"

यदि इस प्रकार अपने को उपदेश करने पर भी चित्त प्रतिहिंसा के भाव से शान्त न हो, तो उसे अपने और अन्य के कर्म-फल का मनन करना चाहिए। अपने कर्म-फल का विचार करते हुए ऐसे मनन करना चाहिए—"हे पुरुष ! तू उसके लिए क्रोध करके क्या करोगे ? द्वेष के कारण हुआ यह काम तेरे ही अनर्थ के लिए होगा ? तू कर्म-स्वक् हो, कर्म-दायाद, कर्म-योनि, कर्म-बन्धु और कर्म ही तेरी शरण है। जो काम करोगे उसका उत्तराधिकारी होगे और यह तेरा कर्म तुझे घोर दुःखाग्नि में झोंक देगा।" दूसरे के कर्म-फल का मनन इस प्रकार करना चाहिए—"ये भी तेरे लिए क्रोध करके क्या करेंगे ? यह इन्हीं के अनर्थ के लिए होगा न ? ये भी कर्म-स्वक् हैं। ये जो काम करेंगे, उसके उत्तराधिकारी होंगे।"

यदि ऐसे कर्म-फल का भी मनन करने पर चित्त शान्त न हो, तो महायोगी भगवान् बुद्ध की चर्य्याओं का अनुस्मरण करना चाहिए—"हे योगी ! तेरे गुरु ने परम-ज्ञान को प्राप्त करने से पूर्व ही चार असंख्य एक लाख कल्प तक पारमिताओं को पूर्ण करते हुए वध करने वाले वैरियों के ऊपर भी चित्त को दूषित नहीं किया था। सीलव जातक, खन्तिवादी जातक, चूलधम्म जातक, भूरिदत्त जातक, चम्पेय्य जातक आदि में मनुष्य या पशु होकर भी उन्होंने अपने चित्त में कभी क्रोध नहीं आने दिया था !"

यदि इस प्रकार भी चित्त शान्त न हो तो मैत्री के ही गुणों का मनन करना चाहिए। महायोगी तथागत ने कहा है—'भिक्षुओ ! मैत्री-भावना करने में ग्यारह गुण हैं। कौन-से ग्यारह ? (१) सुख पूर्वक सोता है। (२) सोकर सुखपूर्वक उठता है। (३) बुरा स्वप्न नहीं देखता है। (४) मनुष्यों का प्रिय होता है। (५) अमनुष्यों का प्रिय होता है। (६) देवता उसकी रक्षा करते हैं। (७) उस पर आग, विष या हथियार नहीं असर करता है। (८) शीघ्र चित्त एकाग्र होता है। (९) मुख की सुन्दरता बढ़ती है। (१०) होशके साथ मरता है। (११) आगे नहीं प्राप्त करते हुए ब्रह्मलोक को जाने वाला होता है।"

बार-बार प्रयत्न करने पर जब चित्त शान्त हो जाय और अपने ऊपर तथा प्रिय, मध्यस्थ एवं वैरी चारों पर चित्त समान जान पड़ने लगे, तब सीमा टूट जाती है। जब उसकी सीमा टूटी हुई होती है, तब वह देवों के साथ

सारे लोक को मैत्री से एक समान पूर्ण कर देता है, और जिसकी सीमा नहीं जान पड़ती है, वह पहले से महागुणवान् हो जाता है। इस प्रकार समकाल में ही उसे सीमा का टूटना, निमित्त और उपचार प्राप्त हो जाते हैं। सीमा के टूट जाने पर उसी निमित्त का अभ्यास करते हुए, उसे ही बढ़ाते हुए पृथ्वी-कसिण की भावना में बतलाये गये ढंग से ही अर्पणा प्राप्त होती है। तदुपरान्त उसे क्रमशः प्रथम, द्वितीय, तृतीय और चतुर्थ ध्यान प्राप्त होते हैं। वह प्रथम ध्यान आदि में से किसी एक से—"मैत्री-युक्त चित्त से एक दिशा को परिपूर्ण कर विहरता है। वैसे ही दूसरी दिशा को, वैसे ही तीसरी दिशा को, वैसे ही चौथी दिशा को। इस प्रकार ऊपर, नीचे, तिरछे, सब जगह सर्वात्म के लिए सारे प्राणी वाले लोक को विपुल, महान्, प्रमाण-रहित, वैर रहित, व्यायाद रहित, मैत्री-युक्त चित्त से पूर्ण कर विहरता है।" प्रथम ध्यान आदि के अनुसार अर्पणा-चित्त को ही यह विविध-क्रिया सिद्ध होती है।

पुराने योगियों ने कहा है कि पाँच आकार की सीमा-रहित स्फरण-चेतोविमुक्ति होती है, सात आकार की सीमा से स्फरण (पूर्ण) होनेवाली चेतोविमुक्ति होती है और दस आकार की दिशा में स्फरण करनेवाली चेतोविमुक्ति होती है, किन्तु वह भी अर्पणा-प्राप्त चित्तवाले को ही सिद्ध होती है।

पाँच आकार की सीमा-रहित स्फरण-मैत्री-चित्त की विमुक्ति को इस प्रकार जानना चाहिए—"सारे सत्व वैर-रहित, व्यापाद रहित, उपद्रव रहित, सुख-पूर्वक अपना परिहरण करें। सारे प्राणी, सारे जीव (भूत), सारे व्यक्ति, सारे शरीरधारी वैर-रहित, व्यापाद-रहित, उपद्रव रहित, सुख-पूर्वक अपना परिहरण करें।"

सात आकार की सीमा से मैत्री-चित्त की विमुक्ति को इस प्रकार जानना चाहिए—"सारी स्त्रियाँ वैर-रहित, व्यापाद-रहित, उपद्रव रहित, सुख-पूर्वक अपना परिहरण करें। सारे पुरुष, सारे आर्य, सारे अनार्य, सारे देव, सारे मनुष्य, सारे दुर्गति को प्राप्त वैर-रहित, व्यापाद-रहित, उपद्रव-रहित, सुख-पूर्वक अपना परिहरण करें।"

दस आकार की दिशा में स्फरण करनेवाली मैत्री-चित्त की विमुक्ति को इस प्रकार जानना चाहिए—"सारे पूरब दिशा के सत्व वैर-रहित, व्यापाद-रहित, उपद्रव-रहित, सुख-पूर्वक अपना परिहरण करें। सारे पश्चिम दिशा के, सारे उत्तर दिशा के, सारे दक्षिण दिशा के। सारे पूरब की अनुदिशा के, सारे पश्चिम की अनुदिशा के, सारे उत्तर की अनुदिशा के, सारे दक्षिण की अनुदिशा के, सारे निचली दिशा के, सारे ऊपरी दिशा के।"

"सारे पूरब दिशा के प्राणी, जीव, व्यक्ति, शरीरधारी वैर-रहित अपना परिहरण करें। सारी पूरब दिशा की स्त्रियाँ, सारे पुरुष, आर्य, अनार्य, देव, मनुष्य, दुर्गति को प्राप्त। सारी पश्चिम दिशा की, उत्तर, दक्षिण। पूरब की अनुदिशा की, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण की अनुदिशा की। निचली दिशा की, ऊपरी दिशा की स्त्रियाँ, दुर्गति प्राप्त वैर-रहित, व्यापाद-रहित, उपद्रव-रहित, सुख-पूर्वक अपना परिहरण करें।"

योगी को चाहिए कि वह किसी एक आकार को लेकर सीमा-रहित अथवा सीमा-युक्त मैत्री का स्फरण करे। 'सारे सत्व वैर-रहित हों' यह एक अर्पणा है। 'व्यापाद-रहित हों' यह दूसरी अर्पणा है। 'दुःख-रहित हों' यह तीसरी अर्पणा है। अतः इन वाक्यों में जो स्पष्ट जान पड़े, उसके अनुसार मैत्री का स्फरण करना चाहिए। इस तरह जिस किसी अर्पणा के अनुसार मैत्री-चेतोविमुक्ति की भावना करके योगी पूर्वोक्त मैत्री-भावना के ग्यारह गुणों को प्राप्त कर लेता है।

मेरे भारत वापस आने का समाचार शीलगुप्त को भी बतला देना। बहुत दिन हुए उसका कोई समाचार नहीं मिला। क्या उसने अशुभ-कर्मस्थान का अभ्यास किया? उसके चित्त में प्रायः काम-वासना की भावनाएँ जगा करती थीं। मैंने लिख भेजा था कि अशुभ-भावना किया करो, क्योंकि अशुभ-भावना से सभी प्रकार के शुभ-निमित्त दूर हो जाते हैं और विरक्ति पैदा होती है। यदि उससे भेंट हो तो मैत्री-ब्रह्मविहार की भावना भी बतला देना अथवा यह पत्र ही उसे पढ़ने के लिए दे देना। तुमने योगाभ्यास में कहाँ तक प्रगति की—इसे विस्तार-पूर्वक लिख भेजना। योगिराज के आशीर्वाद।

बोधिमण्ड, उरुलवो तुम्हारा—
१०-९-५४ योगी

नये प्रकाशन

आकाश के तारे धरती के फूल—लेखक—कन्हैयालाल मिश्र 'प्रभाकर'। प्रकाशक—भारतीय ज्ञानपीठ काशी, दुर्गाकुण्ड रोड, बनारस। पृष्ठ संख्या १२०। मूल्य २)

इस ग्रन्थ में प्रभाकर जी की लिखी छोटी-छोटी ७० कहानियाँ हैं, जो बड़ी रोचक, सुन्दर एवं चुटकीली हैं। कुछ कहानियाँ तो केवल चार-पाँच पंक्तियों की ही हैं। 'अनुभव' शीर्षक कहानी केवल पाँच पंक्ति की है, जो इस प्रकार है—

"जीवन का सबसे सुन्दर समय कौन है?" जिज्ञासु ने पूछा।

माँ ने कहा—"बचपन।"

सिपाही ने कहा—"यौवन।"

विचारक ने कहा—"बुढ़ापा।"

माली ने कहा—"पूरी तरह पकने और टपकने के बीच के कुछ क्षण!"

इन्हें पढ़ने से मन ऊबता नहीं। हाथ में लेने पर समाप्त करके ही चित्त शान्त होता है। यह लेखक की लघु-कहानी निर्माण की दिशा में अपनी प्रथम देन है, जो हिन्दी साहित्य के लिए एक नवीन तथा अद्भुत सृजन है।

संस्मरण—लेखक—बनारसी दास चतुर्वेदी। प्रकाशक—भारतीय ज्ञानपीठ काशी, दुर्गाकुण्ड रोड, बनारस। पृष्ठ संख्या २५१। मूल्य ३)

इस ग्रन्थ में हिन्दी के सुप्रसिद्ध लेखक श्री चतुर्वेदी जी ने अपने २१ संस्मरण लिखे हैं, जिनमें कविवर पं० श्रीधर पाठक, बड़े दादा श्री द्विजेन्द्रनाथ ठाकुर, श्री रामानन्द चट्टोपाध्याय, दीनबन्धु ऐण्ड्रूज, स्वर्गीय प्रेमचन्द जी, श्री गणेशशंकर विद्यार्थी, द्विवेदी जी, पं० रुद्रदत्त शर्मा, मीर साहब, किशोरीलाल जी गोस्वामी, श्री कृष्णदेव वर्मा, पं० तोताराम सनाढ्य, स्वामी भवानीदयाल संन्यासी, स्वर्गीय पीर मुहम्मद मूनिस, स्वर्गीय वर्मा जी, नारायणदास खरे, स्वर्गीय देवीदयाल गुप्त, श्री शील जी और आजाद की माता जी के अतिरिक्त 'मेरी तीर्थ-यात्रा' शीर्षक से भी एक संस्मरण सम्मिलित है।

सभी संस्मरण सुन्दर और शिक्षाप्रद हैं। बीच-बीच में सम्बन्धित पत्रों से ग्रंथ बड़ा ही रोचक हो गया है। इससे हिन्दी साहित्य, सम्पादन-कला, कविता, कवि एवं लेखन-विधि का अच्छा ज्ञान होता है। इस संस्मरण में कुछ ऐसे लोगों का परिचय है, जिन्हें हम सुने अवश्य हैं, किन्तु जानते नहीं, अतः उनके सम्बन्ध में जानकर अनन्दानुभूति होती है। श्री चतुर्वेदी जी की भाषा एवं लेखन-विधि के सम्बन्ध में कुछ लिखने के लिए उनका नाम ही पर्याप्त है। ग्रंथ की छपाई-सफाई सब सुन्दर है। प्रमुख पृष्ठ भी चित्ताकर्षक है।

शेर-ओ-सुखन-(भाग दूसरा)-सम्पादक—अयोध्या प्रसाद गोयलीय। प्रकाशक—भारतीय ज्ञानपीठ काशी, दुर्गाकुण्ड रोड, बनारस। पृष्ठ संख्या ३२२। मूल्य ३)

इस ग्रन्थ में वर्त्तमान युगीन ख्यातिप्राप्त, प्रतिष्ठित, योग्य उत्तराधिकारी लखनवी शायरों का जीवन-परिचय एवं कलाम, साहित्यिक विवेचन तथा प्राचीन और वर्त्तमान शायरी की गतिविधि और परिवर्त्तन का तुलनात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया गया है। ग्रन्थ के आरंभ में ९६ पृष्ठों में सिंहावलोकन शीर्षक के अन्तर्गत प्रारम्भ से ई० सन् १९५३ तक की इश्किया शायरी का परिचय दिया गया है। उसके बाद लखनऊ स्कूल के वर्तमान युगीन ख्याति प्राप्त १५ शायरों का वर्णन है। इन वर्णनों को पढ़कर गोयलीय जी के उर्दू भाषा के प्रगाढ़ ज्ञान एवं सूक्ष्म अन्तर्दृष्टि का भान होता है। गोयलीय जी की हिन्दी भाषा को यह एक महान् देन है। उनकी भाषा-शैली बड़ी ही सुन्दर और सलील है। नज्म और गज़लों का हिन्दी भाषा में इस प्रकार सुन्दर विवेचन गोयलीय जी ही कर सकते हैं। मैं तो इनके ग्रन्थ सम्पादन विधि, लेखन-शैली एवं विवेचन से मुग्ध हूँ। इस कृति के लिए गोयलीय जी को जितना भी धन्यवाद दिया जाय, वह थोड़ा है। जैसा ग्रन्थ है वैसा ही इसका सुन्दर गेट्-अप् भी है। छपाई-सफाई सब मनोहारी है।

—भिक्षु धर्मरक्षित

बौद्ध-जगत्

पण्डित विजया लक्ष्मी ने बौद्धपद्धति से पूजा की

गत मास हिन्देशिया की यात्रा करते हुए पण्डित विजया लक्ष्मी ने जावा के सुप्रसिद्ध ऐतिहासिक स्थान बोरोबुदुर का दर्शन किया। वहाँ की प्राचीन बुद्धमूर्तियों, स्तूपों एवं विहारों को देखकर उन्हें प्रबल धर्म-संवेग उत्पन्न हो आया। पण्डित विजया लक्ष्मी ने श्रद्धा पूर्वक बौद्धपद्धति से वहाँ बुद्ध-पूजा की और उपस्थित जनता को बौद्धधर्म की महत्ता पर भाषण देते हुए कहा कि बौद्धधर्म भारत का ही नहीं, प्रत्युत विश्व का एक महान् धर्म है। भगवान् बुद्ध की शिक्षाओं के अनुसार चलकर हम अपना ऐहिक तथा पारलौकिक कल्याण कर सकते हैं।

बुद्धमूर्तियाँ सिंगापुर भेजी गईं—भारत सरकार ने सिंगापुर में स्थापित होनेवाले संग्राहलय के लिए १२ प्राचीन वस्तुएँ भेजी हैं, जिनमें एक संगमरमर की मूर्ति भी है। मूर्ति में त्रिरत्न अंकित वेदी पर बोधिवृक्ष दिखाया गया है, जिसके नीचे भगवान् बुद्ध को ज्ञान प्राप्त हुआ था। संगमरमर की एक और मूर्ति है, जिसमें राजा की सवारी का दृश्य अंकित है। जिससे राजा के रथ को चार घोड़े खींचते हुए दिखाये गये हैं। सम्भवतः इसमें कोशल नरेश प्रसेनजित् भगवान् बुद्ध के पास जाते हुए दिखाये गये हैं। ये दोनों मूर्तियाँ ईसा की दूसरी सदी में निर्मित हुई थीं और नागार्जुनी कोंडा से पायी गयी हैं। नागार्जुनी कोंडा आन्ध्र के गुण्टूर जिले में है। नागार्जुनी कोंडा का नाम प्रसिद्ध भिक्षु नागार्जुन के नाम पर पड़ा। वे ईसा की दूसरी सदी में हुए थे। वे भारतीय रसायन के आदि आचार्यों में माने जाते हैं।

इसके अतिरिक्त एक छठीं सदी की बनी भगवान् बुद्ध की झीने वस्त्र पहने खड़ी प्रस्तर-मूर्ति और एक ८ वीं सदी की तारा की प्रस्तर मूर्ति जो सारनाथ से प्राप्त हुई हैं, सिंगापुर भेजी गई हैं, जो बड़ी सुन्दर एवं मूर्तिकला की उत्कृष्ट देन हैं।

बुद्ध-चित्र-पट का निर्माण स्थगित—अमेरिका में एक फिल्म कम्पनी द्वारा भगवान् बुद्ध का चित्र-पट तैयार किया जा रहा था, जिसके निर्माण में अब तक दस लाख रुपये व्यय हो चुके थे, वह लंका, भारत तथा बर्मा के बौद्धों एवं विशेष रूप से महाबोधि सभा के विरोध करने के कारण सदा के लिए स्थगित कर दिया गया। स्मरण रहे गत वर्ष बम्बई की भी एक फिल्म-कम्पनी ने बुद्ध-चित्र-पट बनाने का असफल प्रयत्न किया था।

कलकत्ता में धर्मचक्र प्रवर्तन-दिवस—भारतीय महाबोधि सभा की ओर से गत १५ जुलाई को कलकत्ता के धर्मराजिक विहार में धर्मचक्र दिवस मनाया गया। प्रातः काल से दोपहर तक भिक्षुओं ने सूत्रपाठ किये और पूजा करने वाले उपासक-उपासिकाओं का ताँता बँधा रहा।

सन्ध्या समय एक सार्वजनिक सभा हुई, जिसका प्रबन्ध महाबोधि सभा के संयुक्त मंत्री भिक्षु जिनरत्न ने किया था। अपनी सुदूर पूर्व यात्रा से लौटे डा० कालीदास नाग एम० पी० ने सभा की अध्यक्षता की। प्रारम्भ में श्री रणजीत गुह नामक छात्र द्वारा संगीत गाया गया। तदुपरान्त भिक्षु सोरत ने पञ्चशील दिया। जयमंगल गाथा के पाठ के उपरान्त स्याम के भिक्षुओं ने धम्मचक्क-पवत्तन-सुत्त का पाठ किया। श्री के० सी० गुप्त ने आगत लोगों का स्वागत किया। भिक्षु शीलभद्र ने इस उत्सव का तात्पर्य लोगों को समझाया। तदुपरान्त श्री ताराशंकर बनर्जी, श्री एन० सी धीमान और श्री के० एस० सीताराम के भाषण हुए। सभापति के भाषण के पश्चात् प्रो० निर्मल बरुआ के धन्यवाद के साथ सभा का कार्यक्रम समाप्त हुआ।

रात्रि में मन्दिर में प्रदीप पूजा की गई तथा भिक्षुओं ने सूत्रपाठ किया। ९ बजे यू० एस० आई० एस० द्वारा शिक्षा-सम्बन्धी चल-चित्र प्रदर्शित किया गया।

जमशेदपुर में बौद्ध-प्रगति—जमशेदपुर में लगग एक सौ बौद्ध रहते हैं, जो बरुआ हैं और परम्परा से हाँ बौद्ध उत्सव मनाते रहे हैं, किन्तु आज तक उनके त्सव संगठित रूप से नहीं होते रहे हैं। इधर जब से ारनाथ महाबोधि कालेज के भूतपूर्व प्रिंसिपल श्री केसरी ुमार राय वहाँ गये हैं और जमशेदपुर-स्थित कालेज के ्रिंसिपल हुए हैं, तब से वहाँ के बौद्धों में नव-जागरण त्पन्न हो गया है। गत वैशाख पूर्णिमा के शुभावसर पर मशेदपुर के बौद्धों ने मिलकर श्री केसरी कुमार राय के भापतित्व में बुद्ध जयन्ती मनाई थी और तब से अन्य भी पर्व मनाये जा रहे हैं।

मद्रास में धर्मचक्र-उत्सव—भारतीय महाबोधि भा की ओर से गत १८ जुलाई को मद्रास के केन्नेट न में भिक्षु संघरक्षित के सभापतित्व में धर्मचक्र-उत्सव नाया गया। प्रारम्भ में भिक्षु बी० जिनानन्द ने उपाकों को त्रिशरण और पंचशील दिया। तत्पश्चात् श्री र० वाई० सोमसुन्दरम् एम० ए०, बी० टी० और ी आर० जयचन्द्रम् एम० ए० के भाषण हुए। इन क्ताओं ने अपने भाषणों में धर्मचक्र-दिवस की महत्ता वं बौद्धधर्म की विशेषता पर प्रकाश डाला।

लगभग एक हजार लोग इस सभा में सम्मिलित ुए थे। सन्ध्या समय विहार में प्रदीप पूजा की गई ौर भिक्षुओं ने धम्मचक्क-पवत्तन-सुत्त का पाठ किया।

बुद्धपुरी में आषाढ़ पूर्णिमा—गत १५ जुलाई को ानपुर के बुद्धपुरी नामक स्थान में श्री रामस्वरूप गुप्त म० ए०, एम० एल० ए० की अध्यक्षता में समारोहर्वक आषाढ़ पूर्णिमा का उत्सव मनाया गया। वक्ताओं ें श्री लालताप्रसाद सोनकर एम० एल० सी०, मातिाल दास एम० एल० ए०, डा० मधुकर और आचार्य ेधार्थी के नाम उल्लेखनीय हैं।

श्रमिक उपनिवेश का नाम बुद्धपुरी रखा गया—यह प्रसन्नता की बात है कि कानपुर के श्रमिक उपिवेश का नाम 'बुद्धपुरी' रख दिया गया। कानपुर की ारपालिका के इक्जक्यूटिव आफिसर ने अपने पत्र संख्या १०५ दिनांक ९ जुलाई द्वारा उत्तर प्रदेश के लेबर मिश्नर कानपुर को सूचित कर दिया है कि नगरपालिका कानपुर ने अपने प्रस्ताव संख्या १२ दिनांक १७ अप्रैल द्वारा यह निर्णय कर लिया है कि कानपुर के बाबूपुरवा-क्षेत्र के साथ पूरे श्रमिक उपनिवेश का नाम 'बुद्धपुरी' रख दिया जाय। स्मरण रहे, स्थानीय जनता ने इसका बड़ा विरोध किया था और एक प्रस्ताव द्वारा श्रमिक उपनिवेश का नाम 'सीताराम नगर' रखना स्वीकृत किया था, किन्तु राष्ट्रपाल हायर सेकेण्डरी स्कूल के प्रिंसिपल आचार्य मेधार्थी की तत्परता एवं उद्योग से उनका विरोध सफल न हो सका।

जर्मनी में बुद्ध-विहार—जर्मनी में बौद्ध-कार्य सुचारु रूप से हो रहे हैं। लंका की धर्मदूत सोसाइटी के प्रधान मन्त्री श्री अशोक वीररत्न आजकल जर्मनी में एक बुद्ध-विहार के निर्माण के निमित्त स्थान का निरीक्षण करने गये हुए हैं। बुद्धविहार-निर्माण के लिए धन एकत्र किया जा रहा है। लंका के एक व्यक्ति ने उक्त विहार के निर्माणार्थ अकेले दस हजार रुपये दिया है।

हंगरी—भदन्त धर्मकीर्ति पद्मदीप नायक स्थविर ए० एम० एम० ने हंगरी के बुडापेस्ट नगर में एक बुद्धिष्ट मिशन की स्थापना की है। यद्यपि हंगरी में बौद्धों की संख्या उतनी अधिक नहीं है, तथापि वे भगवान् बुद्ध की शिक्षा का प्रचारकार्य करने के लिए दृढ़ संकल्प कर लिए हैं।

साँची में धातु-प्रदर्शन—आगामी ४ और ५ जनवरी सन् १९५५ को साँची के चेतियगिरि विहार में सुरक्षित अग्रश्रावक सारिपुत्र तथा मोग्गल्लान की पवित्र अस्थियों का प्रदर्शन होगा।

पालि के छात्रों की वृद्धि—सारनाथ के महाबोधि कालेज में इस वर्ष पालि पढ़ने वाले छात्रों की काफी वृद्धि हुई है। नवें क्लास में ५७, दसवें में ३५, ग्यारहवें में १७ और बारहवें में १५ छात्र पालि पढ़ रहे हैं। स्मरण रहे उत्तर प्रदेश के कालेजों एवं हाईस्कूलों में से सब से अधिक छात्र महाबोधि कालेज सारनाथ में ही पालि का अध्ययन करते हैं।

विश्वस्त सूत्र से ज्ञात हुआ है कि कुशीनगर के बुद्ध इण्टर कालेज में पालि भाषा का अध्ययन ९ वें क्लास से लेकर १२ वें तक अनिवार्य कर दिया गया है।

अजमेर में कक्षालय का उद्घाटन—गत २१ अगस्त को सायंकाल ५ बजे 'श्री व्रजमोहन लाल शर्मा' शिक्षा-मंत्री, अजमेर राज्य के करकमलों द्वारा श्री क्षात्र धर्म, ए. वी. स्कूल के नव-निर्मित कक्षालय का उद्घाटन हुआ।

स्कूल के बालक-बालिकाओं ने ललित-वेष-भूषा युक्त प्रदर्शन कर दर्शकों का मनोरंजन किया। शिक्षा मन्त्री को एक मानपत्र स्कूल की दशाओं का दिग्दर्शन करते हुए समर्पित किया गया। तत्पश्चात् शिक्षा-मन्त्री ने स्कूल के गरीब बच्चों को २००) रु० के दान का वचन दिया और श्रमिक समाज द्वारा चलाए जानेवाले इस स्कूल की उन्नति के लिए हर सम्भव सहयोग का आश्वासन दिया। तदनन्तर "श्री ए. बाकी" डाइरेक्टर ऑफ एज्यूकेशन अजमेर राज्य ने इस स्कूल को विभाग द्वारा शीघ्र मिडल तक राज्य-मान्यता दिये जाने की तथा बच्चों की शिक्षा निःशुल्क किए जाने के लिए आश्वासन दिया। इस घोषणा को सुनकर उपस्थित सज्जनों की करतल ध्वनि से आकाश गूँज उठा और उनमें अपार जोश दिखाई दिया। श्री ए. बाकी अध्यक्ष शिक्षा विभाग द्वारा बच्चों को पुरस्कार वितरित किया गया।

श्री बी. पी. बैरी, एडवोकेट, अध्यक्ष स्कूल समिति ने श्री शिक्षा मन्त्री तथा अध्यक्ष शिक्षा विभाग और जनता को धन्यवाद दे इस उत्सव को विसर्जित किया तथा "जनमन गण" गायन सबने खड़े होकर सश्रद्धा गाया।

मूलगन्ध कुटी विहार का वार्षिकोत्सव—इस वर्ष सारनाथ के मूलगन्ध कुटी विहार का तेइसवाँ वार्षिकोत्सव आगामी ७ नवम्बर रविवार को मनाया जायेगा। अभी से सारनाथ के इस अन्तर्राष्ट्रीय उत्सव में सम्मिलित होने की तैयारी करना प्रारम्भ कर दें।

भिक्षु संघरत्न वापस—महाबोधि-सभा सारनाथ के मंत्री भिक्षु संघरत्न गत १२ सितम्बर को लंका में लगभग ५॥ मास विश्राम करने के पश्चात् सारनाथ वापस आ गये।

आपके स्वागत में सायंकाल महाबोधि अन्तर्राष्ट्रीय अध्ययन-मण्डल की ओर से भदन्त शासनश्री महास्थविर के सभापतित्व में एक अभिनन्दन सभा हुई, जिसमें भिक्षु सद्धातिस्स, भिक्षु अश्वघोष, लामा लोबजङ्, पं० उदय नारायण पाण्डेय और पं० भृगुनाथ के भाषण हुए।

भिक्षु संघरत्न ने अपने भाषण में बतलाया कि उन्होंने सारनाथ के मूलगन्ध कुटी विहार के सामने उसके निर्माता अनागारिक धर्मपाल की संगमरमर की मूर्ति के स्थापनार्थ १२,०००) एकत्र किये हैं।

सभापति के भाषण के उपरान्त अध्ययन-मण्डल की ओर से सबको चाय पिलाई गई।

हिन्दी में बौद्धधर्म की पुस्तकें

दीघनिकाय—राहुल सांकृत्यायन ६)
मज्झिम निकाय— ,, ८)
विनय पिटक ,, ८)
संयुत्त निकाय—भिक्षु ज. काश्यप और भिक्षु धर्मरक्षित प्रथम भाग ७), द्वितीय भाग ५)
धम्मपद (कथाओंके साथ)—भिक्षु धर्मरक्षित २॥)
धम्मपद (गुटका)— ,, ॥)
धम्मपद—अवधकिशोर नारायण १॥)
सुत्तनिपात—भिक्षु धर्मरत्न २॥)
खुद्दकपाठ—भिक्षु धर्मरत्न ।)
पालि महाव्याकरण—भिक्षु जगदीश काश्यप ६)
मिलिन्द प्रश्न— ,, ६॥)
भगवान् बुद्ध की शिक्षा—देवमित्त धर्मपाल ।-)
महाकारुणिक तथागत—वेदराज प्रसाद ॥।)
बुद्धचर्या—राहुल सांकृत्यायन (सजिल्द) ९)
तथागत—आनन्द कौसल्यायन १॥)
बुद्ध और उनके अनुचर— ,, १॥।)
बौद्धचर्या पद्धति—बोधानन्द महास्थविर १॥)
सरलपालि शिक्षा—भिक्षु सद्धातिस्स १॥)
बौद्ध कहानियाँ—व्यथित हृदय १॥)
बुद्ध-कीर्तन—प्रेमसिंह चौहान 'दिव्यार्थी' १॥)
बुद्धार्चन— ,, ।)
बोधिद्रुम—सुमन वात्स्यायन ।=)
भगवान् हमारे गौतम बुद्ध-प्रो० मनोरंजनप्रसाद-)

बुद्धदेव—शरत्कुमार राय १॥।)
थेरी गाथायें—भरतसिंह उपाध्याय १॥)
बुद्ध और बौद्ध साधक— ,, १॥)
बुद्धधर्म के उपदेश—भिक्षु धर्मरक्षित २)
बौद्ध विभूतियाँ— ,, १॥)
लंका-यात्रा— ,, १॥)
नेपाल-यात्रा— ,, ४॥)
कुशीनगर का इतिहास ,, २॥)
पालि-पाठ-माला— ,, १)
जातिभेद और बुद्ध— ,, ॥)
तेलकटाह गाथा— ,, ।)
बौद्ध-शिशु-बोध— ,, ।)
कुशीनगर-दिग्दर्शन— ,, ।)
तथागत का प्रथम उपदेश— ,, ।)
सारनाथ-दिग्दर्शन— ,, ।)
बुद्धकालीन भारत का भौगोलिक परिचय ॥)
पालि जातकावली—बटुकनाथ शर्मा २।)
बुद्ध-वचन—भिक्षु आनन्द कौसल्यायन ।)
बुद्ध-शतकम्— ,, ।)
महापरिनिर्वाण सूत्र—भिक्षु ऊ कित्तिमा १।)
नालन्दा विश्वविद्यालय-चन्द्रिका सिंह उपासक ॥=)
श्रद्धा के फूल—(कहानी-संग्रह) कुमारी विद्या ।=)
बुद्ध-अर्चना—(कविता) ,, =)

नागरी लिपि में पालि ग्रन्थ

जातकट्ठकथा—भिक्षु धर्मरक्षित ९)
तेलकटाह गाथा— ,, ।)
धम्मचक्कप्पवत्तन सुत्त— ,, ।)
पालि-पाठ-माला— ,, १)

सुत्तनिपात—भिक्षु धर्मरत्न २॥)
खुद्दकपाठ— ,, ।)
सिगाल सुत्त—भिक्षु ऊ कित्तिमा ॥)

बृहद् सूचीपत्र के लिये =) की टिकट के साथ लिखें

प्राप्ति स्थान :—

महाबोधि पुस्तक भण्डार, सारनाथ, बनारस

प्रकाशक—भिक्षु एम० संघरत्न, महाबोधि सभा, सारनाथ, (बनारस)
मुद्रक—ओम् प्रकाश कपूर, ज्ञानमण्डल [illegible] बनारस ।

धर्मदूत
महा बोधि सभा सारनाथ का मुखपत्र
क्तूबर
१९५४
र्ष—१९ : अंक—६
वार्षिक-३) एक अंक का ।=

विषय-सूची

मूलगन्ध कुटी विहार, सारनाथ

का

२३ वाँ वार्षिकोत्सव

आगामी ७ नवम्बर, रविवार को उत्तरप्रदेश के सिंचाई तथा सूचना विभाग के मन्त्री माननीय पं०कमलापति त्रिपाठी शास्त्री की अध्यक्षता में मूलगन्ध कुटी विहार, सारनाथ का वार्षिकोत्सव अति समारोह के साथ मनाया जायेगा। इस उत्सव में प्रतिवर्ष देश-विदेश के अनेक प्रतिष्ठित व्यक्ति सम्मिलित होते हैं। आप भी पधार कर इस अवसर से लाभ उठाने का अब निश्चय कर लें। कार्यक्रम का पूरा विवरण समाचार-पत्रों द्वारा सूचित किया जायेगा।

साथ ही ८ नवम्बर, सोमवार को महाबोधि कालेज सारनाथ का वार्षिकोत्सव उत्तरप्रदेश के शिक्षा-विभाग के सभा-सचिव डा० सीताराम पी० एच० डी० की अध्यक्षता में सम्पन्न होगा। विशेष जानकारी के लिए निम्नलिखित पते पर पूछ-ताछ करें।

मंत्री,
महाबोधि सभा,
सारनाथ, बनारस।

चरथ भिक्खवे चारिकं बहुजनहिताय बहुजनसुखाय लोकानुकम्पाय अत्थाय हिताय सुखाय देवमनुस्सानं। देसेथ भिक्खवे धम्मं आदिकल्याणं मज्झे कल्याणं परियोसानकल्याणं सात्थं सव्यञ्जनं केवल-परिपुण्णं परिसुद्धं ब्रह्मचरियं पकासेथ। महावग्ग, (विनय-पिटक)

'भिक्षुओ! बहुजन के हित के लिये, बहुजन के सुख के लिए, लोक पर दया करने के लिये, देवताओं और मनुष्यों के प्रयोजन के लिये, हित के लिये, सुख के लिये विचरण करो। भिक्षुओ! आरम्भ, मध्य और अन्त—सभी अवस्था में कल्याणकारक धर्म का उसके शब्दों और भावों सहित उपदेश करके, सर्वांश में परिपूर्ण परिशुद्ध ब्रह्मचर्य का प्रकाश करो।'

सम्पादकः—त्रिपिटकाचार्य भिक्षु धर्मरक्षित

वर्ष १९ | सारनाथ, अक्तूबर | बु० सं० २४९८ / ई० सं० १९५४ | अङ्क ६

बुद्ध-वचनामृत

'परस्पर सहयोग से लक्ष्य की प्राप्ति'

"भिक्षुओ! वे गृहस्थ तुम्हारे बहुत उपकारक हैं, जो तुम्हारे लिए वस्त्र, भोजन, आसन, पथ्य, दवा और काम की चीजें सदा देते हैं। भिक्षुओ! तुमलोग भी उनके बहुत उपकारक हो, क्योंकि उन्हें आरम्भ, मध्य और अन्त में कल्याणकर धर्म का उपदेश करके परिपूर्ण परिशुद्ध ब्रह्मचर्य को प्रकाशित करते हो। इस प्रकार भिक्षुओ! परस्पर के सहयोग से संसार रूपी बाढ़ को पार करने और भली प्रकार दुःख का अन्त करने के लिए ब्रह्मचर्य का पालन किया जाता है।

"घरबारी और बे-घरबारी दोनों एक दूसरे के सहारे परम कल्याणकारक सर्वोत्तम सद्धर्म का पालन करते हैं। बे-घरबारी पीड़ा को दूर करने के लिए गृहस्थों से वस्त्र, भोजन, दवा और आसन पाते हैं। घरबारी गृहस्थ तथागत के सहारे आर्यप्रज्ञा के ध्यानी अर्हन्तों का विश्वास करते स्वर्गगामी मार्ग पर चलते धर्म का पालन कर देवलोक में आनन्द करते हैं और चाहे हुए को पाकर प्रमोद करते हैं।"

—इतिवुत्तक ४.८

बुद्ध और गोपा

श्री सुखलाल जी

विवाह एक मंगल विधि है, एक में से अनेक होने का उपनिषद् में आनेवाला ब्रह्म-संकल्प है। परन्तु इस विधि की मांगलिकता विवाह-सूत्र में बद्ध होनेवाले दोनों पात्रों की समानता—बौद्धिक व शारीरिक समकक्षता—पर ही अवलम्बित है। ऐसी मानसिक व शारीरिक समानता और समझदारी दोनों में होने पर ही विवाह एक आदर्श विवाह होता है। दूसरों के लिए वह एक उदाहरण स्वरूप और अनुकरणीय होता है, ऐसा भी कहा जा सकता है। बुद्ध एक महान् क्रान्तिकारी विचारक और मध्यम मार्ग से बराबर तौल कर चलनेवाले प्रवृत्तिलक्षी पुरुष के रूप में प्रख्यात हैं। उनके आचार एवं विचार का सूक्ष्मत्व तथा सन्तुलन अध्यात्म-मार्ग व तत्व-चिन्तन में तो सर्वत्र सुविदित है परन्तु उनकी यह विचार सूक्ष्मता और आचार की समतुला एकदम बचपन से, और विशेषतः जब वे गृहस्थाश्रम में प्रवेश-योग्य हुये, तब कैसी थी, यह बहुत कम लोग जानते हैं। बुद्ध का जीवन-चित्र पालिग्रन्थों में है; परन्तु उनमें वह नाममात्र का ही है। पालि पिटकों के पश्चात्कालीन संक्रमक युग में रचित महायान-साहित्य में बुद्ध के गृहस्थाश्रम-प्रवेश का वर्णन विस्तार से आता है। ऐसा एक ग्रन्थ है—'ललित विस्तर' इसकी रचना ई० स० के प्रारम्भिक शतकों में हुई मानी जाती है। इसकी भाषा पालि में से संस्कृत की ओर जानेवाली एक मिश्रित भाषा है। 'ललित विस्तर' का अर्थ है, बुद्ध की जीवन लीलाओं का विस्तार। इसकी शैली पौराणिक है, और इसमें काव्य चमत्कार भी जैसा-तैसा नहीं है; पर इसमें जो कुछ कहा गया है वह सब ऐतिहासिक ही है, ऐसा नहीं समझना चाहिए। परन्तु बुद्ध स्वयं ऐतिहासिक हैं और उनका विवाह भी ऐतिहासिक है, इस मूल वस्तु के बारे में तो कोई सन्देह ही नहीं। किन्तु उनके विवाह वर्णन में 'ललित विस्तर' के लेखक ने जो इन्द्र-धनुष के से रंगों का आलेखन किया है, जिन भावनाओं की अभिव्यक्ति की है तथा प्रत्येक देश और प्रत्येक काल के समाज के लिए उपयोगी और अनुकरणीय हो सके, ऐसे वैवाहिक जीवन का स्पर्श करनेवाले जिन मुद्दों को आह्लादक शैली में काव्यबद्ध किया है, वे चाहे बुद्ध के जीवन में न बने हों, फिर भी उनके व्यक्तित्व के लिए शोभनीय व उसे उठाव देनेवाले तो अवश्य हैं। न इतना ही नहीं, समझदार पाठकों को उसमें से बहुत कुछ सीखने को भी मिल सकता है; इसलिए यहाँ हम संक्षेप में उल्लेख कर रहे हैं।

आठ प्रकार के विवाहों से भिन्न

स्मृति ग्रन्थों में ब्राह्म आदि आठ प्रकार के विवाहों का उल्लेख है। वे सब भिन्न-भिन्न समय में अथवा एक ही समय में किन्तु विभिन्न समाजों में बनी हुई विवाह घटनाओं पर से किए गये तारणरूप हैं। पौराणिक व इतर कथा साहित्य तथा नाटक-आख्यान साहित्य में जो अनेकविध-विवाह प्रसंगों का उल्लेख आता है उसे देखते हुये स्मृतिकारों द्वारा वर्णित विवाह के आठ प्रकार सामाजिक यथार्थता का निरूपण प्रतीत होते हैं। इसके अतिरिक्त इस देश और प्रदेश के विभिन्न समाजों में घटित किंवा प्रवर्तित विवाह घटनाओं तथा प्रथाओं के बारे में जब हम पढ़ते सुनते हैं तब स्मृतिकारों का वह निरूपण यथार्थ लगता है। राम महान पुरुष थे, कृष्ण भी वैसे थे। महादेव भी देव ही थे पाण्डव भी वीर पुरुष थे। नल तो सुविख्यात हैं ही। आज जैसे पौराणिक और पृथ्वीराज जैसे ऐतिहासिक पुरुषों को विवाह-प्रसंग काव्यों या पुराण-ग्रन्थों में आते हैं और अधिकांशतः सामान्य जनता उनसे परिचित भी है, परन्तु 'ललित विस्तर' में बुद्ध और गोपा का जो विवाह प्रसंग आता है, वह उनसे कहीं बढ़ा-चढ़ा और अत्यन्त बोधप्रद होते

के अतिरिक्त आकर्षक और रस प्रेरक भी है। ऐसा होने पर भी वह अज्ञात ही रहा है, अन्यथा अश्वघोष, कालिदास, और भवभूति जैसे अनेक कवियों ने उस प्रसंग को लेकर अवश्य ही मोहक काव्यों की रचना की होती।

जीवन-साथी की परीक्षा

राम शैव-धनुर्भंग द्वारा अपना पराक्रम प्रमाणित करते हैं, जिससे सीता उन्हें पति के रूप में स्वीकार करती है, कृष्ण रुक्मिणी का उसकी इच्छा से अपहरण करते हैं। महादेव पार्वती की तपस्या मूलक भक्ति से प्रसन्न होकर उसे स्वीकार करते हैं। अर्जुन के मत्स्य-वेध से द्रौपदी उसके पाँचों भाइयों के साथ शादी करती है। दमयन्ती नल को और इन्दुमती अज को स्वयम्वर में वर-माला पहनाकर पति के रूप में स्वीकार करती हैं। संयुक्ता भी पृथ्वीराज का वरण स्वयम्वर में ही करती है। इन सब उदाहरणों में हम देखते हैं कि विवाह से पूर्व दोनों विवाहार्थी एक-दूसरे को भले ही चाहते हों, परन्तु वे न तो एक दूसरे की निर्बाध रूप से परीक्षा ही करते हैं और न गृहस्थाश्रम के योग्य गुणों की धीर मीमांसा ही करते हैं। एक अथवा दूसरे कारण से वे एक-दूसरे को चाहने लगते हैं, परन्तु उस प्रेम के पीछे दोनों उम्मीदवारों में समान समझ-बूझ और निर्भय तथा खुले मन से एक-दूसरे के साथ विचारों का विनिमय हम नहीं देखते। किन्तु बुद्ध और गोपा में इन सबसे उल्टी ही बातें हैं। बुद्ध जितने समझदार थे, गोपा उससे तनिक भी कम समझदार मालूम नहीं होती। बुद्ध जितने खुले दिल से बातें करते हैं, उससे तनिक भी कम खुले दिल से गोपा बुद्ध के साथ बातें नहीं करती। बुद्ध धनुर्विद्या द्वारा पराक्रम का परिचय तो देते ही हैं, परन्तु उसके सिवा वे जिन अनेक विद्याओं और कलाओं में अपना श्रेष्ठत्व दिखलाते हैं वह राम-कृष्ण आदि दूसरे किसी के विवाह-प्रसंग में हम नहीं देखते। दूसरे अनेक रोमांचकारी प्रसंगों में बढ़ जाय, ऐसा प्रसंग तो वहाँ आता है, जिसमें गोपा अपने सास-ससुर तथा अपने अनेक बुजुर्गों के समक्ष जरा-सा भी परदा न करने की अपनी दृढ़ वृत्ति का एक भव्य, उदात्त, कुशल और वीर नारी के लिये शोभास्पद दलीलों से समर्थन करती है। यह समर्थन आज की समझदार-शिक्षित और संस्कारी साहसी कन्या के समर्थन की अपेक्षा तनिक भी कम नहीं है। जिस लेखक ने 'ललित विस्तर' में इस प्रसंग का आलेखन किया है, उस लेखक ने इसमें श्रमण-परम्परा-और उसमें भी खास तौर पर बौद्ध-परम्परा में स्थापित समानता और मुक्तता की भावना बुद्ध और गोपा का वरण-प्रसंग लेकर हू-बहू व्यक्त की है। स्वयं लेखक चाहे जिस प्रदेश या जाति का हो, परन्तु उसने बुद्ध और गोपा के पात्रालेखन में स्त्री-पुरुष की समानता की भावना इतने स्तर पर प्रस्थापित की है कि आज भी वह सर्वत्र मान्य हो सके, ऐसी लगती है। बुद्ध और गोपा दोनों ही कपिलवस्तु के निवासी हैं। दोनों प्रसिद्ध शाक्य कुल में उत्पन्न हुये हैं और नेपाल के पार्वत्य-प्रदेश की मुक्त वायु में बड़े हुये हैं। यह सब होते हुये भी उन दोनों का सम्बन्ध अन्ततः बौद्ध-परम्परा में पर्यवसित होता है। बौद्ध परम्परा में स्त्री-पुरुष की समानता का स्तर दूसरी किसी भी परम्परा की अपेक्षा उतने प्राचीन समय में भी कितना समुन्नत था, इसका पता हम बुद्ध और गोपा के संवाद-मिलन व परीक्षण-प्रसंगों में पाते हैं। मुझे तो ऐसा प्रतीत होता है कि यदि 'ललित विस्तर' का यह भाग भिन्न भाषाओं द्वारा जन-साधारण के सामने आया होता, तो चाहे जितने विदेशी आक्रमण और दूसरे भय-स्थान होने पर भी भारतीय नारी का—विशेषतः सवर्ण समझे जानेवाले समाजों के नारी-वर्ग का—इतना अधिक पतन न होता।

विवाह के लिए अनुरोध

एक दिन इकट्ठे हुए अनेक बड़े-बड़े शाक्यों ने शुद्धोदन से कहा कि कुमार सिद्धार्थ वयस्क हुआ है। ज्योतिषियों और सामुद्रिकों की भविष्यवाणी है कि वह या तो धर्म-प्रवर्तक होगा या चक्रवर्ती होगा। अतः यदि उसका विवाह कर दिया जाय तो घर में रहकर और स्त्री सुख में पड़कर वह न्याय-राज्य करेगा और अनेक वीर पुत्रों को जन्म देकर शाक्य कुल का गौरव बढ़ायेगा। इसपर शुद्धोदन ने जवाब दिया कि वे उपयुक्त कन्या की तलाश करेंगे। उपस्थित शाक्यों के प्रत्येक अग्रणीने

कहा कि हमारी कन्या सिद्धार्थ के योग्य है। परन्तु शुद्धोदन ने यही कहा कि 'कुमार को पूछे बिना हमारा निर्णय काम का नहीं'। बाद में तो सभी बुजुर्ग शाक्यों ने कुमार से मिलकर पूछा कि तुम्हें कौन सी कन्या पसन्द है? इसपर सिद्धार्थ ने कहा कि आज से सातवें दिन जवाब दूँगा।

कुमार बोधिसत्व को प्रथम तो मन में ऐसा विचार आया कि 'मैं भोग के दोष जानता हूँ। मुझे एकान्त में ध्यानमग्न रहना पसन्द है। तो मैं गृहस्थाश्रम में कैसे सुहा सकता हूँ?' परन्तु इसके पश्चात् अधिक विचार करने पर उन्हें लगा कि गृहस्थाश्रम में प्रवेश करने से अनेक प्राणियों का भला ही होनेवाला है। कमल पानी और कीचड़ में रहने पर भी उसमें लिप्त नहीं होता। इसी प्रकार मैं भी अलिप्त रहूँगा। इसके अतिरिक्त पूर्वकालीन सभी बोधिसत्वों ने इसी तरह अलिप्त भाव से गृह प्रवेश किया भी है। इसलिए लोकहित की दृष्टि से विवाह तो करूँगा, परन्तु योग्य कन्या मिले तभी। इस तरह विचार करके उन्होंने कन्या की योग्यता-विषयक अपने विचार पिता को लिख भेजे। उनके ये विचार हमारा ध्यान खासतौर से आकृष्ट करते हैं :—

"जो कन्या प्राकृत (गँवार) और असंस्कारी हो, वह मेरी वधू होने योग्य नहीं है। जिसमें ईर्ष्या आदि दोष न हों, जो सर्वदा सत्यभाषिणी हो, जो निरलस भाव से मेरे चित्त का अनुसरण करे तथा जो शुद्ध खानदानवाली होने के अतिरिक्त रूप व यौवनवती भी हो, साथ ही रूप होने पर भी जिसे रूप का मद न हो। जिसका चित्त माता व बहन जैसा ही स्नेहार्द्र हो, जो स्वभाव से ही उदार होकर ब्राह्मण व श्रमणों को दान देने की वृत्तिवाली हो, जो अपने पति में इतनी अधिक सन्तुष्ट हो कि स्वप्न में भी पर-पुरुष का विचार न करे, जो गर्विष्ठ किंवा उद्धत न हो, जो धृष्ट न हो, जो नम्र होने पर भी दासी या नौकरानी-जैसी न होकर स्वाभिमानी हो, जो मादकपेय और उन्मादक गीत, सुगन्ध आदि में आसक्त न हो, जो ऐसी निर्लोभ वृत्तिवाली हो कि जो कुछ अपना हो उसी में संतुष्ट रहे, और दूसरों से कुछ भी प्राप्त करने की आशा न करे, जो चंचल या अस्थिर न हो, जो लज्जा के चिह्न रूप से परदा करनेवाली तथा कामचोर न हो, जो बहुत सोनेवाली न हो, जो विचारशील हो और अपने सास-ससुर की ओर आदर-भाव रखनेवाली हो, जो दास-दासी-वर्ग के ऊपर जितना हो प्रेमभाव रखनेवाली हो, जो शास्त्रज्ञ हो, जो सबसे पीछे सोकर सबसे पहले उठनेवाली हो, जो सबके साथ मित्रता रखनेवाली हो—यदि ऐसी कन्या हो तो, हे पिताजी, उसे आप मेरे लिए पसन्द करें।"

कन्या की खोज

पिता शुद्धोदन ने पुरोहित को बुलाकर उसके हाथ में सिद्धार्थ की ओर से आया हुआ लेख रखकर कहा—"इस लेख में उल्लिखित गुणोंवाली कन्या ढूँढ लाओ। कन्या की पसन्दगी में ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य या शूद्र-जैसा कोई वर्ण किंवा जाति-भेद नहीं देखना है, क्योंकि कुमार केवल गुणार्थिक है, न कि कुल या गोत्र का अर्थी।" पुरोहित कपिलवस्तु नगर में चारों तरफ घूमा, परन्तु उसे ऐसी योग्य कन्या कहीं पर भी दिखाई न दी। अन्ततः दण्डपाणि नाम के शाक्य के घर में प्रवेश करते ही उसकी कन्या पर पुरोहित की नजर पड़ी। वह उसे सब तरह से योग्य जँची। कन्या भी पुरोहित को आया देखकर उसके पैरों पड़ी और विनय-पूर्वक कहने लगी—"महाराज, आप किस लिए पधारे हैं?" इस पर पुरोहित उसे लिखित पत्र देकर कहा कि इसमें वर्णित गुण जिसमें हों, वैसी कन्या सिद्धार्थ कुमार पसन्द करते हैं। कन्या ने तनिक भी विलम्ब किये बिना स्मित-पूर्वक जवाब दिया कि "जाओ और कुमार से कहो कि ये सब गुण मुझ में हैं। मैं उस सौम्य कुमार की पत्नी होने के लिए तैयार हूँ। किसी हीन प्राकृत पात्र के साथ उनका सम्बन्ध न हो।"

कुमार का मिलन और संवनन

पुरोहित कन्या का वह कथन शुद्धोदन से कहा। इस पर शुद्धोदन ने सोचा कि कुमार कुछ ऐसे वचन मात्र से मान ले, ऐसा नहीं है। इसलिए कुछ अधिक विश्वास-जनक मार्ग मुझे ग्रहण करना चाहिए। ऐसा सोचकर उसने निश्चय किया कि कीमती धातु के सुन्दर

और सुरुचि-पूर्ण पात्र बनाये जायँ। कुमार उपस्थित सभी कन्याओं को वे पात्र बाँटे और जिस पर उसकी नजर ठहरे, उस कन्या को वह चाहता है, ऐसा समझ कर आगे की सारी व्यवस्था की जाय। शुद्धोदन ने इस विचार के अनुसार पात्र तैयार करके नगर में घोषणा करवाई कि सभास्थान में सभी कन्यायें उपस्थित हों। उन्हें कुमार दर्शन देंगे और बहुमूल्य पात्रों की भेंट भी देंगे। शुद्धोदन ने गुप्त रूप से विश्वस्त आदमियों को रोककर उन्हें ऐसा भी सूचित किया कि पात्र बाँटते समय कुमार की नजर किस पर ठहरती है, वह तुम मुझे जताना।

योजना के अनुसार सभा-मण्डप में नगर-कन्यायें आने लगीं और सिद्धार्थ का दर्शन करके जिन्हें जो पात्र मिला, वह उसे लेकर फौरन वहाँ से चल दीं। उनमें से एक भी ऐसी न निकली जो सिद्धार्थ की शोभा या तेज से अप्रतिहत हुये बिना थोड़ी देर के लिए उनके सामने खड़ी रह सके। सबसे पीछे दण्डपाणि की गोपा नाम की कन्या आई। वहाँ सभामण्डप में सखी वृन्द के साथ एक ओर खड़ी रहकर अनिमेष दृष्टि से कुमार को देखने लगी। जब उसे पात्र न मिला तो हँसती-हँसती वह कुमार के पास गई और कहने लगी—"मैंने क्या बिगाड़ा है, जिससे मुझे पात्र नहीं मिला ?" इस पर कुमार ने कहा—"मैं तेरा अपमान नहीं करता, परन्तु तू सबसे पीछे आई और पात्र तो समाप्त हो गये।" ऐसा कहकर कुमार ने अपनी कीमती अँगूठी उसे दी। अँगूठी लेते हुये गोपा ने कहा—'कुमार मैं तुम्हारी इस अँगूठी के योग्य हूँ।" कुमार के पुनः कहने पर कि "तो फिर मेरे ये सब आभरण ले लो," गोपा बोली—"हम कुछ कुमार को अलंकृत नहीं करना चाहतीं। उल्टा हम तो कुमार को अलंकृत करेंगी, अर्थात् कामदेव के आराधना द्वारा ही हम कुमार को जीत लेंगी।" इस तरह मधुर व्यंगोक्ति कर वह चली गई।

दण्डपाणि की शर्त

यह सब देखकर गुप्त पुरुषों ने राजा के पास यथावत् निवेदन किया कि "देव-दण्डपाणि की गोपा नाम की कन्या के ऊपर कुमार की आँख जमी है। इतना ही नहीं उन दोनों के बीच थोड़ी देर तक बातचीत भी हुई है।" यह जानकर शुद्धोदन ने पुरोहित को भेजकर दण्डपाणि-कन्या की मांग की। परन्तु दण्डपाणि ने जवाब दिया—"कुमार तो घर में ही सुख-चैन में पले हैं और मैं तो युद्ध एवं कला व शिल्प में जो कुशल हो, उसी को अपनी कन्या देना चाहता हूँ, कुमार तो युद्ध-कला एवं शिल्प में कुशल नहीं हैं।" पुरोहित लौटकर दण्डपाणि का उत्तर राजा से कह सुनाया। उसे सुनकर वह गहरे सोच में पड़ा कि मुझे आज से पहले भी दो-बार लोगों ने चेताया था कि यदि राजकुमार राजमहल के बाहर ही न निकले, तो फिर हम उसके साथ खेल कूद और अखाड़े आदि के प्रयोगों में भाग लेने के लिए आकर क्या करेंगे ?

कुमार को मालूम होने पर कि राजा खूब चिन्तातुर है, वह आकर पूछने लगा कि 'पिताजी, आप उदास क्यों हैं ?"

"तुझे क्या काम है ?"

ऐसा कहकर राजा टालने लगा, परन्तु आखिरकार कुमार के आग्रह से उसने दण्डपाणि की शर्त के बारे में सब हकीकत कह सुनाई। इस पर कुमार ने फौरन जवाब दिया कि मेरे साथ सब प्रयोगों में प्रतियोगिता कर सके, ऐसा क्या कोई है ?" यह सुनकर राजा ने पूछा कि "क्या तू व्यायाम, युद्ध, शिल्प आदि के सब प्रयोग कर सकेगा ? इस पर कुमार ने कहा,—"अवश्य, विशारदों की उपस्थिति में सबके साथ होनेवाली प्रतियोगिता में अवश्य भाग लूँगा।"

राजा ने प्रसन्न होकर ढिंढोरा पिटवाया कि आज से सातवें दिन कुमार सब तरह के खेल-कूदों तथा इतर कौशल-प्रयोगों में चाहे जिस व्यक्ति के साथ होनेवाली प्रतियोगिता में उतरेगा। अतः जिस-जिस बात में जो कुशल हो वह यथासमय उपस्थित होकर भाग ले। घोषणा के अनुसार मैदान में पाँचसौ शाक्य कुमार प्रतियोगिता में भाग लेने के लिए आये, वहाँ गोपा भी आई और उसने जयपताका मैदान में गाड़कर जाहिर किया कि "जो तलवारबाजी और तिरन्दाजी आदि के युद्ध-प्रयोगों तथा अन्य कला-कौशल के प्रयोगों में

जीतेगा, वह इस पताका का अधिकारी होगा।" विश्वामित्र नाम के लिपिज्ञ की साक्षी में लिपि-ज्ञान की प्रतियोगिता हुई। अन्त में स्वयं विश्वामित्र को कहना पड़ा कि "सिद्धार्थ जितनी लिपियाँ जानता है, उतना तो मैं भी नहीं जानता! अतः इसमें वही विजयी है।" इसके बाद गणित की प्रतियोगिता शुरू हुई। उसमें भी कुमार विजयी हुआ। इस प्रकार अनुक्रम से सभी कलाओं, कुश्ती तथा सभी प्रयोगों में कुमार सिद्धार्थ ही विजयी हुआ। इस जीत से एक ओर तो सब प्रेक्षक खुशी के मारे नाच उठे और कुमार पर पुष्प वृष्टि करने लगे। और दूसरी ओर दण्डपाणि ने अपनी शर्त पूरी हुई जानकर अपनी कन्या कुमार सिद्धार्थ को दे दी।

गोपाः एक धीरोदात्त वधू के रूप में

गोपा बोधिसत्व सिद्धार्थ की अग्रमहिषी हुई। वह अपने सास-ससुर तथा दूसरे सारे परिवार के समक्ष मुँह ढँके बिना या परदा रखे बिना आती जाती और सारा काम-काज करती थी। यह देखकर सब विचार करने लगे कि अभी तो यह नवोढ़ा है फिर भी किसी आप्तजन के सामने परदा नहीं करती। उन्हें गोपा के मुक्त व्यवहार से कुछ बुरा लगा और चालू रिवाज के भंग होने से कुछ दुःख भी हुआ। इस बात का जब गोपा को पता चला तो उसने अपने परिवार के समक्ष एक सात्विक, विचारपूर्ण और निर्भय निवेदन किया। यह निवेदन 'ललित विस्तर' में गाथाबद्ध है। यह गाथा-पद्य भी सुगेय तथा ललित है। उनका सारांश इस प्रकार है :—

"जो आर्य है वह तो मुँह खुला रख कर के बैठा हो या चलफिर रहा हो, तब ध्वज के अग्रभाग में स्थित चमकते हुये मणि-रत्न की भाँति जगमगाता है"

"आर्यजन कपड़ेका आवरण न होने पर भी जाते-आते अथवा उठते-बैठते समय सब जगह सुहाता है।

"जैसे बुलबुल अपने ही रूप एवं स्वर से शोभित होती है, वैसे ही आर्यजन परदे के बिना ही, बोले या मौन रहे तब भी शोभित होता है।"

"आर्य चाहे निर्वस्त्र हो या कुश-चीवर-धारी अथवा चाहे वह जीर्ण वस्त्रधारी हो या दुर्बल देह हो, फिर भी गुणवान होने के कारण अपने तेज से ही चमकता है।

"जिसके मन में कोई पाप नहीं है, वह आर्य चाहे जिस स्थिति में क्यों न हो फिर भी वह सुहाता है। इसके विपरीत मलिन-वृत्तिवाला अनार्य खूब आभूषण पहने हो तब भी वह नहीं सुहाता।

"जिनका मन पत्थर जैसा कठोर है और जिनके मन में पाप भरा हुआ है और ऐसा होने पर भी जिनकी वाणी में माधुर्य है, वे अमृत से सींचे हुये किन्तु विष से भरे हुये घड़े की तरह सबके लिये सदा आदर्शनीय ही हैं।

"जो आर्य प्रत्येक के साथ बालक की भाँति निर्दोष और सौम्य वृत्तिवाले हैं, तथा सबके लिए तीर्थ की भाँति सेवनीय हैं, ऐसे आर्यों का दर्शन दही और दूध से भरे घड़े की तरह सुमंगल समझा जाता है।

"जिनमें पाप-वृत्ति नहीं है और पुण्य-वृत्ति से शोभित हैं उनका दर्शन सुमंगल है और सफल भी।

"जो शरीर वचन और इन्द्रियों से संयत हैं और प्रसन्न मनवाले हैं, उनके लिए मुँह ढँकना या परदा करना व्यर्थ है।

"जिनका मन निरंकुश या स्वच्छन्दी है, जिन्हें लाज या शर्म नहीं है और जिनमें ऊपर कहे जैसे गुण अथवा सत्यभाषिता नहीं है, वे यदि ढेर के ढेर वस्त्रों से अपने आप को ढँकें, तो वस्तुतः वे अपने दोषों को ही ढँकने का प्रयत्न करते हैं, अर्थात् शरीर से सवस्त्र होने पर भी वे दुनिया में नग्नशिरोमणि लुँगाड़ों की भाँति ही भटकते हैं।

"जो आर्य नारी इन्द्रिय और मन से संयत है तथा जो स्वयं स्वपति में सन्तुष्ट होकर दूसरे किसी पुरुष का विचार तक नहीं करती, वह सूर्य और चन्द्र के प्रकाश की तरह अपने आपको ढाँकती नहीं है। उसके लिए मुँह ढँकना या घूँघट निकालना निरर्थक है।

"दूसरों के मन को समझ सकनेवाले ऋषि, महात्मा व देवगण मेरा मन तथा शील जानते हैं। तो फिर मुँह का परदा मुझे क्या करने को है? मैं जैसी हूँ, वैसी तो ऋषियों और देवों की दृष्टि में दीखती ही हूँ, फिर चाहे घूँघट हो या न हो।"

शुद्धोदन के हर्षोद्गार

गोपा की आर्य नारी के लिए शोभास्पद ऐसी विचारपूत तथा निर्भय उक्ति सुनकर राजा शुद्धोदन ऐसी पुत्रवधू मिलने पर इतना अधिक प्रसन्न हुआ कि उसने प्रसन्न होकर फूल और मोती का बहुमूल्य हार उसे पहना दिया और कहा कि जिस तरह मेरा पुत्र सिद्धार्थ गुणों से शोभित है, ठीक उसी तरह यह भी सब गुणों से शोभित है। इसलिये इन दोनों का सम्बन्ध बड़ा उत्तम है।

ऊपर के वर्णन में मुख्य पात्र चार हैं और उनमें से प्रत्येक की अपनी विशेषतायें हमारा ध्यान खास तौर से आकर्षित करती हैं। वे विशेषतायें इस समय और हमेशा के लिए विवाह के प्रश्न के बारे में कितनी उपयोगी हैं, इसे समझने की दृष्टि से अब हम इनका संक्षेप में विश्लेषण करेंगे।

शुद्धोदन

पिता और श्वसुर के रूप में शुद्धोदन की चार विशेषताओं की ओर हमारा ध्यान जाता है। पहली तो यह कि योग्य वय की सन्तान को पूछे बिना, उसका निर्णय जाने बिना, विवाह विषयक अपना निर्णय उस पर जबरदस्ती न लादने की वृत्ति अर्थात् विवाह की पसन्दगी में सन्तति की इच्छा का मुख्य स्थान। दूसरी विशेषता कन्या की योग्यता-विषयक कसौटी है। शुद्धोदन की मुख्य कसौटी पात्र की गुणवत्ता की है। कन्या शूद्र होने पर भी यदि गुण की दृष्टि से अधिक उत्तम हो तो वह उसे कुमार के लिए पसन्द करेगा। उसके मन में ब्राह्मण या क्षत्रिय आदि तथा-कथित उच्च जाति का कोई महत्त्व नहीं है। उसे वास्तविक महत्त्व गुणों में ही दीखता है, जो सुखी दाम्पत्य-जीवन की सच्ची भूमिका है। तीसरी बात है कुमार सिद्धार्थ के साथ शादी करने की कन्या गोपा की इच्छा पुरोहित द्वारा ज्ञात होने पर भी कुमार को मुक्तमन से कन्या की अन्तिम पसन्दगी करने का उचित अवसर प्रदान करना। चौथी बात अधिक महत्त्व की लगती है। बुजुर्गों के समक्ष घूँघट या परदा न करने के बारे में रूढ़िग्रस्त लोगों की ओर से टीका होने पर जब गोपा शिष्ट और वीर-नारी की हैसियत से घूँघट करने-न-करने के बीच का अन्तर मार्मिक रूप से प्रगट करती है, तब श्वसुर के रूप में शुद्धोदन ने पुत्रवधू गोपा के वक्तव्य को स्वच्छन्दता या उद्धतता न मानकर उल्टे उसकी भूरि-भूरि प्रशंसा करके उसका अभिनन्दन किया और इस तरह घूँघट की रूढ़ि तोड़ी।

दण्डपाणि

दूसरा पात्र दण्डपाणि है। वह गोपा का पिता है। उसकी पुत्री गोपा कुमार सिद्धार्थ के साथ विवाह करना चाहती है, यह जानने के बाद भी वह शुद्धोदन की माँग को स्वीकार करने से पूर्व एक ऐसी शर्त रखता है, जिसमें यदि कुमार उत्तीर्ण हो तो पुत्री को अपनी पसन्दगी करने के बारे में प्रसन्नता हो और उत्साह भी बढ़े। और यदि शर्त में उम्मीदवार उत्तीर्ण न हो, तो कन्या को स्वयं ही अपनी पसन्दगी या निर्णय बदलने का अवसर मिले तथा एक पिता के रूप में वयस्क पुत्री की इच्छा की किसी की दलील के बिना ही अवमानना करने के अनिष्ट परिणाम से भी बच सके।

सिद्धार्थ

तीसरा पात्र सिद्धार्थ है। उसकी विशेषतायें अनेक हैं। कुटुम्बीजन विवाह के बारे में पूछने आते हैं, तब फौरन हाँ या नहीं न कहकर सात दिन के बाद पूरी तरह से विचार करने के बाद जवाब देने को कहता है और वह जवाब भी एक विचारशील सुशील पुत्र के उपयुक्त लिखकर तथा स्पष्ट रूप से देता है। उसमें अपनी पसन्दगी के योग्य कन्या कैसी होनी चाहिए, यह दिखलाता हुआ वह दाम्पत्य, कुटुम्ब और समाज जीवन को सुखी करने के लिए जो आवश्यक गुण हैं उनका खास निर्देश करता है—जो भावी बुद्ध की एक विचार-भूमिका सूचित करता है। गोपा द्वारा की गई अपनी पसन्दगी में वह कितना योग्य है, इसका उसके पिता को निश्चय कराने, गोपा का सम्मान बढ़ाने और साथ ही अपने पिता शुद्धोदन की चिन्ता दूर करने के लिए कुमार सिद्धार्थ दण्डपाणि द्वारा पेश की गई शर्तों में भाग लेने के लिए

तैयार होता है और शारीरिक तथा बौद्धिक सभी प्रकार की परीक्षाओं में पूर्ण होकर विवाह के लिए सुप्रसिद्ध वातावरण खड़ा करता है।

गोपा

चौथा पात्र गोपा है। वह जिस तरह पात्रों की गणना में अन्तिम, उसी तरह अनेक दृष्टियों से सर्वोत्कृष्ट भी प्रतीत होती है। भावी बुद्ध जैसे व्यक्ति की पत्नी के रूप में जिसमें अधिक से अधिक योग्य पात्र की आशा रखी जा सके और जिसकी कल्पना की जा सके, वह हम गोपा में मूर्त्त होते देखते हैं। वधू की पसन्दगी विषयक कुमार का पत्र पुरोहित के पास से लेकर पढ़ते ही गोपा ने आत्म-विश्वास दिखलाया कि मैं कुमार की पसन्दगी को अवश्य सन्तुष्ट कर सकूँगी। सभा-मण्डप में कुमार के हाथों दिया जानेवाला पुरस्कार लेने जाने में गोपा संकोच नहीं करती, फिर भी एक कुलीन कन्या के योग्य मर्यादा (अपने सखियों के साथ) के साथ ही वह वहाँ जाती है और कुमार के साथ बोलने का प्रसंग उपस्थित होने पर कटाक्ष एवं विनोद-पूर्ण शैली में कुमार को वहीं जीत लेती है। जब रूढ़िबद्ध नर-नारियाँ घूँघट न निकालने पर चारों ओर से उस पर फब्तियाँ कसती नजर आती हैं, तब वह एक नवोढ़ा होने पर भी धीरोदात्त पुत्रवधू के रूप में अपने श्वसुर शुद्धोदन की सामाजिक झुँझलाहट दूर करने के लिए उसके समक्ष अपनी बात ऐसी चातुरी, नम्रता और सत्यनिष्ठा से रखती है कि अन्ततः शुद्धोदन और सारा समाज उसकी उदात्त वृत्ति का सम्मान करके स्त्री वर्ग की एक तत्कालीन परतन्त्रता को रूढ़ि के साथ ही फेंक देते हैं।

'ललित विस्तर' का लेखक सम्भवतः भिक्षु ही है। वह जन्म, देश और संवर्द्धन की दृष्टि से चाहे जिस जाति, देश या समाज का क्यों न हो, परन्तु वह एक श्रमण वर्ग के, विशेषतः बौद्ध संघ के, सभ्य रूप से किसी प्रकार की जाति-पाँति या देश आदि के संकुचित बन्धनों के अधीन रहे बिना ही केवल गुणवत्ता की भूमिका पर से ही विचार करता हो, ऐसा मालूम होता है। त्याग-लक्षी भिक्षु होने पर भी वह लेखक गृहस्थाश्रम का और उसमें भी दाम्पत्य जीवन का जो मूल्यांकन करता है, वह उसकी गहरी समझ सूचित करता है। यद्यपि उसके सम्मुख एक पेचीदा प्रश्न था कि समग्र देश-देशान्तरों में त्यागी, ध्यानी और ब्रह्मचारी रूप से सर्वोत्कृष्ट माने जाने वाले बुद्ध का तारुण्यकाल में भी, वैवाहिक जीवन में किस तरह प्रवेश करना और किस तरह इस घटना को योग्य ढाँचे में ढालना, हजारों नहीं लाखों लोग जिसे पूर्ण ब्रह्मचर्य के समर्थक रूप से पूजते हों, उसे उसके चरित्र-चित्रण में एक तरुणी का सहभागी और सखा होते देखकर एकांगी भक्तों को धक्का—एक प्रकार की मानसिक ठेस लग सकती है। ऐसा प्रतीत होता है कि ऐसे ही किसी कठिनाई से मुक्त होने के लिए उस लेखक ने कुमार सिद्धार्थ के पास विवाह करना या नहीं, इस प्रश्न के बारे में विचार कराया है और वह विचार भी ऐसा कि शादी के दोष जानने पर भी अन्ततः लोककल्याण की भावना तथा पूर्व परम्परा के अनुसरण की दृष्टि से सिद्धार्थ विवाह करने का निर्णय करता है। लेखक बौद्ध भिक्षु होने पर भी अन्त में तैत्तरीय उपनिषद् का 'प्रजातन्तुं मा व्यवच्छेत्सीः' सनातन राज-मार्ग-जैसी गार्हस्थ्य-दीक्षा को ही स्वीकार करता है।

अनु०—शान्तिलाल मणिलाल

सुभाषित

कोनु हासो किमानन्दो निच्चं पज्जलिते सति।
अन्धकारेन ओनद्धा पदीपं न गवेस्सथ॥

जब सभी नित्य जल रहा है तो हँसी कैसी, आनन्द कैसा !! अन्धकार से घिरे तुम प्रदीप की खोज क्यों नहीं करते ?

अत्ता हि अत्तनो नाथो को हि नाथो परो सिया।
अत्तनाव सुदन्तेन नाथं लभति दुल्लभं॥

मनुष्य अपना स्वामी आप है, भला कोई दूसरा उसका स्वामी क्या होगा ? अपने ही को अच्छी तरह दमन कर लेने से वह दुर्लभ स्वामित्व का लाभ करता है।

सुलसा

वास्तविक प्रेम की उपेक्षा कर भौतिक धन-सम्पत्ति पर हाथ साफ करने की कामना वाला पति बुरी गति को प्राप्त होता है। सुलसा ने अपने प्रेम के प्रति खेलवाड़ करनेवाले कृतघ्न प्रेमी को चकमा देकर मार डाला!

प्राचीन काल में बनारस में सुलसा नाम की गणिका की पाँच सौ दासियाँ थीं। वह रात भर के लिए हजार लेती थी। उसी नगर में सत्तुक नाम का चोर था, हाथी के समान बलशाली। वह रात में धनिकों के घर में घुस उन्हें यथेच्छ लूटता। नागरिकों ने इकट्ठे हो राजा से शिकायत की।

राजा ने कोतवाल को आज्ञा दी कि जहाँ तहाँ पहरा लगाये और चोर को पकड़वा कर उसका सिर काट डाले। चोर पकड़ा गया। चोर की बाँहें पीछे करके बाँध दी गयीं। उसे हर चौराहे पर कोड़ों से पीटते हुए बधस्थल ले जा रहे थे। चोर पकड़ा गया है, सुन सारा नगर दहल गया। उस समय सुलसा झरोखे में खड़ी बाजार की ओर देख रही थी। उसने उस पर आसक्त हो सोचा, यदि मैं इस योधा को, इस सामर्थ्यवान पुरुष को छुड़ा सकूँ तो मैं यह वेश्या-कर्म छोड़ इसी के साथ रहने लग जाऊँ। उसने कोतवाल के पास हजार भेजवाये और उसे छुड़ाकर उसके साथ मजे से रहने लगी। तीन-चार महीने बाद चोर ने सोचा—"मैं यहाँ नहीं रह सकता। यहाँ से खाली हाथ जा भी नहीं सकता। सुलसा के गहने लाख के मूल्य के हैं। मैं इसे मारकर इसके गहने ले लूँ।"

एक दिन वह उससे बोला—"भद्रे! जिस समय मुझे राजपुरुष पकड़े लिए जा रहे थे, उस समय मैंने अमुक पर्वत के शिखर पर रहनेवाले वृक्ष-देवता को बलि देना स्वीकार किया था। वह बलि न मिलने से मुझे कष्ट दे रहा है। हम उसकी बलि चढ़ायें।"

"अच्छा स्वामी! तैयार कराकर भेज दें।"

"भद्रे! भेजना ठीक नहीं है। हम दोनों सब गहने पहन, बड़े ठाट से बलि चढ़ायेंगे।"

"अच्छा स्वामी! ऐसा ही करें।"

उसने उससे वैसे ही कराया। जब वह पर्वत के पास पहुँची तो वह बोला—"भद्रे! जनसमूह के देखते रहते देवता बलि स्वीकार नहीं करेगा। हम दोनों पर्वत के ऊपर चढ़कर बलि दें।" उसने 'अच्छा' कह स्वीकार किया। तब उसने उससे बलि-थाली उठवाई और स्वयं पाँच आयुधधारी हो पर्वत पर चढ़ा। वहाँ सौ पोरसा ऊँचे पर्वत के किनारे उसे एक वृक्ष के नीचे बलि रखवा-कर बोला—"भद्रे! मैं यहाँ बलि चढ़ाने नहीं आया हूँ; किन्तु तुझे मारकर तेरे गहने ले जाने के लिए आया हूँ। अपने गहने उतार कर अपनी चादर में गठरी बाँध दे।"

"स्वामी! मुझे क्यों मारते हैं?"

"धन के लिए।"

"स्वामी! मेरा उपकार याद करें। जिस समय तुम्हें बाँधकर ले जा रहे थे, मैंने सेठ-पुत्र से परिवर्तन कर बहुत धन कोतवाल को देकर तुम्हारी जान बचाई। प्रति दिन हजार पा सकने पर भी किसी दूसरे पुरुष को नहीं देखा। मैं इस प्रकार तुम्हारा उपकार करनेवाली हूँ। मुझे मारें मत। मैं बहुत धन दूँगी और तुम्हारी दासी बनूँगी। हे भद्र! यह जो सोने का कण्ठा है, मोती हैं और बिल्लौर हैं, ये सब तुम्हारे हैं, सब ले लो और मुझे अपनी दासी घोषित कर लो।"

तब चोर बोला—"हे कल्याणी! गहने उतार दो। अधिक रोओ-धोओ मत! यदि मैं तुम्हें नहीं मारता हूँ तो मैं नहीं जानता हूँ कि तुम्हारा धन ले सकूँगा।"

यह सुनकर सुलसा ने विचार किया—"यह चोर मुझे जीता न छोड़ेगा। मैं ऐसा ढंग करूँ कि इसे पहले प्रपात से गिराकर मार डालूँ।" उसने चोर से प्रार्थना करते हुए कहा—"जब से मुझे याद है, जब से मुझे होश है,

मुझे कोई ऐसा व्यक्ति याद नहीं आता जो तुमसे प्रियतर हो। आओ मैं तुमसे गले मिल लूँ। अब इसके बाद फिर मेरा और तुम्हारा मिलना नहीं है।"

चोर ने उसका उद्देश्य न समझकर कहा—"अच्छा भद्रे! मुझे गले लगा।" सुलसा ने तीन बार उसकी प्रदक्षिणा की, गले लगाया और बोली—"स्वामी! अब चारों ओर प्रणाम् करूँगी।" उसने चरणों में सिर रखा, दोनों ओर प्रणाम् किया और फिर पिछली ओर जा प्रणाम् करने की तरह से झुक उस नाग-बली गणिका ने उस चोर को पीछे से दोनों हिस्सों में पकड़ कर, सिर नीचा कर सौ पोरसा प्रपात के नीचे फेंक दिया। वह वहीं चूर्ण-विचूर्ण होकर मर गया। यह देख पर्वत पर रहनेवाले वृक्ष-देवता ने कहा—

"सब जगह पुरुष ही पण्डित नहीं होता, जिस-तिस विषय में विचक्षण स्त्रियाँ भी पण्डित होती हैं। सभी जगह पुरुष ही पण्डित नहीं होता, सूक्ष्म विचारवाली स्त्रियाँ भी पण्डित होती हैं। सूक्ष्म, शीघ्र और समीप ही उसने उसका मरणोपाय सोच लिया। सुलसा ने चोर को ऐसे मार डाला जैसे धनुष ताने हुए शिकारी मृग को मार डालता है। जो उत्पन्न अवस्था-विशेष को तुरन्त नहीं समझता है, वह उसी तरह मारा जाता है जैसे मूर्ख चोर पर्वत-गुहा में मारा गया। जो उत्पन्न अवस्था-विशेष को तुरन्त समझ लेता है, वह सुलसा की तरह शत्रु की आफत से मुक्त हो जाता है।"

इस प्रकार सुलसा चोर को मारकर जब पर्वत से उतर अपने परिजनों के पास गई तो उन्होंने पूछा—"आर्य-पुत्र कहाँ है?" सुलसा बोली—"उसकी बात मत पूछो और रथ पर चढ़कर नगर को चली गई।

शान्तिदूत धर्मपाल

श्री विश्वनाथ मिश्र

भावुक उर में कविता जागी
ऋषियों का मंगल गान लिये!

जब जब वसुधा का भार बढ़ा
दानव का अत्याचार बढ़ा
चिरशान्ति विलीन हुई जग की
मानव का हाहाकार बढ़ा

तब आये तुम ओ शान्तिदूत!
अपना पुनीत वरदान लिये!

भगवान तथागत की वाणी
निर्वाण दायिनी कल्याणी
शुभ सत्य अहिंसा का पावन
पथ खोज रहे आकुल प्राणी

नवजीवन का हे धर्मपाल!
आये उद्देश्य महान् लिये!

जग उठी चेतना लहराई
बुझते दीपक में लौ आई
'बुद्धं सरणं' 'धम्मं सरणं'
'संघं सरणं' की ध्वनि छाई

जगमगा उठा यह सारनाथ
निज गौरव का अभिमान लिये!

धर्म-नर्तकी

प्राचीन भारतीय जन-तन्त्र की एक आदर्श कहानी !
साध्वी शीलवती ने 'धर्म-नर्तकी' बनकर धर्म-पुत्र प्राप्त किया !

प्राचीन काल की बात है। मल्ल जनपद की राजधानी कुशावती नामक नगर था। वहाँ इक्ष्वाकु राजा राज्य करता था। वह धार्मिक तथा सदाचारी था। उसे अनेक रानियाँ थीं, जिनमें शीलवती पटरानी थी। राजा सन्तान-हीन था। उन दिनों सन्तान-हीन राजाओं पर शत्रुओं की आँखें लगी रहती थीं। वे अवसर देखा करते थे कि राजा मरे और उसके राज्य पर धावा बोल दें। वस्तुतः मल्ल देश पर समीपवर्ती सभी नरेशों की वक्र एवं आमिष-दृष्टि जम गई थी। इस सर्व-विदित अनागत भय से मल्ल देश की प्रजा सशंकित थी। उसने एक दिन जन-समारोह किया। सभा की। अन्त में नारे लगाते हुए राज-भवन घेर लिया—"राज्य नष्ट हो जायेगा ! राज्य विनष्ट हो जायेगा !!"

"मैं धर्म-पूर्वक राज्य कर रहा हूँ। मैंने किसी प्रकार का अधर्म नहीं किया है। क्यों आप लोग नारे लगा रहे हैं ?"—राजा ने सिंह-पञ्जर को खोलकर ऊपरी मंजिल से देखते हुए पूछा।

"सत्य है कि आप धर्मपूर्वक राज कर रहे हैं। आपने कोई अधर्म भी नहीं किया है। किन्तु, वंश-परम्परा एवं राज्य को स्थिर रखने के लिए आप को सन्तान नहीं है। आपके बाद दूसरे लोग राज्य पर अपना अधिकार करके उसे सत्यानाश कर देंगे। हम सब उस राज्य-परिवर्तन में तबाह हो जायेंगे। हम लोगों की स्वतन्त्रता सदा के लिए छिन जायेगी और यह मल्ल-भूमि मुकुट-विहीना होकर, मुकुट-बन्धन चैत्य का नाम हँसाकर पराये की चेरी बन जायेगी। अतः आप प्रजा को इस विपत्ति से बचाने के लिए एक योग्य पुत्र की प्रार्थना करें।"

"मैं पुत्र की प्रार्थना कैसे करूँ ?"

"जिस प्रकार सन्तान-हीन व्यक्ति अपनी स्त्री को कुछ दिनों के लिए धर्म-नर्तकी बनाकर स्वतन्त्र कर देता है और उसके तथा अपने पुण्य-प्रताप से धर्म-पुत्र को प्राप्त करता है, उसी प्रकार आप छोटी-बड़ी सभी नर्तकियों को धर्म-नर्तकी बनाकर एक सप्ताह के लिए छोड़ दें। वे स्वेच्छाचारिणी होकर विचरें। इस प्रकार किसी न किसी को अवश्य सन्तान होगी।"

राजा ने वैसा ही किया। सप्ताह के अन्त में नर्तकियों के लौटने पर ज्ञात हुआ कि एक को भी गर्भ नहीं रहा। राजा को बड़ी चिन्ता हुई। लोगों ने पुनः नारे लगाये—"राज्य नष्ट हो जायेगा ! राज्य विनष्ट हो जायेगा !!"

"मैंने आप लोगों की कही बात की, किन्तु एक को भी गर्भ नहीं रहा। अब मैं क्या करूँ ?" राजा ने विनम्र-भाव से पूछा।

"ये नर्तकियाँ सदाचारिणी नहीं हैं। आप महारानी शीलवती को धर्म-नर्तकी बनाकर छोड़ें। हम लोगों को पूर्ण विश्वास है कि उन्हें सन्तान होगी।"

"मैं आपलोगों की बात स्वीकार करता हूँ। आज से सातवें दिन महारानी शीलवती को धर्म-नर्तकी बनाकर छोड़ दूँगा।"

राजा ने इसकी मुनादी करा दी। महारानी शीलवती अप्सरा-सी परम सुन्दरी थी। उसके साथ अभिरमण करने के लिए चारों ओर से मनचले तरुण एकत्र होने लगे। धीरे-धीरे सारा नगर तरुणों से भर गया। उस समय तरुणों का ठाट-बाट देखने लायक था। सभी ऐसे सजे हुए थे, मानो नन्दन-वन में अभिरमण करने के लिए देवता सज-धज कर अप्सराओं के पास जा रहे हों।

सातवें दिन चमकता हुआ सूर्य निकला। सभी तरुणों ने अपने भाग्य की बाजी लगाई और संकल्प-विकल्प में मस्त राज-भवन के सामने आ जुटे।

उस समय शहनाइयाँ बज रही थीं। राज-भवन से तरुणोंके ऊपर अबीर और कुंमकुंम छोड़े जा रहे थे।

नर्तकियों का नृत्य हो रहा था। रह-रह कर फूलों की पंखुड़ियाँ बरसाई जा रही थीं। उसी बीच राजा ने अलंकृत रानी को राजभवन से नीचे उतारा।

तरुणों का समूह रानी के पास आ जुटा। चारों ओर भीड़ लग गई। उनमें एक वृद्ध ब्राह्मण सबसे आगे आकर खड़ा हो गया, जिसके दाँत गिर गये थे, सिर के बाल पक गये थे, आँखें धँसी हुई थीं, ललाट पर सिकोड़ें पड़ी हुई थीं, शरीर चमड़ी से ढँका हुआ केवल हड्डियों का पुंजमात्र जान पड़ता था। वह आँखों के ऊपर हाथ लगाकर रानी की ओर देखने लगा।

तरुणों ने उससे कहा—"बाबा! तू किस लिए आये हो? क्या तुझे चिता पर भी स्त्री चाहिए? जरा अपने शरीर को तो देखो! तुझे लज्जा नहीं आती?"

"आप लोग मेरी निन्दा क्यों कर रहे हैं? मेरा शरीर मात्र ही वृद्ध है, राग वृद्ध नहीं है। यदि मैं शीलवती को पाऊँगा तो उसे ले जाऊँगा।" ब्राह्मण ने ललचाई हुई आँखों से रानी की ओर देखते हुए कहा।

रानी आँखें नीची किये, धीरे-धीरे आगे बढ़ रही थी। उसने आँख उठाकर किसी की ओर नहीं देखा। सभी तरुण उसकी आँखों पर अपनी आँखें गड़ाये थे कि दृष्टि पड़ते ही तदात्म्य-भाव प्रकट करेंगे। ब्राह्मण ने अच्छा अवसर जान उसका हाथ पकड़ लिया और चलता बना। लोगों ने उसकी निन्दा की—"देखो, यह वृद्ध ब्राह्मण ऐसी रूपवती रानी को लेकर जा रहा है, अपने लिए उचित-अनुचित भी नहीं जानता।" रानी ने भी ऐसा न सोचा कि मुझे एक वृद्ध लिये जा रहा है। राजा को खिड़की से झाँकते हुए उस वृद्ध ब्राह्मण के साथ रानी को जाते देखकर उदासी हुई, किन्तु उसने कुछ कहा नहीं। जनमत अथवा जनसमुदाय के विरुद्ध कुछ भी करने अथवा कहने का उसे साहस ही नहीं हुआ।

नगर से बाहर ब्राह्मण की एक झोंपड़ी थी। उसमें न तो किवाड़ें थीं और न चारपाई आदि ही। केवल एक पानी रखने का घड़ा था, दो छोटी-छोटी काँसे की थालियाँ थीं और एक पुरानी चौकी थी। चौकी पर एक छोटी चटाई बिछी थी और एक लकड़ी की तकिया पड़ी थी। ब्राह्मण रानी को लेकर वहाँ गया और कहा—"मैं पहले अकेला था। अब हम दो हो गये। तुम यहीं सोओ। मैं भिक्षा माँगने जाता हूँ। हम दोनों का जीवन-यापन भिक्षावृत्ति से ही होगा।"

रानी ने कुछ नहीं कहा। वह चुपचाप चौकी पर बैठ गई। ब्राह्मण ने उसके हाथ को अपने हाथ में लिया। ब्राह्मण के हाथ का स्पर्श होते ही रानी को नींद आ गई। वह ऐसी प्रगाढ़ निद्रा में निमग्न हो गई कि सातवें दिन उसकी नींद टूटी।

सोकर उठने पर रानी ने देखा कि वह एक ऐसे विचित्र देश में पहुँच गई है जिसकी उसने कभी कल्पना भी न की थी। उसने देखा कि एक विशाल एवं सुन्दर छायादार पारिच्छत्र का वृक्ष है, उसके नीचे पीले रंग के कम्बल से बना एक सिंहासन है, जो शिला द्वारा निर्मित जान पड़ता है, वहाँ के लोग उसे 'पाण्डुकम्बल-शिलासन' कहते हैं। उस पर एक परम सौभाग्यवान् रूप-मूर्ति बैठे हैं। सैकड़ों कबूतर-पद सदृश रक्तपदी अप्सरायें विचित्र वस्त्राभरणों से अलंकृत उसे घेरे हुई हैं। रह-रहकर ध्वनि हो उठती है—'महाराज इन्द्र की जय हो! देवेन्द्र शक्र की जय हो!! सहस्रनेत्र मघवा की जय हो!!!'

शीलवती ने समझ लिया कि वह भ्रम में नहीं है। वह स्वप्न भी नहीं देख रही है, प्रत्युत वह इन्द्रलोक में पहुँच गई है। वृद्ध ब्राह्मण कोई दूसरा नहीं, इन्द्र ही था। वह आगे बढ़ी। इन्द्रासन के पास गई और इन्द्र को प्रणाम् कर एक ओर खड़ी हो गई। इन्द्र ने कहा—"मैं तुझे वर देता हूँ, इच्छानुरूप माँग।"

"देव! मुझे एक पुत्र प्रदान करें।"

"देवि! एक पुत्र क्या, मैं तुझे दो पुत्रों को देता हूँ, उनमें एक बुद्धिमान् होगा, किन्तु वह होगा कुरूप; और दूसरा रूपवान् होगा, किन्तु वह होगा मूर्ख। तू पहले किसे चाहती हो?"

"देव! बुद्धिमान् को।"

"बहुत अच्छा।" कहकर इन्द्र ने उसे कुश-तृण, स्वर्गीय वस्त्र, स्वर्गीय चन्दन, स्वर्गीय पारिच्छत्र का पुष्प और कोकनद नामक वीणा को दे, उसे लाकर राजभवन में राजा के पास एक ही शयन-मञ्च पर सुलाकर अपने अँगूठे से उसकी नाभी का स्पर्श कर चला गया।

शीलवती को गर्भ प्रतिष्ठित हुआ जान पड़ा। उसके अंग-प्रत्यंग में स्फुरण हो आया। शरीर कुछ भारी जान पड़ने लगा। वह प्रसन्न एवं गद्गद् हो उठी!

(क्रमशः)

दलाईलामा

भिक्षु जगदीश काश्यप एम. ए.

बौद्धधर्म में सबसे अधिक जोर प्रतीत्य-समुत्पाद के सिद्धान्त पर दिया गया है, जिसमें एक ही व्यक्ति के एक जीवन से दूसरे जीवन की क्रियात्मक गति का स्पष्टीकरण किया गया है। एक जन्म की आत्मोन्नति दूसरे जन्म में प्राप्त होती है और यही क्रम लगा रहता है। हमलोगों का मस्तिष्क सैकड़ों और हजारों वर्षों पूर्व से जीवन के अनुभवों का संचित कोष है। भगवान् बुद्ध ने बताया है कि एकाग्रता के नियमाभ्यास का उचित विकास होने पर अपने पूर्व जीवन के अनुभवों को स्मरण करने की क्षमता आ सकती है। इस क्षमता को 'पुब्बेनिवासानुस्सति' कहते हैं। जातक की सभी कहानियाँ स्वयं भगवान् बुद्ध द्वारा अपने भिन्न-भिन्न पूर्व जीवन की कही गई कथायें ही हैं।

उन दिनों पूर्व जीवन की पुनः स्मृति कोई नई बात न थी जब कि भिक्षु मुख्यतः शील की पूर्ति और ध्यान का अभ्यास करने में लगे रहते थे। अभाग्यवश वह शिक्षण आजकल नहीं है। आज तो हम में से बहुतों को मनुष्य में इस शक्ति के होने में भी सन्देह होता है। आज भी कभी-कभी दृष्टान्त स्वरूप ऐसे बालक मिलते हैं जो बाल्यावस्था में अपने पूर्व जीवन के सम्बन्धियों को याद करते हैं। और कभी-कभी तो उनके यहाँ जाते हैं और अपने पुराने सम्बन्धों को कहते हैं। किन्तु ये उदाहरण इतने कम और अस्पष्ट हैं कि वैज्ञानिक निष्कर्ष पर पहुँचने में पूर्ण सहायक नहीं हो पाते।

रिम्पोचे या अवतारीलामा

आज भी तिब्बत में लामा लोग इस शिक्षण की परिपाटी को कायम रक्खे हैं। उनका तो कहना है कि कुछ व्यक्ति उनके बीच में ऐसे हैं जो अपने निकट पूर्व जीवन का (किसी विशेष गोम्पा के लामा के रूप में) आभास रखते हैं। ऐसे लामा अवतारीलामा या रिम्पोचे लामा कहे जाते हैं। रिम्पोचे शब्द का साहित्यिक अर्थ जवाहर होता है। रिम्पोचेलामा हमेशा जनता के श्रद्धा के केन्द्र होते हैं और प्रायः वे मठों के प्रधान हुआ करते हैं।

प्रायः अपनी मृत्यु के समय रिम्पोचेलामा अपने पुनर्जन्म के स्थान और परिवार का संकेत देते हैं। इससे एवं तिब्बत की अन्य प्रचलित प्रणालियों द्वारा उनकी खोज होती है। जो बालक उन परीक्षणों में सन्तोषजनक सफलता दिखाता है वह मठ में लाया जाता है, भिक्षु बनाया जाता है; और रिम्पोचे की उपाधि से विभूषित किया जाता है।

गेलवा रिम्पोचे

दलाईलामा को गेलवा रिम्पोचे या जावा रिम्पोचे भी कहते हैं। जिसका अर्थ होता है सबसे अधिक आदरणीय (मूल्यवान) हीरा। उपाधि धारण करने के बाद वह एकान्त जीवन व्यतीत करता है, और प्रायः धर्माध्यापन एवं ध्यान करने में ही अपना जीवन व्यतीत करता है। जनता के बीच उसकी उपस्थिति बहुत कम होती है। वह यौगिक जीवन व्यतीत करता है। तिब्बत का नैतिक नेता होते हुये भी वह देश का लौकिक नेता माना जाता है। उसके नेतृत्व में एक सभा देश का शासन करती है। वह नित्य प्रति की राजनीति से विशेष सम्बन्ध नहीं रखता। वह तो कार्य-कर्त्ताओं को निर्देश मात्र देता है तथा सरकार को आशीर्वाद करता है। साधारण विश्वास यही है कि गेलवा लामा अवलोकितेश्वर का अवतार है। और यह भविष्यवाणी स्वयं भगवान् बुद्ध द्वारा गृद्धकूट पर्वत पर की गई थी।

'दलाई' शब्द चीनी भाषा के 'टा' शब्द का बिगड़ा हुआ स्वरूप है जिसका अर्थ बड़ा या महान् होता है; तथा लामा का अर्थ माननीय अथवा आदरणीय। यह

पदवी पूर्ण साधु को दी जाती है। चीनियों ने जब तिब्बत में प्रवेश किया तो गेलवा रिम्पोचे को 'टा' लामा के नाम से पुकारते थे, जो बाद में चलकर दलाईलामा के स्वरूप में बदल गया।

अगर यह उपाधि और किसी दूसरे लामा के लिये प्रयोग में लाई जाती है तो तिब्बती उसका तीव्र विरोध करते हैं, वह कितना ही बड़ा क्यों न हो।

वर्तमान दलाईलामा

मेरे एक तिब्बती मित्र ने दलाईलामा की खोज के विषय में कुछ समाचार दिया है। पूर्व दलाईलामा के संकेतानुसार कचहरी के तीन बड़े-बड़े कार्यकर्त्ता खोज के लिये भेजे गये। तिब्बत और चीन की सीमा पर वे वेश बदल कर गये। एक फटे पुराने चीथड़ों में खच्चर लेकर, दूसरा व्यापारी और तीसरा एक सज्जन के रूप में। उस कठिन भू-भाग में कई दिन घूमने के पश्चात् वे लोग कुछ लड़कों से मिले, जो बड़े आनन्द से खेल रहे थे। उनमें से एक लड़के ने खोज-कर्त्ताओं की ओर देखा, थोड़ी देर रुका और उनके चेहरे को ध्यान-पूर्वक देखने लगा, मानो उनको पहचानने की कोशिश कर रहा हो कि वे कौन हैं। उसने कुछ ऐसे लक्षण प्रगट किये, जिससे मालूम होता था कि वह उन लोगों को पहचानता है। वह दौड़ता हुआ अपनी माँ के पास गया और उनके आगमन की सूचना दी। वह उन लोगों के बेढंगे भेदिये स्वरूप पर हँसा। उसने उन लोगों के नाम और पद भी बताया और उन लोगों के साथ लासा जाने के लिये तुरन्त तैयार हो गया। वहाँ पर उसे सभी परीक्षण पास करने पड़े। उस समय वह केवल पाँच वर्ष (?) का था। उसका प्रचलित संस्कार हुआ और दलाईलामा की गद्दी पर बैठाया गया। तिब्बतियों का विश्वास है कि वह इसी व्यक्तित्व का अनुक्रम है जो इसके पहले था।

उनके पास जिस किसी को भी जाने का मौका मिला है उन सबका कहना है कि वे असाधारण योग्य पुरुष हैं। वे केवल १८ वर्ष के हैं किन्तु ज्ञान एवं दया उनके पद के मुताबिक है।

इस साल जाड़े में इंगलैण्ड के प्रसिद्ध विद्वान् श्री रिचार्डसन से बिहार के नालन्दा कालेज में मेरी भेंट हुई थी। वे अभी हाल ही में तिब्बत से लौटे थे और स्वदेश जा रहे थे। आपस की बात-चीत की दौरान में मैंने तिब्बत के भविष्य के विषय में उनका मत जानना चाहा। उनका छोटा-सा उत्तर था, तिब्बत में दलाई लामा की उपस्थिति से ही कुछ आशा की जा सकती है। यद्यपि इस पर कोई प्रकाश उन्होंने नहीं डाला। वही एक शक्ति है जो देश का पुनरुद्धार कर देश को समयानुसार उठा सकती है।

दलाईलामा नित्य व्याकरण, साहित्य और धर्म में अपने दो शिक्षकों से शिक्षा पाते हैं। वे हैं आदरणीय लिंगट्सांग और माननीय ट्रिचांग। वे भी रिम्पोचे हैं और दलाईलामा के बाद वे ही श्रद्धा के पात्र हैं। उनके व्यक्तिगत चिकित्सक खेनचुंग लामा हैं; जो एक स्वयं हँसमुख और विद्वान् भिक्षु हैं। किन्तु तिब्बती चिकित्सा में शायद ही उनका सर्वोच्च एवं सुयोग्य अधिकार है। उनका साथ बड़ा ही आनन्ददायक है।

दलाईलामा से हमलोगों की भेंट

दलाईलामा ने भारतीय महाबोधि सभा को एक प्रतिनिधि मण्डल भेजने के लिये निमन्त्रित किया और भगवान् बुद्ध तथा उनके दो मुख्य शिष्यों, सारिपुत्र और मौद्गल्यायन की पवित्र धातुओं के साथ आने का आग्रह किया। तदुपरान्त एक प्रतिनिधि मण्डल मार्च में भेजा गया। जिसमें शामिल होने का मुझे भी सौभाग्य प्राप्त हुआ था।

कुछ राजनीतिक कारणों से दलाईलामा ने लासा छोड़ दिया था और तिब्बत के सुदूर दक्षिणी नगर याटुंग में ठहरे थे। डोंकर गोम्पा चुम्बी नदी के किनारे एक पहाड़ी पर स्थित है। पास ही की दूसरी चोटी से देखने पर यह स्थान घोंघा या डोंकर जैसे शकल का मालूम पड़ता है। इस कारण इस मठ का नाम डोंकर गोम्पा या घोंघा मठ रक्खा गया है।

मन्दिर के बहिर्द्वार पर पहुँचने पर हम लोगों के दुभाषिया मित्र श्री शेरकुशो मेरे पास आये और बड़े आदर पूर्वक दलाईलामा की ओर संकेत करके मुझे बताया। वे

पने सहायकों एवं सेवकों के साथ पवित्र अस्थि के स्मानार्थ द्वार पर खड़े थे।

पूरे दो सप्ताह हमलोग दलाईलामा के अतिथि रहे। वेदाई के समय उन्होंने हमलोगों को तिब्बत में बने शमी एवं ऊनी कपड़े भेंट किये। महाबोधि सभा के लिये न्होंने एक सुन्दर रेशमी कपड़े के झण्डे पर अपना लिखा आ सन्देश दिया। मुझे अपनी पीठ पर इसे बाँध चलने का भार सौंपा गया और यह काम ठीक उसी तरह का था जैसे एक सैनिक अपनी बन्दूक पीठ पर लिये चलता है। मुझे मालूम पड़ता था कि इस सन्देश की शक्ति एवं भार शक्तिशाली बन्दूक की अपेक्षा कहीं अधिक था। इसमें स्नेह एवं सत्य की शक्ति निहित थी। दलाई-लामा ने मठ के द्वार तक हमलोगों को पहुँचाया और करुणापूर्ण मुस्कान के साथ एक बार और आशीर्वाद देकर विदा किया।

—अनु० श्री सत्यनारायण पाण्डेय
बी. ए. बी. टी.

तथागत की करुणा

श्री राधेश्याम द्विवेदी

मानव दानव बन बैठा है, फूलों सा उर पाषाण बना।
मानस मानस से दूर हुआ, जन मन जीवित श्मशान बना॥

वह भूल गया ओ बुद्ध तुम्हें, वह भूल गया है करुणा को।
जिससे मानवता दर्शित है, उस स्वर्णिम आभा अरुणा को॥

ओ देव दयामय करुणा दो, पत्थर से उर अब मोम बनें।
पर तापानल से पिघल पिघल, सुस्नेह सुधा रस सोम बनें॥

मेरा तेरा को भूलें सब, जन से हो दूर खड़ी ममता।
करुणा से अब जग शुद्ध बने सबको अंगीकृत हो समता।

अनुदार उदार बनें भू पर परिवार विश्व को ही मानें।
बर्बरता की नश्वरता से चिर हार सदा खल दल जानें॥

कुरुक्षेत्र ध्वंस का नहीं वरन्, निर्माण कार्य सम्पन्न करे।
अधिकार त्याग कर्त्तव्यचरण अपने को जीव प्रपन्न करे॥

विज्ञान हमारा भौतिक से आध्यात्मिकता की ओर मुड़े।
हम विश्वप्रेम की ओर बढ़ें, छाती छाती का छोर जुड़े॥

करुणा करुणालय की करुणा, नवजीवन मधु आह्लाद भरे।
छल दम्भ अहंता द्वेष और पदलोलुपता अवसाद हरे॥

करुणा की बूँदों से सिंचित, मुरझी संस्कृति के सुमन खिलें।
उस बोधिवृक्ष की शाखा पर संसृति पंछी हो एक मिलें॥

नीति की बात

जीवन में उत्थान के लिए नीति का जानना परम आवश्यक है। नीति न जाननेवाले लोग विपत्ति में आत्मोद्धार नहीं कर पाते। इसीलिए हमारे पूर्वजों ने नीति को महत्वपूर्ण समझा था और नीति-शिक्षा पर बल दिया था।

अप्पकेनापि मेधावी पाभतेन विचक्खणो।
समुट्ठापेति अत्तानं अणुं अग्गिं व सन्धमं॥

चतुर पुरुष थोड़ी-सी आग को फूँक मारकर बढ़ा लेने की तरह थोड़े से भी मूलधन से अपने को उन्नत कर लेता है।

सचे मुञ्चे पेच मुञ्चे मुच्चमानो हि बज्झति।
न हेवं धीरा मुच्चन्ति मुत्ति बालस्स बन्धनं॥

यदि मुक्त होना है तो फिर-फिर के जन्म से मुक्त हो, तू तो मुक्त होने का प्रयत्न करता हुआ और भी बँधता है। बुद्धिमान् इस प्रकार मुक्त नहीं होते। मूर्ख का मुक्ति का प्रयत्न और भी उसके बन्धन का कारण होता है।

मनुञ्ञमेव भासेय्य नामनुञ्ञं कुदाचनं।
मनुञ्ञं भासमानस्स गरुम्भारं उदद्धरी।
धनञ्च नं अलभेसि तेन चत्तमनो अहु॥

जब बोले मनोज्ञ वाणी ही बोले, अमनोज्ञ कभी न बोले। मनोज्ञ वाणी बोलने से (बैल ने) भारी भार ढो दिया। उस (ब्राह्मण) को धन मिला, जिससे वह अत्यन्त सन्तुष्ट हुआ।

सम्मोदमाना गच्छन्ति जालमादाय पक्खिनो।
यदा ते विवदिस्सन्ति तदा एहिन्ति मे वसं॥

पक्षी एक राय होने के कारण जाल को लेकर उड़ जाते हैं, लेकिन जब वह विवाद करेंगे तब वह मेरे वश में आ जायेंगे।

नाच्चन्त निकतिप्पञ्ञो निकत्या सुखमेधति।
आराधे निकतिप्पञ्ञो बको कक्कटकामिव॥

धूर्त-बुद्धि आदमी अपनी अधिक धूर्तता से सदैव सुख नहीं पा सकता। धूर्त-बुद्धि अपने किये का फल भोगता है, जैसे बगुले ने केकड़े के द्वारा।

छींकने के बाद 'जीओ' क्यों कहा जाता है?

श्री दीनदयाल दिनेश

हम छींकते हैं और हमारे आस-पास का कोई भी कह उठता है—'जीओ'।

हम नित्य ही यह आशीर्वाद पाते हैं। परन्तु हमने कभी इस आशीर्वाद पर विचार नहीं किया और न कभी किसी से इसका कारण ही पूछा।

उस दिन भिक्षु संघरक्षित जी कह रहे थे कि हमारी साँस ही हमारी जान है। यदि हमारी साँस किसी जोर के धक्के से बाहर निकलती है—जैसा कि छींकने पर होता है—तो हमारी जान के निकल जाने का डर रहता है। छींकने पर कहीं हमारी साँस एकदम ही न निकल जाय और हम मर न जायँ इसलिये हमें 'जीओ' कहकर जिन्दा रहने का आशीर्वाद दिया जाता है।

हमारे अपने देश के ही नहीं दूसरे देशों के प्राचीन ग्रंथों में जो कहानियाँ हैं उनमें से अधिकांश का मूल स्रोत 'जातक' ही माना जाता है। जातक शब्द का अर्थ है 'जात' या जन्म सम्बन्धी। जातक भगवान् बुद्ध के

पूर्व जन्म की कहानियाँ हैं। वे उस समय दान, शील, मैत्री, सत्य, क्षान्ति, प्रज्ञा, वीर्य आदि दस पारमिताओं की पूर्णता का अभ्यास करते हैं। कभी-कभी तो बहुजन के हितार्थ अपने प्राणों तक का बलिदान कर देते हैं। छींक आने पर 'जीओ' कहने की प्रथा का सूत्रपात एक 'जातक' में इस तरह लिखा मिलता है :—

एक दिन भगवान् बुद्ध को राजकाराम में धर्मोपदेश करते समय छींक आ गई। भिक्षुओं ने ऊँचे स्वर में कहा—

"भन्ते ! जीएँ।"

उनके इस तरह चिल्लाने पर धर्मोपदेश में विघ्न पड़ा। भगवान् ने भिक्षुओं से पूछा—

"भिक्षुओ ! यदि किसी के छींकने पर 'जीओ' कहा जायेगा, तो क्या उस कहने मात्र से उसके जीने-मरने पर कुछ असर पड़ेगा ?"

"भन्ते ! नहीं।"

उन दिनों भिक्षुओं के छींकने पर लोग कहा करते—

"भन्ते ! जीएँ।"

भिक्षु बुरा मानते, और कुछ न कहते। लोग नाराज होकर कहते—

"कैसे हैं ये श्रमण शाक्य-पुत्रीय, जो 'भन्ते ! जीएँ' कहने पर कुछ भी नहीं कहते।"

यह बात भिक्षुओं ने भगवान् से कही। भगवान् ने कहा—

"भिक्षुओ ! गृहस्थ मंगल-अमंगल को माननेवाले होते हैं। गृहस्थों के 'भन्ते जीएँ' कहने पर 'चिरकाल तक जीते रहो' कहने की अनुज्ञा देता हूँ।"

भिक्षुओं ने भगवान् से पूछा—

"भन्ते ! छींकने पर 'जीओ' कहने की प्रथा कब से आरम्भ हुई ?"

इतना सुन भगवान् ने अपने पूर्व-जन्म की एक कथा कही—

उस समय काशी देश में ब्रह्मदत्त नाम का राजा राज्य करता था। उसके राज्य में एक ब्राह्मण और उसका सोलह वर्षीय एक पुत्र रहते थे। जो व्यापार कर अपना गुजारा करते थे।

एक दिन मोती की वस्तुएँ ग्राम-निगम आदि में बेचते हुए वे वाराणसी पहुँचे। द्वारपाल के घर भोजन बनवा कर उन्होंने खाया। निवास स्थान नहीं था। व्यापारी ने पूछा—

"असमय में आए हुए अतिथि कहा रहते हैं ?"

"नगर के बाहर एक शाला है। लेकिन उसमें एक राक्षस रहता है। यदि चाहें तो वहाँ रहें।" द्वारपाल ने कहा।

पुत्र बोला—

"पिता जी ! चलें। डरने की कोई जरूरत नहीं। मैं उस राक्षस का दमन करूँगा।"

पिता-पुत्र दोनों वहाँ गये। पिता तख्ते पर लेटा। पुत्र पिता के पैरों को दबाते हुए बैठा रहा।

वहाँ रहने वाला राक्षस शाला में जो आदमी आते उनमें से किसी को छींक आने पर यदि कोई 'जीओ' कहता और जिसको छींक आई हो वह भी 'जीओ' कहता तो उनको छोड़, सभी को खा डालता था। उसने ब्राह्मण को छींक लिवाने के लिये अपने प्रताप से सूक्ष्म चूर्ण बखेरा। तख्ते पर पड़े-पड़े ही ब्राह्मण को छींक आ गई। पुत्र ने 'जीओ' नहीं कहा। राक्षस ब्राह्मण को खाने के लिये आने लगा। पुत्र ने उसे देख सोचा—इसी ने मेरे पिता को छिंकाया होगा। छींकने पर जो 'जीओ' न कहें उन्हें यह खा लेता होगा। उसने पिता को सम्बोधन कर कहा—

"पिताजी ! आप सौ वर्ष तक जीयें। मुझे पिशाच न खाये।"

राक्षस ने पुत्र के यह वचन सुन सोचा-इसने 'जीएँ' कहा है इसलिये मैं इसे नहीं ही खा सकता। इसके पिता को खाऊँगा। वह ब्राह्मण की ओर बढ़ा। ब्राह्मण ने उसे अपनी ओर आते देख सोचा—यह राक्षस उन लोगों को खा लेता होगा जो 'जीएँ' के उत्तर में 'जीओ' न कहते होंगे। उसने पुत्र को कहा—

"तू भी सौ वर्ष तक जीवित रह, पिशाच जहर खाएँ।"

अब वह राक्षस दोनों, पिता पुत्र को खा नहीं सकता था। वह वापस जाने लगा। पुत्र ने उससे कहा—

"ओ राक्षस? इस शाला में आने वाले आदमियों को तू क्यों खाता है?"

"बारह वर्ष कुबेर की सेवा करने के बाद यह अधिकार मिला है।"

"क्या सभी को खाने का अधिकार है?"

" 'जीएँ' और 'जीओ' कहने वालों को छोड़कर सभी को खा सकता हूँ।"

"राक्षस! तूने पहले बुरे कर्म किए। इसलिए तू निर्दयी, कठोर तथा दूसरों की हिंसा करनेवाला हुआ है। अब फिर उसी तरह के काम करके तू अन्धकार की ओर जा रहा है। अब तो प्राणि-हिंसा आदि हीन कर्मों से विरत हो।

इस प्रकार राक्षस का दमन कर नरक के भय से डरा, धर्म की महिमा कह उसे दूत की तरह विनीत कर दिया।

राजा को पता चला तो उसने ब्राह्मण के पुत्र को बुला कर उसे सेनापति के पदपर नियुक्त किया और राक्षस को बलि-ग्रहण का अधिकारी बना स्वयं दान आदि पुण्य कर्म करता हुआ राज्य करने लगा।

बौद्धयोगी के पत्र–१४

तीन ब्रह्मविहार

प्रिय जिज्ञासु,

तुम्हारा पत्र मिला। यह जानकर मुझे प्रसन्नता हुई कि तुमने योगाभ्यास में अच्छी प्रगति कर ली है। तुम्हारा अनुभव सर्वथा योगानुकूल है। तुमने अपने प्रतिदिन के कार्यक्रम में योग के लिए जो समय निर्धारित कर रखा है, वह प्रशंसनीय है। साधना के समय घबड़ाना नहीं, अपने चित्त को निमित्त में लगाकर एकाग्र करने का प्रयत्न करना। चित्त को एकाग्र करना ही साधक का प्राथमिक लक्ष्य होता है। एकाग्र-चित्त होने के पश्चात् अन्य क्रियायें सिद्ध होती हैं।

शीलगुप्त और उसकी नव-वधू को मेरा आशीर्वाद कहना। लज्जित होने की कोई बात नहीं। संसार में रहनेवाले प्राणियों का यह स्वाभाविक धर्म है। विवाह कोई बुरी चीज नहीं और न तो उससे साधना में ही कोई बाधा पड़ सकती है। प्रत्येक गृहस्थ भली प्रकार गृहस्थी में रहकर साधना कर सकता है। साधना केवल संन्यासियों के लिए रजिस्टर्ड नहीं है। यह सर्वसाधारण के आत्मोत्थान का साधन है। तुम इस नवदम्पति को बतलाना कि वह प्रतिदिन नियमानुसार बुद्ध-पूजा आदि से निवृत होकर 'आनापान-स्मृति' अथवा ब्रह्मविहारों की भावना करती रहेगी। 'आनापान-स्मृति' के सम्बन्ध में मैंने तुम्हें बर्मा से लिख भेजा था। 'मैत्री-ब्रह्मविहार' की भावना-विधि भी बतलाई जा चुकी है। आज मैं शेष तीन ब्रह्मविहारों की साधना-प्रणाली के सम्बन्ध में लिख रहा हूँ। आशा है तुम भली प्रकार मनन करके इनका अभ्यास करोगे।

करुणा-ब्रह्मविहार

करुणा-ब्रह्मविहार की भावना करनेवाले साधक को करुणा-रहित होने के दोष और करुणा के गुण का मनन करके करुणा-भावना का आरम्भ करना चाहिए। सर्व प्रथम किसी करुणा करने के योग्य अत्यन्त दुःखी, निर्धन, बुरी अवस्था को प्राप्त, हाथ-पैर कटे, कड़ाही को हाथ में लेकर अनाथालय की शरण जानेवाले, सड़े हाथ-पैर वाले, दुःख के मारे चिल्लाते हुए पुरुष को देखकर 'यह व्यक्ति कैसी बुरी अवस्था को प्राप्त है! अच्छा होता कि यह इस दुःख से छुटकारा पा जाता!' इस प्रकार करुणा करनी चाहिए।

जो व्यक्ति ऐसे दुःख-प्राप्त नहीं हैं, किन्तु पापी हैं, उनके भविष्य के दुःख का चिन्तन करते हुए करुणा करनी चाहिए। जिस प्रकार कोई चोर चुराये हुए सामान के साथ गिरफ्तार कर लिया जाय और राजा की आज्ञा से

उसे प्रत्येक चौराहे पर सौ कोड़े मारते हुए सूली घर में ले जाया जाय। मार्ग में उसे आदमी भोजन, माला, गन्ध, शर्बत आदि दें और वह खाते-पीते आगे बढ़े। लोगों के देखने में वह सुखी और भोग से युक्त जान पड़े, किन्तु 'यह सुखी है, महाभोग सम्पन्न है' ऐसा कोई नहीं जानें, प्रत्युत 'यह अभागा अब मरेगा, यह ज्यों-ज्यों कदम आगे रखता है, त्यों-त्यों मृत्यु के पास होता जाता है' ऐसे उस पर करुणा करें। इसी प्रकार करुणा ब्रह्मविहार की भावना करनेवाले साधक को सुखी व्यक्ति पर भी करुणा करनी चाहिए। 'यह अभागा है, यद्यपि इस समय सुखी है, सुसज्जित भोगों का उपभोग कर रहा है, किन्तु काया, मन और वाणी से पुण्य न करने के कारण अब दुर्गति को प्राप्त होकर बहुत दुःखी होगा।'

ऐसे उस व्यक्ति पर करुणा करके, उसके बाद क्रमशः प्रिय, मध्यस्थ और वैरी पर करुणा करनी चाहिए। यदि वैरी पर करुणा करते हुए प्रतिहिंसा की भावना जाग्रत हो, तो मैत्री-ब्रह्मविहार में बतलाये हुए ढंग से ही चित्त को शान्त करना चाहिए।

पुण्यात्मा को भी अपने सम्बन्धी, रोग, धन की बरबादी आदि में से किसी एक विपत्ति को देखकर अथवा संसार-चक्र के दुःख में पड़ा हुआ समझ कर 'यह भी दुःखी ही है' सोच करुणा करके सीमा तोड़कर करुणा को बढ़ाना चाहिए। करुणा-ब्रह्मविहार के गुण भी मैत्री-ब्रह्मविहार के समान ही होते हैं।

मुदिता-ब्रह्मविहार

मुदिता-ब्रह्मविहार की भावना करनेवाले साधक को चाहिए कि वह किसी अपने प्रिय व्यक्ति को सुखी और प्रमुदित देखकर या सुनकर 'क्या ही यह व्यक्ति आनन्द कर रहा है! बहुत ही अच्छा है, बहुत ही सुन्दर है!' ऐसे मुदिता उत्पन्न करनी चाहिए।

यदि वह प्रिय व्यक्ति भूतकाल में सुखी था, किन्तु इस समय निर्धन और बुरी दशा को प्राप्त हुआ है तो उसके भूतकाल में सुखी होने का अनुस्मरण करके 'यह भूतकाल में ऐसा महाधन-सम्पत्तिवाला, महापरिवारवाला, सदा प्रमुदित रहनेवाला था।' उसके इस प्रमुदित रहने के आकार को लेकर मुदिता उत्पन्न करनी चाहिए। अथवा 'भविष्य में फिर उस सम्पत्ति को पाकर हाथी, घोड़े की पीठ पर सवार हो, सोने की पालकी में चढ़कर विचरण करेगा।' ऐसे भविष्य के उसके प्रमुदित होने के आकार को लेकर मुदिता उत्पन्न करनी चाहिए। इस प्रकार प्रिय व्यक्ति पर मुदिता को उत्पन्न कर पीछे मध्यस्थ और वैरी पर क्रमशः मुदिता करनी चाहिए। शेष बातें मैत्री-ब्रह्मविहार में बतलायी हुई विधि के समान ही जाननी चाहिए।

उपेक्षा-ब्रह्मविहार

उपेक्षा-ब्रह्मविहार की भावना करनेवाले साधक को चाहिए कि वह मध्यस्थ व्यक्ति के प्रति इस प्रकार उपेक्षा-भावना करे जिस प्रकार कि कोई एक अप्रिय और प्रिय व्यक्ति को देखकर उपेक्षक हो विहार करे। पुराने योगियों ने भी कहा है—"कैसे साधक, उपेक्षा-युक्त चित्त से एक दिशा को स्फरण करके विहरता है? जैसे एक अ-प्रिय और प्रिय व्यक्ति को देखकर उपेक्षक हो, ऐसे ही सब सत्त्वों को उपेक्षा से स्फरण करता है।" इसलिए पहले मध्यस्थ व्यक्ति पर उपेक्षा उत्पन्न करके प्रिय और वैरी पर क्रमशः उपेक्षा-भावना करनी चाहिए। उपेक्षा-विहारी साधक को थोड़े ही प्रयत्न में चतुर्थ ध्यान प्राप्त हो जाता है। मैत्री, करुणा और मुदिता में आलम्बन के अनुकूल होने के कारण तृतीय ध्यान तक ही सरलता-पूर्वक प्राप्त होते हैं। चतुर्थ ध्यान के लिए उपेक्षक होना ही पड़ता है। अतः उपेक्षा-ब्रह्मविहार में चतुर्थ ध्यान की प्राप्ति सहज-साध्य होती है।

इन चारों ब्रह्मविहारों में भलाई के रूप में होने के लक्षणवाला मैत्री-ब्रह्मविहार है। भलाई को लाना उसका काम है। दुःख को दूर करने के आकारवाला करुणा-ब्रह्मविहार है। दूसरे के दुःख को न सह सकना इसका काम है। प्रमोद के लक्षणवाला मुदिता-ब्रह्मविहार है। ईर्ष्या न करना इसका काम है। प्राणियों में मध्यस्थ के रूप में रहनेवाला उपेक्षा-ब्रह्मविहार है। सब प्राणियों को समान रूप से देखना इसका काम है। 'सभी प्राणी कर्मानुसार फल पाते हैं। वे किसी की इच्छा से सुखी

होंगे या दुःख से छुटकारा पायेंगे—ऐसा सम्भव नहीं' इस प्रकार मनन करना उपेक्षा-ब्रह्मविहार का प्रधान स्वरूप है।

इन चारों ब्रह्मविहारों का योग के सुख की प्राप्ति और भव-सम्पत्ति का लाभ ही प्रयोजन है। द्रोह आदि को दूर करना प्रत्येक का काम है। मैत्री से द्रोह दूर हो जाता है और विहिंसा, अरति तथा राग से क्रमशः अन्य तीन ब्रह्मविहारों से।

ब्रह्मविहारों के आलम्बन को बढ़ाने का क्रम इस प्रकार जानना चाहिए—जैसे चतुर किसान जोतने-योग्य स्थान को घेरकर जोतता है, ऐसे ही पहले एक घर को अलग करके वहाँ के सत्वों पर 'इस घर के सत्व वैररहित हों' आदि प्रकार से मैत्री की भावना करनी चाहिए। वहाँ चित्त को मृदु, कर्मण्य करके दो घरों को अलग करना चाहिए। उसके बाद क्रमशः तीन, चार, पाँच, छः, सात, आठ, नव, दस, एक गली, आधा गाँव, पूरा गाँव, जिला, राज्य, एक दिशा—इस प्रकार एक चक्रवाल तक। या उससे भी अधिक सत्वों पर मैत्री करनी चाहिए। वैसे ही करुणा, मुदिता और उपेक्षा को भी बढ़ाना चाहिए।

चारों ब्रह्म-विहारों की भावना करने की इच्छा वाले साधक को पहले भलाई के रूप में प्राणियों पर लगना चाहिए और मैत्री भलाई के स्वरूप से होनेवाली है। उसके बाद भलाई चाहनेवाले प्राणियों को दुःख से पीड़ित देखकर करुणा का भाव उत्पन्न होता है। इच्छित भलाई के होने और अनिच्छित दुःख के मिटने पर प्रमुदित होने के आकारों में मुदिता उत्पन्न होती है। उसके पश्चात् कर्त्तव्य के अभाव से उपेक्षा करके मध्यस्थ होना चाहिए और उपेक्षा मध्यस्थ होने के लक्षणवाली है, इसलिए मैत्री, करुणा, मुदिता और उपेक्षा चारों ब्रह्म-विहार क्रम से कहे जाते हैं।

सभी ब्रह्म-विहार अप्रमाण-गोचर में प्रवर्तित होते हैं, क्योंकि अप्रमाण प्राणी इनके गोचर हैं तथा इनकी भावना के लिए किसी प्रकार की सीमा की व्यवस्था नहीं है। ये बिना किसी सीमा के पूर्णतः स्फरण करके बढ़ाये जाते हैं, इसलिए इन्हें 'अप्रमाण्य' भी कहते हैं।

इन ब्रह्मविहारों का गुणगान करते हुए एक महायोगी ने कहा है कि प्राणियों की भलाई के विचार से, प्राणियों के दुःख सहन करने से, प्राप्त हुई सम्पत्ति-विशेष की चिर-स्थिति की इच्छा से और सब प्राणियों के प्रति पक्षपात के अभाव से समान चित्त होने से बोधिसत्व 'इसे देना चाहिए', 'इसे नहीं देना चाहिए' इस प्रकार विभाजन न कर सब प्राणियों के सुख के लिए दान देते हैं। उनके उपघात को त्यागते हुए शील को ग्रहण करते हैं। शील को परिपूर्ण करने के लिए नैष्कम्य करते हैं। प्राणियों की भलाई-बुराई में असम्मोह के लिए प्रज्ञा को परिशुद्ध करते हैं। प्राणियों के हित-सुख के लिए नित्य उद्योग करते हैं। प्राणियों के नाना प्रकार के अपराध को क्षमा करते हैं। उनपर स्थिर मैत्री करनेवाले होते हैं। उपेक्षा से किये हुए कर्मों का बदला नहीं चाहते हैं। इस प्रकार सभी कल्याण-कारक धर्मों को पूर्ण करते हैं। अतः स्पष्ट है कि सब कल्याण-कारक धर्मों को पूर्ण करनेवाले ये चारों ब्रह्मविहार हैं।

पत्र कुछ लम्बा हो गया। सम्भव है, इसे पढ़ने में तुम्हारा मन ऊब जाय। बस, अधिक न लिखकर इसे यहीं समाप्त करता हूँ। योगिराज के आशीर्वाद।

बोधिमण्ड, उरुवेला

१२–१०–५४

तुम्हारा—

योगी

'आज मुझे अवकाश नहीं है, कल दान आदि पुण्य कर्म करूँगा'—ऐसा सोच, पुण्य के कार्यों में आलस करना ठीक नहीं, क्योंकि तीनों कालों तथा त्रिभुवन में कोई भी आदमी मृत्यु से छुटकारा नहीं पाया है।

—तेलकटाह गाथा

नये प्रकाशन

बौद्ध-विभूतियाँ—लेखक-भिक्षु धर्मरक्षित, प्रकाशक-मनोरंजन पुस्तकालय, ८।१७६ खजुरी, बनारस कैन्ट, मूल्य : डेढ़ रुपया।

भिक्षु धर्मरक्षित जी ने अबतक लगभग दो दर्जन पुस्तकें लिखी हैं, किन्तु प्रस्तुत पुस्तक बौद्धधर्म के जिज्ञासु पाठकों के लिये उन सब में विशेष उपयोगी है। इस छोटी-सी पुस्तक में लेखक ने सरल भाषा और प्रवाह युक्त शैली में बौद्धधर्म के कुछ पुराने और कुछ वर्तमान सेवकों की जीवन-रेखायें उपस्थित की है। इन रेखाओं में जीवन का वही भाग विशेष रूप में चित्रण किया गया है जिसका सम्बन्ध भारत में बौद्धधर्म के प्रचार से रहा है। वास्तव में लेखक ने बौद्ध-विभूतियों के द्वारा भारत में पिछले सत्तर साल का बौद्ध-धर्म के प्रचार और प्रसार का एक छोटा-सा इतिहास प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया है। इस दृष्टि से, यदि कुछ व्यक्तियों का जीवन और अंकित किया जाता तो यह पुस्तक और अधिक उपयोगी और पूर्ण सिद्ध होती। किंतु इस अभाव की ओर लेखक का ध्यान अवश्य है, जैसा कि उन्होंने भूमिका में लिखा है। अच्छा हो कि ग्रंथ के दूसरे संस्करण में यह कमी दूर कर दी जाय, भले ही इसके लिये कुछ जीवित व्यक्तियों के चरित्र को किसी अगले भाग के प्रकाशन तक रोक रखना पड़े।

प्रस्तुत पुस्तक का कुछ भाग संस्मरणात्मक है और इस भाग के चित्रण में लेखक को अच्छी सफलता मिली है। संस्मरण में स्वाभाविक रूप से कुछ व्यक्तिगत बातें आ ही जाती हैं, पर उन बातों का समावेश लेखक ने इस ढंग से किया है कि वे उसके उद्देश्य में सहायक ही सिद्ध हुई हैं। पाठक इन संस्मरणों में इतना तन्मय हो जाता है कि उसके हृदय में एक प्रकार का ममत्व पैदा हो जाता है। ये संस्मरण इतने आकर्षक हो गये हैं कि यह उचित जान पड़ता है कि पुस्तक दो भागों में प्रकाशित होती तो ज्यादा अच्छा होता—एक भाग में मृत सेवकों की जीवनियाँ और उनके कार्य-कलापों का दिग्दर्शन रहता और दूसरे में लेखक के संस्मरण। ऐसा करने से लेखक का मूल उद्देश्य बौद्ध-धर्म का इतिहास-भी तैयार होता और संस्मरण भी।

प्रस्तुत पुस्तक में कुछ ऐसे व्यक्तियों की जीवनियाँ दी गई हैं (यद्यपि ये बहुत संक्षिप्त रूप में हैं) जो बौद्ध-अबौद्ध सबके लिये समान रूपसे पठनीय और उपयोगी हैं। उदाहरण के लिये हम महावीर स्वामी, धर्मपाल जी, कौसाम्बी जी, बोधानन्द जी आदि की जीवन-रेखा को ले सकते हैं। वास्तव में इन जीवनियों को चित्रित करते समय लेखक केवल लेखक नहीं रह गया है बल्कि वह एक चित्रकार हो गया है जिसके हाथ में लेखनी नहीं, तूलिका रही है। झूठी प्रशंसा और शब्दाडम्बर से रहित, प्रांजल भाषा में सजीव चित्रण के लिये लेखक धन्यवाद का पात्र है। लेखक से यह निवेदन करना उचित ही होगा कि बुद्धकाल से लेकर आज तक के उन तमाम बौद्ध-विभूतियों की जीवनियाँ तीन-चार खंडों में प्रकाशित करें जिनकी अब इस संसार में केवल साधना ही शेष रह गई है और जिनसे प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष रूप में हम आज भी प्रेरणा ग्रहण करते हैं।

पुस्तक का टाइप थोड़ा बड़ा और मूल्य थोड़ा कम रहता तो और अच्छा होता। वैसे छपाई-सफाई अच्छी है।

—सुमन वात्स्यायन, पटना

संत समागम—(भाग १, २)—सम्पादक—मदनमोहन वर्मा। प्रकाशक—मानव-सेवा-संघ, श्री वृन्दावन, मथुरा। पृष्ठ संख्या प्रथम भाग २६१, द्वितीय भाग ३६१ मूल्य क्रमशः १॥), २)

भाग १

यह एक 'स्वामी जी' के प्रवचन एवं पत्रों का संकलन है। ग्रन्थ में कहीं भी 'स्वामी जी' का नाम नहीं दिया गया है। इसमें लखनऊ का सत्संग, अजमेर का सत्संग और पत्र-पुष्प इन तीन अध्यायों में स्वामी जी के विचार संकलित हैं। संकलनकर्त्ता ने समय या अन्य किसी प्रकार का ध्यान रखे बिना ही इनका सम्पादन किया है। इस ग्रन्थ में गूढ़ से गूढ़ आध्यात्मिक बातों की

सरलरूप से व्याख्या की गई है। यद्यपि विवेचन संक्षिप्त हैं तथापि हृदय-ग्राही एवं प्रभावशाली हैं। बीच-बीच में सन्त सन्देश, सन्तवाणी आदि देकर ग्रन्थ को रोचक बना दिया गया है। ग्रन्थ पठनीय एवं मननीय है।

भाग २

इस भाग में प्रारम्भ में 'स्वामी जी' के चार लेख दिये गये हैं, जो समय-समय पर 'कल्याण' में प्रकाशित हो चुके हैं। उनके शीर्षक हैं—हमारी आवश्यकता, शरणागति-तत्त्व, परिस्थिति का सदुपयोग, और वास्तविक राष्ट्र-निर्माण। तदुपरान्त संतवाणी, सेवा का स्वरूप और महत्व, पत्र-पुष्प, जीवन-पथ आदि छः अध्याय हैं। इस ग्रन्थ में भी प्रथम भाग की भाँति ही स्वामी जी के सुन्दर उपदेशों का संकलन किया गया है, किन्तु प्रथम भाग के समान डायरी सदृश इसका सम्पादन नहीं हुआ है। यह ग्रन्थ प्रथम भाग से अधिक उपयोगी एवं चित्ताकर्षक है। यदि इन ग्रन्थों में प्रवचन-कर्त्ता का नाम मुद्रित होता तो पाठकों पर अधिक प्रभाव पड़ता, किन्तु नाम के अभाव में ग्रन्थ का महत्व बहुत कुछ न्यून हो गया है। ग्रन्थ की छपाई-सफाई सुन्दर है।

—अनन्त

[पृष्ठ १५८ का शेषांश]

देवप्रियजी वापस—भारतीय महाबोधि सभा के प्रधान मंत्री श्री देवप्रिय वलीसिंह जी गत फरवरी मास में भारत से जापान गये। वे वहाँ लगभग ९ मास रहकर स्याम, सिंगापुर, मलाया, बर्मा होते हुए गत मास कलकत्ता वापस आ गये। उनके वापस आने पर सभा की ओर से एक अभिनन्दन सभा हुई, जिसमें कलकत्ता स्थित सभी भिक्षु और बौद्धगृहस्थ सम्मिलित हुए थे।

आस्ट्रेलिया में धर्म-प्रचार—आस्ट्रेलिया के बौद्धों की ओरसे निमंत्रित होकर प्रसिद्ध धर्म-प्रचारक भिक्षु ऊ तिथिल वहाँ गये हैं। आप पहले भारतीय महाबोधि सभा के मद्रास-केन्द्र में रहकर धर्म-प्रचार कार्य करते थे। इधर दीर्घकाल तक आप लन्दन में धर्म-प्रचारार्थ रहे हैं।

भिक्षु केवलानन्द का देहावसान—इंगलैण्ड के प्रसिद्ध बौद्ध विद्वान् भिक्षु केवलानन्द (श्री सिरिल् मूअर) अब इस संसार में नहीं रहे! आप का गत मास में लंका से लन्दन जाने पर देहावसान हो गया। आप 'दी मिडल वे' के सम्पादक तथा अनेक ग्रन्थों के लेखक थे। आप ने लंका में रहकर कुछ दिनों तक धर्म का अध्ययन किया था। आपके देहावसान से इंगलैण्ड के बौद्धों की एक महान् क्षति हुई है जिसकी पूर्ति नहीं हो सकती।

आपका अन्त्येष्टि-संस्कार बौद्ध-पद्धति से भिक्षु नारद ने सम्पन्न कराया। उक्त अवसर पर बड़े-बड़े विद्वान् एवं दूतावासों के बौद्ध कर्मचारी तथा अधिकारी उपस्थित थे।

बुद्धजयन्ती उत्सव का आरम्भ—लंका के बौद्धों की ओर से आगामी १२ अक्तूबर को बुद्धजयन्ती उत्सव आरम्भ कर दिया गया, जो आगामी १९५६ की पूर्णिमा को, जब बुद्धाब्द २५०० पूर्ण होगा विधिवत् समाप्त किया जायेगा। इस उत्सव के कार्यक्रम के अन्तर्गत बुद्ध मन्दिरों का निर्माण, बौद्ध विद्यालयों का समारम्भ, ग्रन्थों के प्रकाशन तथा विश्व-बौद्ध-शब्द कोश का मुद्रण भी सम्मिलित है।

तामिल कज़ागम बौद्ध घोषित—दक्षिण भारत के तामिल कजागम लोगों ने गत मास में अपने को सविधि बौद्ध घोषित कर दिया। ये बौद्ध पूरे मद्रास प्रदेश में बिखरे हुए हैं और इनकी संख्या लगभग २ करोड़ है।

लंका में जर्मन बौद्धाश्रम—लंका में अभी हाल ही में कैण्डी नगर में एक जर्मन बौद्धाश्रम की स्थापना हुई है। उक्त आश्रम में जर्मनी के बौद्ध शिक्षा प्राप्त करने आया करेंगे और जर्मनी में वापस जाकर धर्म-प्रचार करेंगे। इस समय जर्मनी में लगभग १५००० बौद्ध हैं।

हालैण्ड में बौद्ध समिति—समाचार प्राप्त हुआ है कि हालैण्ड के बौद्धों ने 'हालैण्ड बौद्ध समिति' की स्थापना की है। समिति की स्थापना के समारोह में भिक्षु नारद भी सम्मिलित हुए थे।

बौद्ध-जगत्

संक्रामक रोगों की एकमात्र औषधि बौद्धतीर्थ संकिसा में मिली !

धर्मपाल-जन्मोत्सव में रहस्य-भेद

"फरूखाबाद जिले में बौद्धों के तीर्थ संकिसा (संकाश्य) में भूमि के नीचे २०० फुट की गहराई पर कई मीलों तक संक्रामक रोगों की एकमात्र औषधि लंका की प्राचीन लकड़ी बिछी पड़ी है। यह लकड़ी आज से दो हजार वर्ष पूर्व किसी कुशन वंशीय राजा द्वारा लंका से भारत लाई गई थी, जो समूचे राजमार्ग पर संक्रामक रोगों से मुक्ति पाने के लिए बिछा दी गई थी। जिस प्रकार आजकल नागफेनी का प्रयोग संक्रामक रोगों से बचने के लिए किया जाता है, वैसा ही प्रयोग इस लकड़ी का संकिसा में हुआ था। कई वर्षों के अन्वेषण के पश्चात् यह बात जानी गई है, किन्तु इस सम्बन्ध में और अनुसन्धान करने की आवश्यकता है। यदि भारत और लंका के सम्बन्ध में पुरातत्व से प्रेम रखनेवाले कुछ लोग इधर ध्यान दें तो अनेक महत्वपूर्ण तथ्यों का पता लगेगा। संकिसा के किसान कुँआ खोदते समय २०० फुट के नीचे इस लकड़ी को पाते हैं और इसे काटने के बाद ही कुँओं में पानी निकलता है। यह लकड़ी दो हजार वर्ष के पश्चात् भी खराब नहीं हुई है। यह पहले ऊपर थी, जो काल परिवर्तन से २०० फुट नीचे भू-गर्भ में छिप गई है।"

यह महत्वपूर्ण ऐतिहासिक बात श्री परिपूर्णानन्द वर्मा एम. एल. ए. ने गत १७ सितम्बर को सारनाथ में अनागरिक धर्मपाल की जन्मजयन्ती के उपलक्ष्य में आयोजित सभा में अध्यक्षपद से बोलते हुए कही।

आगे उन्होंने भाषण करते हुए कहा कि बौद्धधर्म एक महान् धर्म है। भगवान् बुद्ध की सार्वभौम शिक्षा अखिल-विश्व के लिए कल्याणकारी है। हम गृहस्थों का कर्तव्य है कि भिक्षुओं की सहायता करें और उनकी सेवा कर पुण्य के भागी हों। उनके आशीर्वाद के बिना हमारा कल्याण नहीं हो सकता।

अनागरिक धर्मपाल जी के जीवन पर प्रकाश डालते हुए उन्होंने कहा कि हमें खेद और लज्जा है कि जिस महात्मा ने अपना सारा जीवन भारत में लगा दिया, उसकी मूर्ति के निर्माणार्थ भारतीयों से एक भी पैसा नहीं मिला और लंका के लोगों ने १३०००) का दान दिया है।

विद्यार्थियों को सम्बोधित करके उन्होंने कहा कि जो आज ट्रेनों में बिना टिकट चलते हैं, वे कल डाका डालेंगे, लूटमार करेंगे—ऐसा सम्भव है। अतः कानून एवं आचरण के विरुद्ध किसी भी कार्य को करने का प्रयत्न नहीं करना चाहिए।

सभा के प्रारम्भ में भदन्त शासन श्री महास्थविर ने स्वागत भाषण किया तथा छात्रों द्वारा मंगल गान हुआ। तदुपरान्त भिक्षु धर्मरक्षित, श्री भास्करनाथ मिश्र, भिक्षु संघरत्न, श्री बालेश्वर प्रसाद और भिक्षु धर्मरत्न के भाषण हुए। सब वक्ताओं ने अनागरिक धर्मपाल के जीवन चरित एवं कार्यों पर प्रकाश डालते हुए उन्हें श्रद्धाञ्जलि समर्पित की।

तत्पश्चात् महाबोधि कालेज के छात्रों के प्रतियोगितात्मक भाषण हुए। छात्रों में श्री रामप्रसाद, श्री रामसमुझ और श्री भैरवनाथ क्रमशः पुरस्कृत हुए।

सभापति के भाषण के उपरान्त भिक्षु सद्धातिस्स ने सभी लोगों को धन्यवाद दिया और भिक्षुओं ने सूत्रपाठ किया।

सभा के पश्चात् सभी लोगों को महाबोधि-सभा की ओर से प्रीति-पेय एवं मिष्ठान्न दिया गया। दोपहर में स्थानीय भिक्षुओं को भोजन दान दिया गया तथा रात्रि में प्रदीपपूजा हुई।

बर्मा में बौद्धधर्म की अनिवार्य शिक्षा—बर्मा में स्कूलों में सभी धर्मों की शिक्षा देने की व्यवस्था होने ही वाली थी कि बर्मा के १५००० भिक्षुओं ने आन्दोलन छेड़

दिया और माण्डले में एक बहुत बड़ी सभा हुई। फलस्वरूप सरकार को अपना निश्चय बदलना पड़ा और सभी स्कूलों में बौद्धधर्म की अनिवार्य शिक्षा का कानून लागू कर दिया गया। अब बर्मा के सभी स्कूलों में बौद्धधर्म की अनिवार्य रूप से शिक्षा दी जा रही है।

राजगिरि और कौशाम्बी में खोदाई—इस वर्ष राजगिरि और कौशाम्बी में खोदाई का कार्य विधिवत् होता रहा है। राजगिरि की खोदाई में बिम्बिसार के वैद्य जीवक कौमारभृत्य द्वारा निर्मित विहार के स्थल पर दो बड़े-बड़े चैत्य मिले हैं।

प्रयाग विश्वविद्यालय की इतिहास परिषद् ने कौशाम्बी के घोषिताराम विहार के स्थल की खोदाई जारी रखी। यहाँ पर ईसा से पूर्व तथा पश्चात् की शतियों के कुछ शिल्प तथा मिट्टी के खिलौने मिले हैं। कनिष्क काल की प्रसिद्ध बौद्ध भिक्षुणी बुद्धमित्रा का एक शिलालेख भी मिला है।

पाटलिपुत्र के पास कमरहार की खोदाई में जो के. पी. जायसवाल शोध संस्थान की ओर से की गयी थी, आरोग्य विहार नामक विहार तथा चिकित्सालय का पता लगा है।

उज्जैन में बोधिवृक्ष का रोपण—उज्जैन के चम्बल भारती के संचालक श्री नारायण प्रसाद भूषण ने बुद्धगया-स्थित बोधिवृक्ष का एक पौधा लाकर उज्जैन में चम्बल नदी के किनारे नागदा नामक स्थान पर रोपण-संस्कार सम्पन्न किया है। यह कार्य गत श्रावण-पूर्णिमा को हुआ। उक्त अवसर पर उज्जैन के महिला-शिक्षण-विद्यापीठ की महिलाओं द्वारा एक भव्य जुलूस निकाला गया था। स्थान-स्थान पर बोधिवृक्ष के पौधे की आरती उतारी गई और पूजा हुई।

भिक्षु धर्मरत्न लन्दन बौद्ध समिति द्वारा आमन्त्रित—भारतीय महाबोधि-सभा के अँग्रेजी मासिक-पत्र 'महाबोधि' के सम्पादक भिक्षु धर्मरत्न एम० ए० लन्दन बुद्धिष्ट सोसाइटी की ओर से धर्म-प्रचारार्थ आमंत्रित हुए हैं। आप भारतीय महाबोधि सभा की ओर से धर्म-प्रचारक के रूप में लन्दन जायेंगे। इस समय आप सारनाथ में रह कर कुछ पालि ग्रंथों के अनुवाद-कार्य में संलग्न हैं। आप आगामी ३ नवम्बर को कोलम्बो से जहाज द्वारा लन्दन के लिए प्रस्थान करेंगे। हम आपकी इस ऐतिहासिक यात्रा की सफलता की हृदय से कामना करते हैं।

उज्जैन से प्राचीन बौद्धग्रन्थ प्राप्त—मध्य भारत की एक सरकारी विज्ञप्ति में बतलाया गया है कि उज्जैन के प्राच्य ग्रन्थालय के संग्रहालय में अनेक ऐतिहासिक ग्रन्थ संगृहीत हैं, जिनमें कुछ ग्रन्थ बौद्धकालीन हैं, जो १४०० वर्ष प्राचीन हैं। उन ग्रन्थों को देखने के लिए अब तक मध्यभारत-शासन ने कोई ध्यान नहीं दिया था, कारण यह था कि शासन व्यय-भार वहन करने में असमर्थ था।

मूलगन्ध कुटी विहार का २३ वाँ वार्षिकोत्सव—आगामी ७ नवम्बर, रविवार को उत्तर प्रदेश के सिंचाई तथा सूचना विभाग के मंत्री माननीय पं० कमलापति त्रिपाठी शास्त्री की अध्यक्षता में सारनाथ के मूलगन्ध कुटी विहार का २३ वाँ वार्षिकोत्सव मनाया जायेगा।

वार्षिकोत्सव के अवसर पर लंका, बर्मा, नेपाल और स्याम से काफी संख्या में बौद्धयात्री आयेंगे। अजमेर से भी कोलिय-बौद्धों के आने की आशा की जाती है।

इस अवसर पर अन्तर्राष्ट्रीय बौद्ध सम्मेलन, धार्मिक एवं सांस्कृतिक अभिनय, पवित्र अस्थियों का प्रदर्शन आदि विभिन्न कार्यक्रम भी रहेंगे। बनारस से सारनाथ पहुँचने के लिए बस-सर्विस तथा स्पेशल ट्रेन की भी सुविधा रहेगी।

८ नवम्बर को उत्तरप्रदेश के शिक्षा-विभाग के सभा-सचिव डा० सीताराम के सभापतित्व में महाबोधि कालेज एवं महाबोधि जे. टी. सी. ट्रेनिंग कालेज के वार्षिकोत्सव मनाये जायेंगे। उक्त अवसर पर एक वृहद् हरिजन सम्मेलन करने का भी आयोजन स्थानीय हरिजन सहायक अफसर तथा जिला नियोजन अधिकारी की ओर से किया जायेगा। छात्रों द्वारा खेल-कूद, नाटक आदि भी प्रदर्शित होंगे।

इस शुभावसर पर ग्रामीण जनता के लिए एक विराट विरहा-सम्मेलन भी होगा, जिसमें सभी ग्रामवासी विरहा-गायक कवि बौद्धधर्म तथा बुद्ध-जीवनी सम्बन्धी ग्राम्य-गीतें गायेंगे।

[शेष पृष्ठ १५६ के नीचे]

हिन्दी में बौद्धधर्म की पुस्तकें

प्रकाशक—भिक्षु एम० संघरत्न, महाबोधि सभा, सारनाथ, (बनारस)
मुद्रक—ओम प्रकाश कपूर, ज्ञानमण्डल यन्त्रालय, कबीरचौरा बनारस।